एकात्म मानवदर्शन के सिद्धांत एवं उसके व्यावहारिक प्रयोग

(पं. दीनदयाल उपाध्याय जन्मशती वर्ष के दौरान उनके चिंतन पर हुए विमर्श का संकलन)

एकात्म मानवदर्शन

दीनदयाल शोध संस्थान

Integral Humanism

भारत माता
॥ वन्दे मातरम् ॥
PAINTED BY
ABANINDRANATH
TAGORE, 1905

परम पूजनीय श्री गुरुजी (श्री माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर)

Param Pujniya Shri Guruji (Shri Madhavrao Sadashivrao Golwalkar)

दीनदयाल शोध संस्थान के दिल्ली स्थित भवन के लोकार्पण पर हवन में आहुति देते हुएः 20 अगस्त 1972

Dedicating the DRI Building in Delhi to the Nation on 20 August 1972

एकात्म मानवदर्शन के प्रणेता

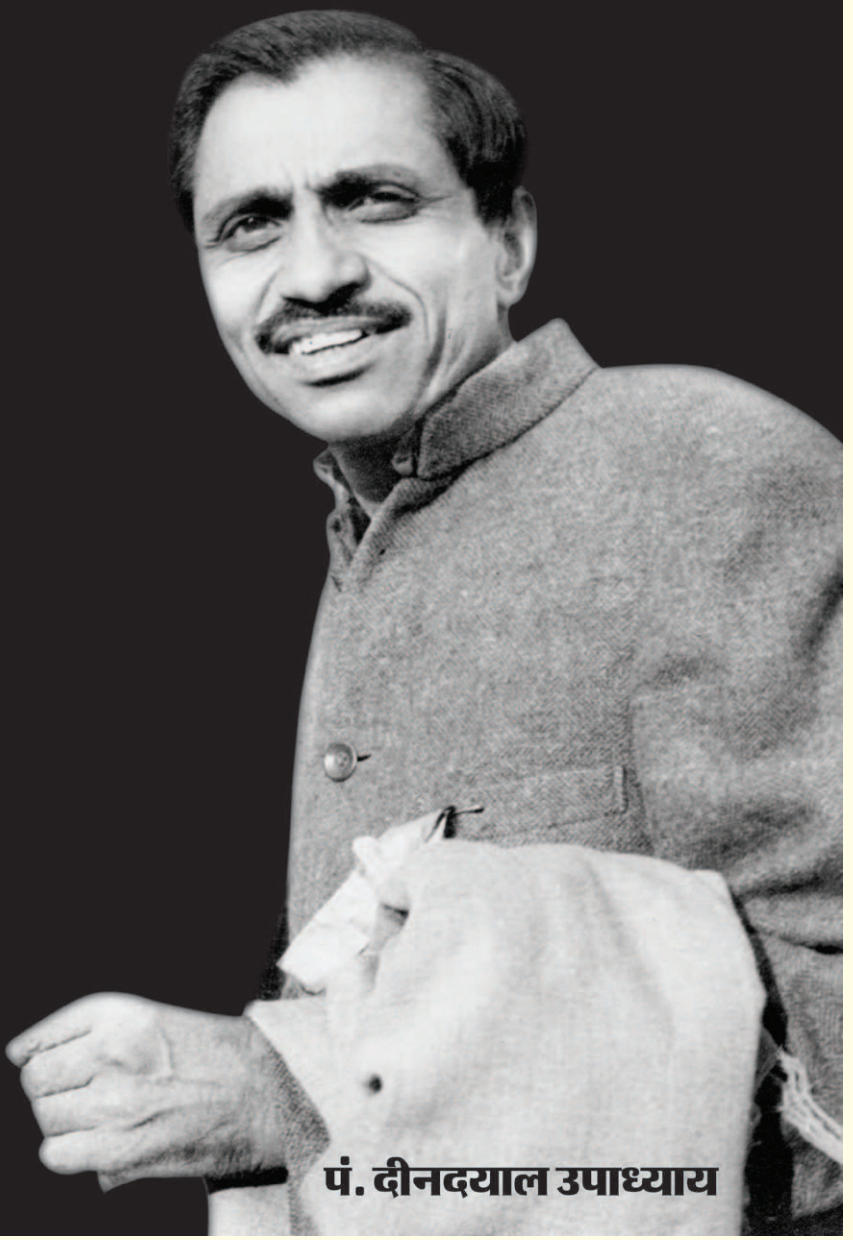

दीनदयाल शोध संस्थान

पं. दीनदयाल उपाध्याय

एकात्म मानवदर्शन के शिल्पकार

राष्ट्रऋषि नानाजी देशमुख

एकात्म मानवदर्शन

संपादक :

श्री अतुल जैन

प्रधान सचिव, दीनदयाल शोध संस्थान

दीनदयाल शोध संस्थान

7-ई, स्वामी रामतीर्थ नगर, रानी झांसी मार्ग, झण्डेवाला एक्सटेंशन, नई दिल्ली-110 055

दूरभाष : 011-23526735 ❖ ईमेल : dridelhi@dri.org.in

संस्थापक :

नानाजी देशमुख

संपादक :

श्री अतुल जैन

प्रबन्ध सम्पादक :

अमिताभ वशिष्ठ

आवरण सज्जा एवं लेआउट :

अंशुमान सिंह

पं. दीनदयाल उपाध्याय जनशताब्दी वर्ष में
संस्कृतिक मंत्रालय भारत सरकार के सहयोग से प्रकाशित

प्रकाशक :

दीनदयाल शोध संस्थान
7-ई, स्वामी रामतीर्थ नगर,
रानी झांसी मार्ग, झण्डेवाला एक्सटेंशन
नई दिल्ली-110 055
दूरभाष : 011-23526735
ईमेल : dridelhi@dri.org.in

Deendayal Research Institute
7-E, Swami Ramtirth Nagar
Rani Jhansi Road, Jhandewala Extn.
New Delhi-110 055
Phone : 011-2352 6735
E-mail : dridelhi@dri.org.in

मुद्रक :

ए.आर. प्रिंटर्स
ए-22, नारायण इण्ड. एरिया, दिल्ली-110 028

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ सं.
1.	**प्रस्तावना**	9
2.	**SDGs Table**	11
3.	**एकात्म भारत**	19
4.	**पुरुषार्थ**	20
5.	**दीनदयाल जी भाषण**	
	(क) 22 अप्रैल, 1965– राष्ट्रवाद की सम्यक् अवधारणा	25
	(ख) 23 अप्रैल, 1965– एकात्म मानववाद	32
	(ग) 24 अप्रैल, 1965– व्यष्टि, समष्टि-परमेष्ठि	43
	(घ) 25 अप्रैल, 1965– युगानुकूल अर्थ-रचना	60
6.	**चित्रावली**	73
7.	**दीनदयाल जी का एकात्म मानववाद**–डॉ. देवेंद्र स्वरूप	89
8.	**एकात्म मानव–भारतीय अवधारणा**–प.पू. एम.एस. गोलवलकर 'गुरुजी'	96
9.	**एकात्म मानवदर्शन-एक अध्ययन**–दत्तोपंत ठेंगड़ी	104
10.	**सामाजिक पुनर्रचना और प्रकृति की प्रतिष्ठा**–श्रद्धेय नानाजी देशमुख	120
11.	**एकात्म मानवदर्शन की अवधारणाएं**–रंगा हरि	135
12.	**अटूट अबाध क्रमः एकात्म मानवदर्शन**–के.एस. सुदर्शन	146
13.	**गांधी व दीनदयालः दो ऋषि**–डॉ. वाल्टर के. एंडरसन	150
14.	**हिंदुत्वः एक भू-सांस्कृतिक अवधारणा**–डॉ. मुरली मनोहर जोशी	157
15.	**दीनदयाल उपाध्याय की आर्थिक सोच**–डॉ. अमित कुमार मित्रा	160

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ सं.
16.	**एकात्म मानवदर्शनः भविष्य का दर्शन**–एस. गुरुमूर्ति	165
17.	**एकात्म मानवदर्शन के सन्दर्भ में विकास का भारतीय प्रतिमान** –डॉ. मोहन राव भागवत	180
18.	**सांस्कृतिक राष्ट्रवाद संदर्भः एकात्म मानवदर्शन** –सुरेश 'भय्याजी' जोशी	197
19.	**भारत का विकास और परंपरागत कारीगर**–सुरेश जी सोनी	207
20.	**भू-सांस्कृतिक राष्ट्रवाद**–दत्तात्रेय होसबाले	215
21.	**सिद्धांत शाश्वत हैं**–राम माधव	224
22.	**पर्यावरण और लोक संवेदी शिक्षा**–ओम प्रकाश कोहली	231
23.	**दिल और दिमाग में परिवर्तन लाना बहुत जरूरी**–कप्तान सिंह सोलंकी	236
24.	**राष्ट्रधर्म का दर्शन**–डॉ. कृष्णगोपाल	242
25.	**शाश्वत दर्शनः एकात्म मानवदर्शन**–वी. भागय्या	260
26.	**भू-सांस्कृतिक राष्ट्रवाद संदर्भः एकात्म मानवदर्शन**–डॉ. महेश चंद्र शर्मा	267
27.	**दीनदयाल जी का एकात्म अर्थचिन्तन**–बजरंग लाल गुप्ता	271
28.	**चित्रावली**	281

प्रस्तावना

एकात्म मानवदर्शन
सुशासन का देशज दर्शन

स्वतंत्र भारत अपने अमृतकाल के द्वार पर खड़ा है। और बाकी दुनिया दुविधा के दोराहे पर। प्रकृति-सम्मत समग्र चिंतन का उपासक भारत, सतत् विकास का रोल मॉडल बन कर उभर रहा है। और प्रकृति को शोषण का स्रोत मानने वाली पश्चिमी सभ्यता बगलें झांक रही है। साम्यवाद, समाजवाद, पूंजीवाद जैसे तंत्रों में उलझी व्यवस्थाएं या तो ध्वस्त होने लगी हैं या फिर आंतरिक अथवा बाहरी द्वंद्वों में फंसने लगी हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत के तत्कालीन नेतृत्व की ऐसी ही कुछ दुविधा थी। उसी समय इस महान देश के क्षितिज पर उदय हुआ था एक ऐसा चिंतक व विचारक जिसने देश को दिया एक कालजयी चिंतन। इसे दुनिया ने जाना एकात्म मानवदर्शन के नाम से। इसके जनक थे पंडित दीनदयाल उपाध्याय। हालांकि उन्होंने बार-बार यह दोहराया था कि उन्होंने इस चिंतन का सृजन नहीं किया। यह चिंतन तो भारत की ज्ञान परंपराओं में से ही उपजा था। इसलिए आज भी यह उतना ही प्रासंगिक है।

पंडित जी ने अपने छोटे से जीवनकाल में देश व दुनिया को एकात्म मानववाद का ऐसा सूत्र दिया जो आज पूरे विश्व में सर्वमान्य हो गया है। यह सूत्र था मनुष्य को टुकड़ों में बांटकर नहीं, उसे संपूर्ण मानव के रूप में देखना। उसके शरीर, मन, बुद्धि व आत्मा का समग्र चिंतन करना। संपूर्ण ब्रह्मांड को एकात्म भाव से देखना। सभी पंचभूतों - आकाश, धरती, जल, वायु, अग्नि, सबके संबंधों का सामंजस्यपूर्ण भाव से विचार करना तथा उसी अनुरूप व्यवहार करना। प्रकृति के प्रति सम्मान का भाव रखना तथा उसका संवर्धन करना।

आगे चलकर यह सूत्र एकात्म मानवदर्शन के नाम से प्रचलित हुआ। और इसके केंद्र में था मानव। पंडित जी का मानना था कि जिस तरह मनुष्य की आत्मा होती है, उसी तरह देश की भी आत्मा होती है। उसे उन्होंने कहा चिति। वे मानते थे कि भारत की आत्मा गांवों में बसती है। गांववासी ही देश की चिति का सही प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए देश का विकास करना है तो गांवों का सर्वांगीण विकास करना होगा। जिस समय उन्होंने यह चिंतन लिपिबद्ध किया उस समय वे सक्रिय राजनीति में थे। और देश के एक प्रमुख राजनैतिक दल के संगठनात्मक व वैचारिक मुखिया भी थे। देश की सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों का राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय संदर्भों में इतनी गंभीरता व विस्तार से अध्ययन किया कि उस समय के विशेषज्ञ भी चौंक गए थे।

अप्रतिम विचारक व चिंतक पंडित दीनदयाल उपाध्याय अपने व्याख्यानों से भारत के आमजन की आत्मा को हमेशा झकझोरते थे। वे कहते थे, स्वाभिमानी बनो। कैसे? अपने पुरुषार्थ से। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में निपुण बनकर। मन, बुद्धि, आत्मा, शरीर का संतुलन रखकर। अपनी ताकत पर भरोसा रखकर।

दुनिया की सबसे अधिक जनसंख्या वाले देश का समाज अपनी खोई हुई सभ्यतागत विशिष्टताओं को पुनः पाने के लिए प्रयासरत है। वह अपने इतिहास, संस्कृति, परंपराओं और अपनी गौरवशाली विरासत का स्मरण कराने वाली स्मृति से बहुत अधिक प्रेरित है। लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि हम अपने उत्थान, विकास आदि के मापदंड स्वयं तय करें। दीनदयाल जी कहते थे कि अंतरराष्ट्रीय संगठन और विदेशी एजेंसियां कौन होती हैं जो हमें बताएं कि हम विकसित हैं या नहीं, पढ़े-लिखे हैं या अनपढ़ हैं, स्वस्थ हैं या अस्वस्थ हैं? उन्होंने कहा था कि हमें अपना विकास मॉडल खड़ा करने के लिए अपने ही मापदंड गढ़ने होंगे, नहीं तो वे लोग अपना एजेंडा हम पर थोपते रहेंगे। ऐसा हमने सच होते हुए देखा है।

पंडित जी के सखा व सहचर नानाजी देशमुख ने उनकी मृत्य के तत्काल बाद, मार्च 1968 में ही दीनदयाल शोध संस्थान की स्थापना की। पहले बौद्धिक स्तर, और फिर पंडित जी के एकात्म मानवदर्शन को जमीनी धरातल पर उकेरने का प्रयास किया। संस्थान के बारे में इस प्रकाशन में अन्यत्र संक्षिप्त जानकारी है।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय के जन्मशताब्दी वर्ष में उनके विचारों को वर्तमान संदर्भो में देखने का सुअवसर मिला। उन्हें इन संदर्भों में रखने तथा समग्र व व्यापक दृष्टिकोण देने के साथ आमजन को समझाने के लिए दीनदयाल शोध संस्थान ने एकात्म मानवदर्शन के मूर्धन्य उपासकों से निवेदन किया। देशभर में 100 से अधिक स्थानों पर इन चिंतक-उपासकों के व्याख्यान आयोजित किए। इनमें से कुछ चुनींदा व संपादित व्याख्यान देश के सुधिजनों के समक्ष इस आशा के प्रस्तुत किए जा रहे हैं कि वे अपने महान भारत की आत्मा से स्वयं को एकात्म कर सकेंगे। इस संकलन के प्रारंभ में पंडित जी के वे चार व्याख्यान भी हैं जिनमें उन्होंने एकात्म मानवदर्शन को अपने शब्दों में अभिव्यक्त किया था। इसमें संस्थान द्वारा 1992 में प्रकाशित संकलन से भी कुछ चुनिंदा लेख आदि लिए गए हैं, तथा उस प्रकाशन की भूमिका भी सम्मिलित की गई है ताकि उसके संदर्भों को समग्रता से समझा जा सके।

संस्थान उन सभी महानुभावों के प्रति अपनी कृतज्ञता सादर ज्ञापित करता है जिनके व्याख्यान इसमें संकलित हैं।

अतुल जैन

संपादक

Sustainable Development Goals Vis-à-vis Integral Humanism and the Responsibility of the Society

S.N.	SDGs as Adopted by UN	SDGs as Reflected in Integral Humanism	Flagship Programs of Government of India	Responsibility of the Society
1.	**Goal I.** End poverty in all its forms everywhere	**देश का दारिद्रय दूर होना चाहिए इसमें कोई दो मत नहीं।' गरीबी केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था का दुष्परिणाम है।** We must have such an economic system that helps in the development of our humane qualities or civilisation, and enable us to attain a still higher level of all-round perfection. We should have a system which does not overwhelm our humane quality, which does not make us slaves of its own grinding wheels. The true indicator of progress is not an increase in the wealth of rich but availability of basic amenities and comforts to the poor.	***Income Schemes:*** Mahatma Gandhi National Rural Employment Guarantee Scheme (MGNREGA) Deen Dayal Antyodaya Yojana (DAY)- National Rural Livelihood Mission (NRLM) and National Urban Livelihood Mission (NULM) ***Social Security Schemes:*** National Social Assistance Programme (NSAP) Pradhan Mantri Jan Dhan Yojana (PMJDY) Pradhan Mantri Jeevan Jyoti Bima Yojana Atal Pension Yojana	According to our concept, man attains God-like perfection as a result of development. Therefore, we have to devise such an economic system, to create such infrastructure and to frame such regulations, in which and by which, the inherent potentialities of man may find their highest fulfillment.
2.	**Goal 2.** End hunger, achieve food security and improved nutrition and promote sustainable agriculture	**बुभुक्षितः किम न करोती पापम्। क्षीणा नरा निष्करूणा भवंति।।** Our slogan should be that the one who earns will feed, and every person will have enough to eat. The right to food is a birthright. The ability to earn is a result of education and training. In a society, even those who do not earn must have food. The children and the old, the diseased and the invalids, all must be cared for by society. Every society generally fulfils this responsibility. The social and cultural progress of mankind lies in its readiness to fulfil this responsibility. The economic system must provide for this responsibility. The economic system must provide for this task. Economics as a science does not account for this responsibility. A man works not for bread alone, but also to shoulder this responsibility. Otherwise, those who have had their meals would no longer work.	***Food Security & Nutrition:*** National Food Security Mission National Nutrition Mission (NNM) Mid-Day Meal Scheme ***Sustainable Agriculture:*** National Mission on Sustainable Agriculture National Mission on Oilseed and Oil Palm National Mission on Agriculture Extension and Technology Rashtriya Krishi Vikas Yojana (RKVY) Mission for Integrated Development of Horticulture National Livestock Mission Livestock Health and Disease Control National Programme for Bovine Breeding and Dairy Development	"Chemical fertilizers do increase the productivity for some time, but later, as compared to the expenditure incurred, the production starts decreasing. Everybody Self reliance amongst farmers is the corner stone of democracy, steadfast on this principle, it is appropriate to conduct the experiments and introduce the reforms in the agriculture system. Sustaining the fertility of the arable land is the guarantee to a prosperous present and a resplendent future. Natural process of evolution of crops is organic, thus the organic manure is the natural supplement of arable land. In India, agriculture is not looked upon as only a means of earning. Agriculture is not the merely a matter of personal profit or loss. It is considered to be the life line for whole mankind. We consider society everlasting and accordingly regard agriculture as a sustainable system. To sustain agriculture forever is therefore our mission. This has been a special feature of our agriculture policy. According to this approach, Indian agriculture has developed through the ages, and the productivity of our agricultural land has been preserved.

S.N.	SDGs as Adopted by UN	SDGs as Reflected in Integral Humanism	Flagship Programs of Government of India	Responsibility of the Society
3.	**Goal 3.** Ensure healthy lives and promote well-being for all at all ages	**'योगक्षेमम् वहाम्यहम्'** Medical treatment also should be free as it was in this country in the past. The society should guarantee to all its members, minimum requirements for maintenance and progress of every individual.	***National Missions:*** National Health Mission including NRHM National Mission on Ayush including Mission on Medical Plants National AIDS & STD Control Programme Mission Indradhanush ***Supportive Schemes:*** Pradhan Mantri Swasthya Suraksha Yojana (2006) Integrated Child Development Service (ICDS) National Health Protection Schemes	The key to lifelong health lies in maintaining a subtle balance between body, mind, intellect and soul — the four aspects of human life. To achieve this, it is important to establish a model that puts this theory into practice. India's two ancient Shastras (sciences), Yoga (including Naturopathy) and Ayurveda, provide pointers to finding an alternative path, as their main goal has always been the maintenance of lifelong health. These Shastras do not treat the body in isolation, but treat it as a part of a psycho-physical-intellectual-spiritual continuum. Developing a system of medicine that combines the wisdom of our Shastras with modern science will give us a framework for sustainable and livelong health. In the event of an individual falling prey to any disease, society must arrange for his treatment and maintenance. If a government provides these minimum requirements, then only it is a rule of Dharma.
4.	**Goal 4.** Ensure inclusive and equitable quality education and promote lifelong learning opportunities for all	**"शालेय शिक्षा अकेली मनुष्य का निर्माण नहीं करती, संस्कार और अध्यापन का बहुत सा क्षेत्र है जो शालेय क्षेत्र के बाहर है।"** Any economic system must provide for the minimum basic necessities of human life to everyone. Food, clothing and shelter constitute, broadly speaking, these basic necessities. Similarly, society must enable the individual to carry out his obligations to society by educating him properly.	***School Education & Literacy:*** Sarva Shiksha Abhiyan Rashtriya Madhyamik Shiksha Abhiyan National Programme Nutritional Support to Primary Education (MDM) Padhe Bharat Badhe Bharat Scheme for providing quality education to Madrasas, Minorities and Disabled Umbrella Scheme for Education of STs National Scheme for Incentive to Girl Child for Secondary Education ***Tertiary Education:*** Rashtriya Uchchatar Shiksha Abhiyan Support for Educational Development including Teachers Training & Adult Education Kala Sanskriti Vikas Yojana SWAYAM (Study Webs of Active-Learning for Young Aspiring Minds)	To educate a child is in the interest of society itself. By birth, a child is an animal. He becomes a responsible member of society only by education and culture. To charge fees for something which is in the interest of society itself, is rather odd. If due to their inability to pay the fees, children are left without an education, will the society be able to endure this situation for long? We do not charge fees from trees for sowing the seed and caring for the sapling. On the contrary, we invest our money and efforts. We know that when the tree grows, we shall reap fruits. Education is a similar investment. An educated individual will indeed serve society. Before 1947, in all the princely states in India, no fees were charged for education. The highest education was free. In the Gurukuls, even food and lodging were arranged without any charge. The student used to go to society for Bhiksha. No householder would refuse Bhiksha to the student. In other words, society used to bear the burden of education. A mutually complementary conduct among the families, teachers and the influential citizens is the essence of a proper development of children. Ability to develop livelihood capabilities should not be the sole purpose of education. The core of any educational system should be to accomplish the inculcation of the humane qualities in the students. To generate the sense of self reliance and social responsibility is the fundamental duty of the parents.

S.N.	SDGs as Adopted by UN	SDGs as Reflected in Integral Humanism	Flagship Programs of Government of India	Responsibility of the Society
5.	**Goal 5.** Achieve gender equality and empower all women and girls	"अर्धनारीश्वर" Developing a civil society is impossible without educating the mothers. Marriage is the auspicious occasion of the beginning of social life; it's not merely a celebration of the union between a boy and girl. The family is the basic unit of the society. It is also the forebearer of the members of the society. Thus, it is obligatory on the part of the family to inculcate the sense of social responsibility in its children.	***Saving Girl Child & Maternity Support:*** Beti Bachao Beti Padhao Janani Suraksha Yojana (JSY) ***Education & Empowerment:*** Sukanya Samridhi Yojana (Girl Child Prosperity Scheme) Kasturba Gandhi Balika Vidyalay Scheme Rajiv Gandhi Scheme for Empowerment of Adolescent Girls (SABLA) ***Social Security Schemes:*** SWADHAR 2011 (A scheme for women in difficult circumstances)	"Unless a harmonious environment is created in the family, school and locality for mutual complementarity, in harmony with the development of all children, children will not be able to nurture an abiding respect towards each and every human, regardless of gender." ***– Nanaji Deshmukh*** Marriage is a social ceremony wherein two persons become one by complementing each other. Their "I's" merge to become "We" and they resolve to march towards an equal and holistic relationship by adhering to humanitarian traditions." ***– Nanaji Deshmukh***
6.	**Goal 6.** Ensure availability and sustainable management of water and sanitation for all	प्राकृत जल प्रवाहों का समुचित उपयोग To increase agricultural production, Irrigation Management is a must. Rain water can only provide required water for the kharif crop. Now a days even rain water is not regularly available. The pumping of ground water has increased at an alarming rate, and recharging of the ground water has been neglected. As a result, the water table in the country is rapidly decreasing. Wells in the villages are going dry. That is why in many villages, drinking water has become a serious problem. Rain water is wasted every year. The tradition of preserving rain water has almost vanished. Rain water is no longer added to the ground water. In old times, generally every village had ponds which were used to recharge the ground water. Now they are drying up. Many lakes have been brought under cultivation. Because of the lack of recharging the ground water with rain, the water table is receding very fast. Serious attention has to be given to this problem. The means of irrigation have to be managed indigenously at the local level. This would make the farmers self sufficient, the crops would be irrigated in time, the productivity would increase, and the groundwater table would be preserved.	***Water:*** National Rural Drinking Water Programme (NRDWP) Pradhan Mantri Krishi Sinchai Yojna (PMKSY) – Integrated Watershed Management Programme (IWMP) Namami Gange – Integrated Ganga Conservation Mission Inter-linking of Rivers Programme ***Sanitation:*** Swachh Bharat Mission (SBM) Urban Swachh Bharat Mission – Gramin (SBM- G)	Traditional methods of Watershed Management implemented by the villagers themselves is the only way to ensure sustainable water management.

S.N.	SDGs as Adopted by UN	SDGs as Reflected in Integral Humanism	Flagship Programs of Government of India	Responsibility of the Society
7.	**Goal 7.** Ensure access to affordable, reliable, sustainable and modern energy for all	**ऊर्जा भक्षी प्रक्रियाओं को श्रमाधारित करने की आवश्यकता**	***Power:*** Deen Dayal Upadhyaya Gram Jyoti Yojana Pradhan Mantri Ujjwala Yojana (PMUY) - LPG Connection to BPL families Power (2015) – Electrification of the remaining 20,000 villages including offgrid Solar Power by 2020 Five new Ultra Mega Power Projects, each of 4000 MW to be installed National Solar Mission – providing continuous power supply to rural India Ujjwal DISCOM Assurance Yojna (UDAY)	
8.	**Goal 8.** Promote sustained, inclusive and sustainable economic growth, full and productive employment and decent work for all	**विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था एवं स्वदेशी से ही यह संभव है।** The guarantee of work to every able-bodied member of society should be the aim of our economic system. God has given hands to every man, but hands by themselves have a limited capacity to produce. They need the assistance of capital in the form of machines. Labour and capital bear the same relation to each other as that between man and nature. The world is a creation of these two. Neither of them can be neglected. An equitable and prosperous society cannot be developed by huge automated industries but by abundant production by multiple hands.	***Skill Development and Entrepreneurship:*** Deen Dayal Upadhyaya Antyodaya Yojna Skill Development Mission Mudra Yojana Deen Dayal Upadhyay – Gramin Kaushalya Yojna (DDU-GKY) Social Security for Unorganised Workers including Rashtriya Swastya Bima Yojana Pradhan Mantri Kaushal Vikas Yojna Rashtriya Yuva Sashaktikaran Karyakram ***Decent Work:*** Pradhan Mantri Rojgar Protsahan Yojna	The objectives of our economy should be:- 1. An assurance of the minimum standard of living to every individual and preparedness for the defence of the Nation. 2. Further increase above this minimum standard of living whereby the individual and the Nation acquire the means to contribute to world progress on the basis of its own Chiti. 3. To provide meaningful employment to every able-bodied citizen, by which the above two objectives can be realised, and to avoid waste and extravagance in utilising natural resources. 4. To develop machines suited to Bharatiya conditions (Bharatiya technology), taking note of the availability and nature of the various factors of production (Seven Ms - man, material, money, management, motive power, market and machine). 5. This system must help, and not disregard the human being - the individual. It must protect the cultural and other values of life. This is a requirement which cannot be violated except at the risk of great peril. 6. The ownership, state, private or any other form, of various industries must be decided on a pragmatic and practical basis.

S.N.	SDGs as Adopted by UN	SDGs as Reflected in Integral Humanism	Flagship Programs of Government of India	Responsibility of the Society
9.	**Goal 9.** Build resilient infrastructure, promote inclusive and sustainable industrialization and foster innovation	**लघु एवं कुटीर उद्योगोधारित औद्योगीकरण।** A system has to be evolved, in the context of modern science and technological progress, so that our moral values, education, health, governance, entrepreneurship, literature and arts etc. are reflected in every facet of society. Otherwise, consumerism born out of modern industrial culture would decimate our humanitarian traditions." ***– Nanaji Deshmukh***	***Industrialisation:*** Make in India ● Start Up India Pt. Deendayal Upadhyaya Shramev Jayate Karyakram National Handloom Development Programme Catalytic Development Programme ***Infrastructure:*** Pradhan Mantri Gram Sadak Yojana (PMGSY) Pradhan Mantri Awas Yojana (Housing for All - Urban) Pradhan Mantri Gramin Awaas Yojna (PMAY-G) Smart City Mission Atal Mission for Rejuvenation and Urban Transformation (AMRUT) Jal Marg Vikash Project Sagarmala Project Border Area Development Programme ***Innovation:*** Digital India – Public Internet Access Programme – providing Common Service Centre in each Gram Panchayat Digital India Land Record Modernisation Programme (NLRMP)	
10.	**Goal 10.** Reduce inequality within and among countries	**'स्वदेशी से स्वावलम्बन तथा स्वावलम्बन से परस्परावलंम्बन'** Paucity or excess of wealth, both engender depravity.	Stand-up India Multi Sectoral Development for Minorities Backward Regions Grant Fund (District component) (ACA) (M/o PR/M/o Finance) Scheme for Development of Scheduled Castes Scheme for Development of Other Backward Classes and Denotified, Nomadic and Semi-nomadic Tribes. Scheme for development of Economically Backward Classes Grants from Central Pool of Resources for North Eastern Region and Sikkim Udaan Scheme for youth of Jammu & Kashmir PAHAL- Direct Benefit s Transfer for LPG(DBTL) consumers scheme	
11.	**Goal 11.** Make cities and human settlements inclusive, safe, resilient and sustainable	**'ग्रामों से पलायन रोकना जरूरी है। ग्रामोद्योगोधारित औद्योगीकरण'।** It would be impractical to imagine prosperous cities without having healthy and prosperous villages. ***– Nanaji Deshmukh***	Pradhan Mantri Adarsh Gram Yojana Smart Cities Mission Pradhan Mantri Awas Yojana Atal Mission for Rejuvenation and Urban Transformation Heritage City Development and Augmentation Yojana Jawaharlal Nehru National Urban Renewal Mission	

S.N.	SDGs as Adopted by UN	SDGs as Reflected in Integral Humanism	Flagship Programs of Government of India	Responsibility of the Society
12.	**Goal 12.** Ensure sustainable consumption and production patterns	**'उत्पादन में वृद्धि, वितरण में समता तथा उपभोग में संयम'।** Having satisfied the basic minimum requirements, the question naturally arises whether there should be more production for greater prosperity and happiness. Western societies consider it most essential, and even desirable, to go on continuously and systematically increasing the desires and needs of man. There is no upper limit in this context. Normally, desire precedes the effort to produce the things desired. But now the position is reverse. People are induced to desire and use the things that have been or are being produced. Instead of producing to meet the demand, the search is on for markets for the goods already produced. If the demand does not exist, systematic efforts are made to create demand. Now this economic structure is not merely consumption-oriented, but is clearly leading to destruction. Throw away the old one, and buy a new one! Rather than satisfying the need and demand of the people, to create fresh demand has become the aim of modern economics. Supposing that we need not worry about the limited supply of natural resources, there is yet the question of balance in nature. There is a cyclic relationship in different parts of nature. If one of the three sticks, which stand with mutual support, is removed, the other two will automatically fall. The present economic system and system of production are fast disturbing this equilibrium of nature. As a result, on the one hand, new products are manufactured for satisfying ever increasing desires, and on the other hand, new problems arise every day, threatening the very existence of humanity and civilisation.	National Policy on Bio-fuels National Clean Energy Fund Renewable Energy: Renewable Energy Global Investment Promotion Meet and Expo Soil Health Card Scheme	It is essential, therefore, to use up that portion of the available natural resources which nature itself will be able to recoup easily. When the fruits are taken, the fruit tree is not injured; it may even be helpful to the tree. However, in the effort to take a greater harvest from the land, chemical fertilisers are used, which in a few years' time, will render the land altogether infertile. Lakhs of acres of land lie barren in America due to this factor. How long can this dance of destruction go on? The industrialist provides for a depreciation fund to replace machines when they are worn out. Then how can we neglect the depreciation fund for nature? From this point of view, it must be realised that the object of our economic system should not be to make extravagant use but a well-regulated use of available resources. The physical objects necessary for a purposeful, happy and progressive life must be obtained. The Almighty has provided that much. It will not be wise, however, to engage in a blind rat-race of consumption and production as if man is created for the sole purpose of consumption. Engine needs coal for its proper working, but it has not been produced merely to consume coal. On the contrary, it is only proper, always, to see that with the minimum coal consumption, maximum energy is produced. This is the economic viewpoint. Keeping in view the aim of human life, we must endeavour to see how, with the minimum of fuel, man proceeds to his goal with the maximum speed. Such a system alone can be called civilisation. This system will not think of merely a single aspect of human life, but of all its aspects, including the ultimate aim. This system will be constructive rather than destructive. This system will not thrive on the exploitation of nature, but will sustain nature, and will in turn itself be nourished. Milking, rather than exploitation, should be our aim. The system should be such that overflow from nature is used to sustain our lives. Reaching the pinnacle in productivity and observing restrain in consumption is the true meaning of one's life indicating the prosperity in society.

S.N.	SDGs as Adopted by UN	SDGs as Reflected in Integral Humanism	Flagship Programs of Government of India	Responsibility of the Society
13.	**Goal 13.** Take urgent action to combat climate change and its impacts	**'प्रकृति का शोषण नहीं दोहन'।** Progressive technology is the one which eradicates unemployment, reduces disparity and cuts down the pollution.	National Action Plan on Climate Change National Mission for a Green India National Mission for Sustainable Agriculture National Mission on Strategic knowledge for Climate Change National Mission for Enhanced Energy Efficiency National Water Mission National Mission for Sustaining the Himalayan Ecosystem National Mission for Sustainable Habitat	
14.	**Goal 14.** Conserve and sustainably use the oceans, seas and marine resources for sustainable development	**भूमि, जल, आकाश, प्रकाश एवं वायु ये पंचमहाभूत हैं। इनकी क्रिया को बिना हस्तक्षेप के समझना चाहिये तथा व्यवहार करना चाहिये।**	National Plan for Conservation of Aquatic Eco-system Neel Kranti Mission (Blue Revolution); Integrated Development and Management of Fisheries	
15.	**Goal 15.** Protect, restore and promote sustainable use of terrestrial ecosystems, sustainably manageforests, combat deseltification, and halt and reverse land degradation and halt biodiversity loss	**'अदेव मातृका कृषि' एवं जैविक खेती।** The process of reconstruction of a nation must begin from rural quarters because here exists the basis of life and the source of natural resources and also this is the natural order of evolution.	National Afforestation Programme (National Mission for a Green India) Integrated Developemnt of Wild Life Habitats Project Tiger National Action Programme to Combat Desertification	"Our Indian civilization is unique. It nurtures the capacity for gratitude in humanity. Indian tradition thus venerates all beneficial elements. He reveres the god-like Himalayas, the goddess-like River Ganga, the life-giving Mother Earth and the bountiful cow. The exploitation of nature for man's own selfish ends is thus not a part of Indian tradition. Rather man considers himself a child of nature, who makes his mother happy by growing strong on her milk. Tradition has imbued the farmer with a deep-rooted love for his land. Nurtured on the treasures he gets from his land, he works hard to maintain its fertility." ***– Nanaji Deshmukh***

S.N.	SDGs as Adopted by UN	SDGs as Reflected in Integral Humanism	Flagship Programs of Government of India	Responsibility of the Society
16.	**Goal 16.** Promote peaceful and inclusive societies for sustainable development, provide access to justice for all and build effective, accountable and inclusive institutions at all levels	**सत्ता एवं वित्त का विकेन्द्रीकरण** Rituals do not constitute "Dharma" they merely conform to a faith or a sect. "Dharma," verily means discharging one's duties honestly and effectively.	Panchayat Yuva Krida aur Khel Abhiyan (pykka) Development of Infrastructure Facilities for Judiciary including Gram Nyayalayas Pragati Platform (Public Grievance Redressal System) Integrated Child Protection Scheme Modernisation of Police Forces	Democracy does not mean a government arbitrarily run by elected representatives; verily it is the active participation of the people in reconstruction of a nation. Integral Humanism is the name we have given to the sum total of various features of Bharatiya Sanskriti, abiding, dynamic, synthesising and sublime. This is the ideal which determines our direction. But our idealism does not mean any doctrinal obtuseness. An ideal has to be translated into practice. Our programme, therefore, has to be grounded in realism. Indeed realism, is the forte of our programme, the measure of our achievements and the touchstone of our ideal.
17.	**Goal 17.** Strengthen the means of implementation and revitalize the global partnership for sustainable development	**स्वरोजगार को बढ़ावा। सहकारिता एवं पंचायत प्रणाली की पुनर्स्थापना।** "The Indian maxim of Vasudeva Kutumbakam, which means 'The whole world is a family', and SarveBhavantu Sukhinah (Happiness for All) should be the basis of our International relations, to ensure an equitable and sustainable relationship." ***– Nanaji Deshmukh***	***Finance:*** Goods and Services Tax FDI Policy ***Trade:*** Foreign Trade Policy ***Technology:*** Digital India	

एकात्म भारत

विश्व में आज समष्टि की सबसे बड़ी इकाई 'राष्ट्र' है। अतः राष्ट्र की दृष्टि से भी विचार करें तो राष्ट्र के लिए चार बातों की आवश्यकता रहती है। **प्रथम व्यवस्था है**—देश। देश भूमि और जन-दोनों को मिलाकर बनता है। केवल भूमि ही देश नहीं। किसी भूमि पर एक जन (समाज) रहता हो और वह उस भूमि को माँ के रूप में पूज्य समझे। तभी वह देश कहलाता है। जैसी दक्षिणी ध्रुव में कोई नहीं रहता, तो वह देश नहीं है किन्तु भारत में हम रहते हैं। हम इसे माँ मानते हैं। इसलिए यह देश है। **दूसरी आवश्यकता है**-सबकी इच्छाशक्ति, यानि सामूहिक जीवन का संकल्प। **तीसरी व्यवस्था**-जिसे नियम या संविधान कह सकते हैं। इसके लिए हमारे यहाँ सबसे अच्छा शब्द प्रयुक्त हुआ है 'धर्म' और **चौथी व्यवस्था है** जीवन-आदर्श अर्थात् संस्कृति। इन चारों का समुच्य यानि 'राष्ट्र।' जिस प्रकार शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के समुच्य से व्यक्ति बनता है, उसी प्रकार देश, संकल्प, धर्म और आदर्श के समुच्य से 'राष्ट्र' बनता है। यदि हम इसका एक चित्र बनाएं तो वह चित्र एक घन (Cube) की आकृति का बन जाएगा, जो इस प्रकार का होगा।

—दीनदयाल उपाध्याय

एकात्म मानवदर्शन : व्यष्टि-समष्टि समन्वय
Integral Humanism : Homogeneity of Individual & Society

पुरूषार्थ

चारों पुरूषार्थों का समग्र विचार

''विदुरजी ने कहा–अर्थ बंधनकारक है, धर्म बंधनकारक है तथा काम तो बंधनकारक है ही। सबसे बड़ी वस्तु है मोक्ष। मोक्ष प्राप्ति के बाद कुछ भी पाना शेष नहीं रहता, फिर कोई कामना भी नहीं रहती। इसलिए निष्काम भाव से मोक्ष पा लेना यही सबसे बड़ा पुरूषार्थ है। विदुर के इस विवाद का अंत युधिष्ठिर ने किया। उन्होंने कहा कोई भी पुरूषार्थ बड़ा नहीं है। चारों को एक साथ लेकर चलना ही पुण्य है। एक को पाने का प्रयत्न अधूरा है और एक को प्राप्त करने का प्रयास करने वाला पापी भी है। एक का विचार करना मानव के टुकड़े करना है, किन्तु यह सही है कि मानव जीवन के टुकड़े नहीं किए जा सकते, अतः चतुर्थ पुरूषार्थों का एकात्म व समग्र विचार करना आवश्यक है।''

–दीनदयाल उपाध्याय

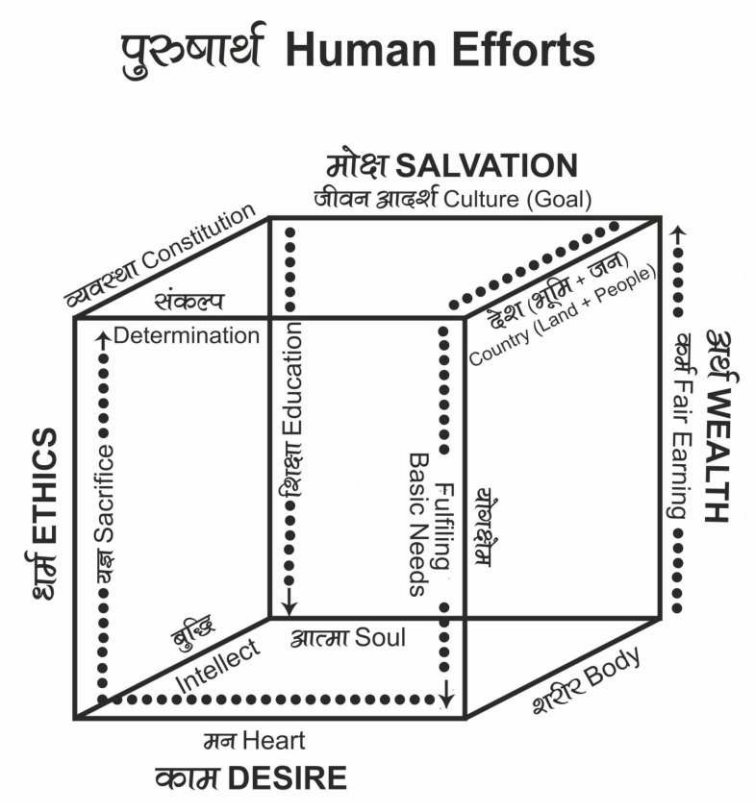

संगोष्ठी, इंडिया इंटरनेशनल सेंटर, नई दिल्ली – 22 अप्रैल 2017

विषयः दीनदयाल जी द्वारा 22 अप्रैल 1965 को मुंबई में दिए भाषण का वाचन एवं परिचर्चा

संगोष्ठी, इंडिया इंटरनेशनल सेंटर, नई दिल्ली – 23 अप्रैल 2017

विषयः दीनदयाल जी द्वारा 23 अप्रैल 1965 को मुंबई में दिए भाषण का वाचन एवं परिचर्चा

संगोष्ठी, इंडिया इंटरनेशनल सेंटर, नई दिल्ली – 24 अप्रैल 2017

विषयः दीनदयाल जी द्वारा 24 अप्रैल 1965 को मुंबई में दिए भाषण का वाचन एवं परिचर्चा

संगोष्ठी, इंडिया इंटरनेशनल सेंटर, नई दिल्ली – 25 अप्रैल 2017

विषयः दीनदयाल जी द्वारा 25 अप्रैल 1965 को मुंबई में दिए भाषण का वाचन एवं परिचर्चा

राष्ट्रवाद की सम्यक् अवधारणा

(बंबई, 22 अप्रैल, 1965)

अंग्रेजों के शासनकाल में देश में जितने भी आंदोलन चले और देश की जितनी भी राजनीति चलती रही, उन सबका एक ही लक्ष्य था कि अंग्रेजों को हटाकर हम स्वराज्य प्राप्त करें। स्वराज्य के बाद हमारा रूप क्या होगा? हम किस दिशा में आगे बढ़ेंगे? इसका बहुत कुछ विचार नहीं हुआ था। 'बहुत कुछ' शब्द का मैंने प्रयोग इसलिए किया है कि 'बिल्कुल विचार नहीं हुआ था', यह कहना ठीक नहीं होगा। ऐसे लोग थे, जिन्होंने उस समय भी बहुत सी बातों पर विचार किया था। स्वयं गांधीजी ने 'हिंद स्वराज्य' लिखकर उसमें स्वराज्य आने के बाद भारत का चित्र क्या होगा-इस पर अपने विचार रखे थे। उसके पहले लोकमान्य तिलक ने भी 'गीता रहस्य' लिखकर, संपूर्ण आंदोलन के पीछे की तात्विक भूमिका क्या होगी-इसका विवेचन किया था। साथ ही उस समय विश्व में जो भिन्न-भिन्न विचार सारणियाँ चल रही थीं, उनकी भी तुलनात्मक दृष्टि से आलोचना की थी।

इसके अतिरिक्त समय-समय पर कांग्रेस या दूसरे राजनीतिक दलों ने जो प्रस्ताव स्वीकार किए, उनमें भी ये विचार प्रकट हुए थे। किंतु उन सबका जितना गंभीर अध्ययन होना चाहिए था, उतना उस समय तक नहीं हुआ था, क्योंकि सबके सामने प्रमुख प्रश्न यही था कि पहले हम अंग्रेजों को निकालें, फिर अपने घर का निर्माण कैसे करेंगे, इसका विचार कर लेंगे। इसलिए यदि विचारों के मतभेद भी कहीं थे तो लोगों ने उनको दबाकर रखा था। यहां तक कि समाजवाद के आधार पर आगे का भारत बनना चाहिए, इस तरह का विचार करने वाले जो लोग थे, वे कांग्रेस के अंदर ही एक सोशलिस्ट पार्टी बनाकर काम करते रहे। उसके बाहर निकलकर उन्होंने अलग से कार्य करने का प्रयत्न नहीं किया। क्रांतिकारी भी अपने-अपने विचारों के अनुसार स्वराज्य के लिए काम करते थे। इसी प्रकार और भी लोग थे, किंतु प्रमुखता इसी बात की रही कि पहले देश को स्वतंत्र कर लिया जाए। अतः देश स्वतंत्र होने के बाद स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न हम सब लोगों के सामने आना

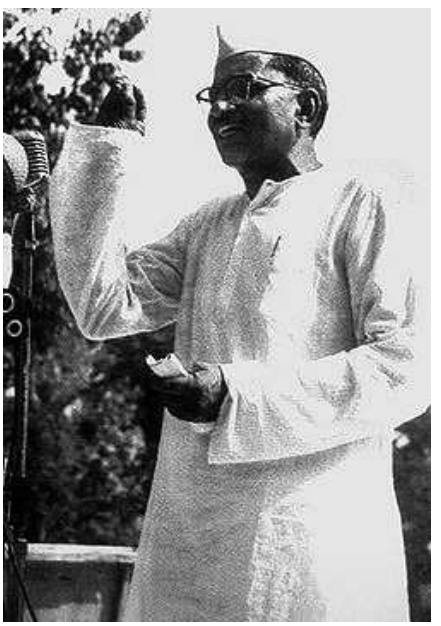

चाहिए था कि अब हमारे देश की दिशा क्या होगी? किंतु सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि देश की स्वतंत्रता के बाद भी, जितने गंभीर रूप से इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए था, उतने गंभीर रूप से लोगों ने विचार नहीं किया और आज भी 16-17 वर्ष देश को स्वतंत्र हुए हो गए, हम यह नहीं कह सकते कि कोई दिशा निश्चित हो गई है।

भारत किधर जानेवाला है?

समय-समय पर कांग्रेस या दूसरे दल के लोगों ने कल्याणकारी राज्य, समाजवाद, उदारमतवाद आदि का ध्येय अवश्य घोषित किया है, विविध नारे लगाए हैं, परंतु ये जितने नारे लगाने वाले लोग हैं, उनके सामने उन सब विचारधाराओं का नारे से अधिक कोई महत्व नहीं रहा। यह बात मैं इसलिए कह रहा हूं कि इसका मुझे अनुभव है। एक बार एक सज्जन से बातचीत हो रही थी।

वे कह रहे थे कि कांग्रेस के विरुद्ध मिलजुलकर हमें एक मोर्चा बनाना चाहिए, ताकि अच्छी तरह से लड़ सकें। राजनीतिक दृष्टि से समय-समय पर इस प्रकार की नीतियाँ लेकर दल चलते हैं और इसलिए उनके प्रस्ताव में कोई अनुचित बात नहीं थी, किंतु बात करते-करते मैंने सहज पूछ लिया, ''हम लोग मोर्चा तो शायद बना लेंगे, परंतु थोड़ा-बहुत कार्यक्रम पर भी विचार कर लिया जाए तो बहुत अच्छा होगा। कौन सा आर्थिक कार्यक्रम लेकर चलें? कौन सा राजनीतिक कार्यक्रम लेकर चलें? इन प्रश्नों पर भी विचार करना चाहिए।''

इस पर उन्होंने सहज भाव से कह दिया कि इसकी कोई चिंता करने की आवश्यकता नहीं है, आपको जो पसंद हो, स्वीकार कर लीजिए। हम तो घोर साम्यवादी कार्यक्रम से लेकर बिल्कुल पूँजीवादी कार्यक्रम तक, जो आप चाहें, उसका समर्थन कर देंगे। उनको किसी भी कार्यक्रम में कोई आपत्ति नहीं थी। उद्देश्य केवल इतना ही था कि किसी-न-किसी प्रकार से कांग्रेस को हरा देना चाहिए। आज भी बहुत बार लोग कहते हैं कि कम्युनिस्टों तथा बाकी सब लोगों से मिलकर भी कांग्रेस को हरा दिया जाए।

साँप-नेवला एक साथ

केरल में अभी-अभी चुनाव हुए हैं। उसमें कम्युनिस्ट, मुस्लिम लीग, स्वतंत्र पार्टी, संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी, विद्रोही कांग्रेस के नाम से बनी पार्टी, क्रांतिकारी सोशलिस्ट पार्टी आदि जितनी भी पार्टियाँ हैं, इनमें आपस में भिन्न-भिन्न प्रकार से गठबंधन हुए। इन गठबंधनों के कारण यह पता नहीं लग सकता था कि इनके कोई राजनीतिक सिद्धांत, विचार अथवा आदर्श भी हैं या नहीं। विचारों की दृष्टि से यह स्थिति है। कांग्रेस में भी यह बात दिखाई दे रही है। यद्यपि कांग्रेस के लोग जो बोलते है, उसमें यही दिखाई देता है कि वहां पर एक निश्चित सिद्धांत, निश्चित कार्यक्रम नहीं है। घोर कम्युनिस्ट विचारधारा वाले भी कांग्रेस के अंदर विद्यमान हैं और कम्युनिज्म का डटकर विरोध करते हुए पूंजीवादी विचारधारा वाले भी कांग्रेस के अंदर विद्यमान हैं। 'अहि-नकुल योग' के अनुसार नेवले और सांप के सह-अस्तित्व का कोई यदि जादू का पिटारा हो सकता है तो वह आज की कांग्रेस है।

हमें आत्माभिमुखी होना पड़ेगा

उपर्युक्त स्थिति में हम आगे बढ़ सकेंगे या नहीं, इसका हमें विचार करना चाहिए। देश में आज की अनेक समस्याओं के कारण मीमांसा करें तो पता चलेगा कि अपने गंतव्य और उसकी दिशा का अज्ञान ही बहुतांश में आज की अवस्था के लिए जिम्मेदार है। मैं तो यह मानता हूं कि हिंदुस्तान के सभी लोग सब प्रश्नों पर अथवा किसी एक प्रश्न पर भी पूर्णतः एक विचार और एकमत नहीं हो सकते। किसी भी देश में यह संभव नहीं है। फिर भी राष्ट्र की एक 'सामान्य इच्छा' नाम की कोई वस्तु होती है। उसको आधार बनाकर काम किया जाए तो सर्वसामान्य व्यक्ति को लगता है कि मेरे मन के अनुसार काम हो रहा है। उसमें से विचारों की अधिकतम एकता भी पैदा होती है। अक्तूबर-नवंबर 1962 में कम्युनिस्ट चीन के आक्रमण के समय जनता की अवस्था इस तथ्य का अच्छा उदारहण है। उस समय देश में एक उत्साह की लहर पैदा हो गई थी। कर्म और त्याग दोनों की शक्ति जाग्रत् हो गई थी। जनता और सरकार के बीच भिन्न-भिन्न दलों के बीच, नेता और जनता के बीच कोई खाई नहीं दिखाई देती थी। यह सब कैसे हुआ? परकीय सत्ता द्वारा लाई गई आपत्ति ने हमें आत्माभिमुखी बनाया। सरकार ने वह नीति अपनाई, जो जनता के मन के अनुसार तथा पुरुषार्थ का आह्वान करने वाली थी। फलतः हम सब एक होकर खड़े हो गए थे।

समस्याओं का कारण-'स्व' के प्रति दुर्लक्ष्य

आवश्यकता है कि अपने 'स्व' का विचार किया जाए। बिना उसके स्वराज्य का कोई अर्थ नहीं, स्वतंत्रता हमारे विकास और सुख का साधन नहीं बन सकती। जब तक हमें अपनी वास्तविकता का पता नहीं, तब तक हमें अपनी शक्तियों का ज्ञान नहीं हो सकता और न उनका विकास ही संभव है। परतंत्रता में समाज का 'स्व' दब जाता है। इसलिए राष्ट्र स्वराज्य की कामना करते हैं, जिससे वे अपनी प्रकृति और गुणधर्म के अनुसार प्रयत्न करते हुए सुख की अनुभूति कर सकें। प्रकृति बलवती होती है। उसके प्रतिकूल काम करने से अथवा उसकी ओर दुर्लक्ष्य करने से कष्ट होते हैं। 'प्रकृति' का उन्नयन कर उसे 'संस्कृति' बनाया जा सकता है, पर उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। आधुनिक मनोविज्ञान बताता है कि किस प्रकार मानव-प्रकृति एवं भावों की अवहेलना से जीवन अनेक रोगों का शिकार हो जाता है। ऐसा व्यक्ति प्रायः उदासीन एवं अनमना रहता है। उसकी कर्मशक्ति क्षीण हो जाती है अथवा विकृत होकर विपथगामिनी बन जाती है। व्यक्ति के समान राष्ट्र भी प्रकृति के प्रतिकूल चलने पर अनेक व्यथाओं के शिकार बनते हैं। आज भारत की अनेक समस्याओं का यही कारण है।

राजनीति में अवसरवादिता

राष्ट्र का मार्गदर्शन करने वाले तथा राजनीति के क्षेत्र में काम करने वाले अधिकांश व्यक्ति इस प्रश्न की ओर उदासीन हैं। फलतः भारत की राजनीति अवसरवादी एवं सिद्धांतहीन व्यक्तियों का अखाड़ा बन गई है। राजनीतिज्ञों तथा राजनीतिक दलों के न कोई सिद्धांत एवं आदर्श हैं और न कोई आचार संहिता। एक दल छोड़कर दूसरे दल में जाने में व्यक्ति को कोई संकोच नहीं होता। दलों के विघटन अथवा

विभिन्न दलों की युति भी होती है तो वह किसी तात्त्विक मतभेद अथवा समानता के आधार पर नहीं, प्रत्युत उसके मूल में चुनाव और पद ही प्रमुख रूप से रहते हैं। 1937 में जब हाफिज मुहम्मद इब्राहीम मुस्लिम लीग के टिकट पर चुने जाने के बाद कांग्रेस में सम्मिलित हुए तो उन्होंने स्वस्थ राजनीतिक परंपरा के अनुसार विधानसभा से त्यागपत्र देकर पुनः कांग्रेस के टिकट पर चुनाव लड़ा और जीतकर आए। 1948 में जब कांग्रेस से अलग हटकर सोशलिस्ट पार्टी का निर्माण हुआ तब सभी सोशलिस्टों ने, जो विधानमंडलों के सदस्य थे, त्यागपत्र देकर अपने-अपने क्षेत्र से पुनः चुनाव लड़े। किंतु उसके बाद किसी ने इस परंपरा का निर्वाह नहीं किया। अब राजनीतिक क्षेत्र में पूर्ण स्वैराचार है। इसी का परिणाम है कि आज सभी के विषय में जनता के मन में समान रूप से अनास्था है। ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं कि जिसकी आचरणहीनता के विषय में कुछ कहा जाए तो जनता विश्वास न करे। इस स्थिति को बदलना होगा। बिना उसके समाज में व्यवस्था और एकता स्थापित नहीं की जा सकती।

हम किस ओर चलें?

हम किस ओर चलें? राष्ट्र के सामने यह प्रश्न है। कुछ लोग कहते हैं कि राष्ट्र के परतंत्र होने के पूर्व एक हजार वर्ष पहले जहाँ हमने राष्ट्र-जीवन का सूत्र छोड़ दिया था, वहाँ से हम उसे आगे बढ़ाएँ, पर राष्ट्र कोई वस्त्र या पुस्तक के समान निर्जीव वस्तु तो नहीं है, जिसे बुनते या गढ़ते समय जहाँ एक बार छोड़ दिया, वहाँ से फिर किसी विशेष अवधि के बाद उसे आगे बढ़ाया जा सके। फिर यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं होगा कि परतंत्रता के साथ एक हजार वर्ष पूर्व हमारे जीवन का सूत्र एकदम टूट गया तथा तब से अब तक हम पूर्णतया निष्क्रिय अथवा गतिहीन रहे हैं। बदली हुई परिस्थितियों में हमने अपने जीवन को बनाए रखने तथा स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने में अपने जीवन को अभिव्यक्त किया। हमारे जीवन का प्रवाह अवरुद्ध नहीं रहा, वह आगे बढ़ता गया है। गंगा की धारा को लौटाने का प्रयत्न बुद्धिमानी नहीं होगी। बनारस की गंगा हरिद्वार के समान शीतल एवं स्वच्छ चाहे न हो, परंतु उतनी ही पवित्र एवं मुक्तिदायिनी है। उसमें मिलने वाले जिन नदी-नालों को उसने आत्मसात् कर लिया है, उनकी कलुषता तथा गंदगी की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। वे गंगा में मिलकर गंगा ही बन गए हैं। अब तो गंगा के प्रवाह को आगे ही बढ़ाना होगा। यदि संपूर्ण स्थिति इतनी ही होती तब तो कोई कठिनाई नहीं थी। विश्व में हम अकेले ही तो नहीं हैं। दूसरे राष्ट्र भी हैं। उन्होंने पिछले एक हजार वर्ष में अभूतपूर्व उन्नति की है। हमारा संपूर्ण ध्यान तो अपनी स्वतंत्रता के लिए लड़ने तथा अपनी रक्षा के प्रयत्नों में ही लगा रहा है। विश्व की इस प्रगति में हम सहभागी नहीं हो पाए। अब जब हम स्वतंत्र हो गए हैं तो क्या हमारा कर्तव्य नहीं हो जाता कि हम अपनी इस कमी को शीघ्रातिशीघ्र पूरा करके विश्व के इन प्रगत देशों के साथ खड़े हो जाएँ? मैं समझता हूँ, इसमें मतभेद की कोई संभावना नहीं है।

स्वदेशी की भावना सर्वव्यापी हो

समस्या तब पैदा होती है, जब हम पश्चिम की प्रगति के कारणों तथा परिणामों अथवा वास्तविकताओं एवं भासमानों के संबंध में ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाते। यह कठिनाई तब और बढ़ जाती है, जब हम

यह देखते हैं कि इन प्रगत देशों में से एक ने हमारे ऊपर डेढ़ सौ वर्षों तक राज्य किया तथा अपने राज्यकाल में उसने ऐसे अनेक उपाय किए, जिससे हमारे अंदर अपने प्रति तिरस्कार तथा उसके विषय में आदर का भाव पैदा हो जाए। पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान के साथ ही पश्चिमी देशों के रहन-सहन, बोलचाल, खानपान आदि की रीतियाँ भी इस देश में आईं। भौतिक-विज्ञान ही नहीं, अपितु नीतिशस्त्र, राज्यव्यवस्था, अर्थनीति तथा समाज-धारणा के क्षेत्र में भी इन देशों के मानदंड हमारे मानक बन गए। आज भारत के शिक्षित वर्ग के जीवन-मूल्यों पर पश्चिम का यह प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। हमें निर्णय करना पड़ेगा कि यह प्रभाव अच्छा है या बुरा। जब तक अंग्रेज थे, तब तक तो हम स्वदेशी की भावना से अंग्रेजियत को दूर रखने में ही गौरव समझते थे, किंतु अब जब अंग्रेज चले गए हैं तो अंग्रेजियत गौरव की वस्तु बन गई है। यदि यह सत्य है तो अंग्रेजियत के मोहावरण का परित्याग करना ही हमारे लिए श्रेयस्कर होगा। पर कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो पाश्चात्य राजनीति एवं अर्थनीति की दिशा को ही प्रगति की दिशा समझते हैं और इसलिए भारत पर वहाँ की स्थिति का प्रक्षेपण करना चाहते हैं। अतः भारत की भावी दिशा का निर्णय करने से पूर्व यह उचित होगा कि हम पश्चिम की राजनीति के वैचारिक अधिष्ठान तथा उनकी वर्तमान अवस्था का विचार कर लें।

यूरोप में राष्ट्रों का उदय

जिन विचारधाराओं ने यूरोपीय राजनीति एवं जीवन को विशेषतः प्रभावित किया है उनमें राष्ट्रवाद, प्रजातंत्र तथा समाजवाद की प्रमुख रूप से गणना की जा सकती है। इनके साथ ही विश्व-एकता तथा शांति का स्वप्न देखने वाले भी वहाँ हुए हैं और उस दिशा में कुछ प्रयत्न किए जा रहे हैं। इन विचारों में राष्ट्रवाद सबसे पुराना तथा बलशाली है। रोम के साम्राज्य के पतन के बाद तथा रोमन कैथोलिक चर्च के प्रति विद्रोह अथवा उसके प्रभाव में कमी के कारण यूरोप में राष्ट्रों का उदय हुआ। यूरोप का पिछला एक हजार वर्ष का इतिहास देखें तो इन राष्ट्रों ने यूरोप महाद्वीप से बाहर जाकर अपने उपनिवेश बनाए तथा दूसरे स्वतंत्र देशों को गुलाम बनाया। राष्ट्रवाद के उदय के कारण राष्ट्र और राज्य की एकता प्रवृत्ति भी बढ़ी तथा राष्ट्र राज्य (Nation State) का यूरोप में उदय हुआ। साथ ही रोमन कैथोलिक चर्च के केंद्रीय प्रभाव में कमी होकर या तो राष्ट्रीय चर्च का निर्माण हुआ या मजहब का। मजहबी गुरुओं का राजनीति में कोई विशेष स्थान नहीं रहा। इस प्रकार सेक्युलर स्टेट की कल्पना का जन्म हुआ।

यूरोप में प्रजातंत्र का जन्म

दूसरी क्रांतिकारी कल्पना प्रजातंत्र की है, जिसका यूरोप की राजनीति पर महत्वपूर्ण प्रभाव हुआ है। प्रारंभ में तो जितने राष्ट्र बने, उनमें राजा ही शासनकर्ता रहा। किंतु राजा की निरंकुशता के विरुद्ध जनता में धीरे-धीरे जागरण हुआ तथा औद्योगिक क्रांति के कारण तथा अंतरराष्ट्रीय व्यापार के परिणामस्वरूप सभी देशों में व्यापारी वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। स्वभावतः इनका पुराने सामंतों तथा राजाओं से संघर्ष हुआ। इस संघर्ष ने 'प्रजातंत्र' की तात्त्विक भूमिका ग्रहण की। यूनान के नगर-गणराज्यों से इस विचारधारा का उद्‌गम ढूँढा गया। प्रत्येक नागरिक की समानता, बंधुता और स्वतंत्रता के आदर्श के सहारे जनसाधारण

को इस तत्व के प्रति आकृष्ट किया गया। फ्रांस में बड़ी भारी राज्यक्रांति हुई। इंग्लैंड में भी समय-समय पर आंदोलन हुए। लोकतंत्र की जनमन पर पकड़ हुई। राजवंश या तो समाप्त कर दिए गए अथवा उसके अधिकार मर्यादित कर वैधानिक राजपद्धति की नींव डाली गई। आज लोकतंत्र यूरोप की मान्य पद्धति है। जिन्होंने लोकतंत्र की अवहेलना की, वे भी लोकतंत्र के प्रति निष्ठा व्यक्त करने में कमी नहीं करते। हिटलर, मुसोलिनी तथा स्टालिन जैसे तानाशाहों ने भी लोकतंत्र को अमान्य नहीं किया था।

व्यक्ति का शोषण होता रहा

लोकतंत्र ने यद्यपि प्रत्येक नागरिक को मतदान का अधिकार दिया, किंतु जिन लोगों ने प्रजातंत्र का नेतृत्व किया था, शक्ति उन्हीं के हाथों में रही। औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप उत्पादन की नई पद्धति पर विश्वास हो गया था। स्वतंत्र रहकर घर में काम करनेवाला श्रमिक अब कारखानेदार का नौकर बनकर काम करने लगा था। अपना गाँव छोड़कर वह नगरों में आ बसा था। वहाँ उसके आवास की व्यवस्था बहुत अधूरी थी। कारखानों में जिस ढंग से काम होता था, उसके कोई नियम नहीं थे। मजदूर असंगठित एवं दुर्बल था। वह शोषण, अन्याय और उत्पीड़न का शिकार हो गया था। राज्य की शक्ति जिनके हाथों में थी, वे भी उसी वर्ग में से थे, जो उनका शोषण कर रहे थे। अतः राज्य से भी कोई आशा नहीं बची थी। इस अन्यायपूर्ण अवस्था के विरुद्ध विद्रोह की स्थिति में सुधार की भावना लेकर कई महापुरुष खड़े हुए। उन्होंने अपने आपको समाजवादी कहा। कार्ल मार्क्स भी इन समाजवादियों में से एक हैं। उन्होंने विद्यमान अन्याय का विरोध करने के प्रयत्न में अर्थव्यवस्था तथा इतिहास का अध्ययन कर एक विश्लेषण प्रस्तुत किया। कार्ल मार्क्स की विवेचना के बाद समाजवाद एक वैज्ञानिक आधार पर खड़ा हो गया। बाद के समाजवादियों ने मार्क्स को माना हो या नहीं, किंतु उनके विचारों पर उनकी छाप अवश्य है।

सर्वहारा की तानाशाही

वैज्ञानिक समाजवाद के अनुसार उत्पादन के साधनों का व्यक्तिगत स्वामित्व ही शोषण की जड़ है। यदि इन साधनों को समाज (जो इनकी दृष्टि में राज्य ही समाज है) के हाथों में दे दिया जाए तो शोषण समाप्त हो जाएगा। किंतु इसके पूर्व राज्य को 'शोषक वर्ग' के चंगुल से निकालना होगा तथा यह व्यवस्था करनी होगी कि वह उनके अधीन कभी न रहे। इस हेतु प्रोलिटेरिएट डिक्टेटरशिप (Dictatorship of the Proletariat) अर्थात् 'सर्वहारा की तानाशाही' स्थापित करनी होगी। समाज इस तानाशाही को सहन कर ले, इस हेतु उसके सामने यह आदर्श भी रखा गया कि शोषकों की समाप्ति तथा उनके द्वारा प्रतिक्रांति की सभी संभावनाओं के नष्ट होने के उपरांत राज्य की फिर आवश्यकता नहीं होगी। तब एक राज्यविहीन आदर्श समाज की उत्पत्ति होगी। कार्ल मार्क्स ने अर्थव्यवस्था का विवेचन कर यह भी बताया कि पूँजीवाद में ही उसके विनाश के बीज छिपे हुए हैं तथा समाजवाद अवश्यंभावी है

अनेक वादों से त्रस्त : कोई मार्ग नहीं

यूरोप के कुछ देशों में समाजवाद के नाम पर राजनीतिक क्रांतियाँ हुईं। जहाँ लोगों ने समाजवाद को

स्वीकार नहीं किया, वहाँ भी राज्यकर्ताओं को श्रमिक के अधिकारों को मान्य करना पड़ा तथा कल्याणकारी राज्य का आदर्श सामने रखा गया। राष्ट्रवाद, प्रजातंत्र, समाजवाद या समता-समाजवाद के मूल में समता का ही भाव है, समता समानता से भिन्न है, इसे (Equitability) का पर्याय मान सकते हैं। इन तीन प्रवृत्तियों ने यूरोप की राजनीति को प्रभावित किया है। यह सब ऐसे आदर्श हैं, जो अच्छे हैं। मानव की दैवी प्रवृत्तियों में से इनका जन्म हुआ है। किंतु अपने में कोई भी विचार पूर्ण नहीं। इतना ही नहीं, इनमें से प्रत्येक आदर्श व्यवहार में एक-दूसरे का घातक बन जाता है। राष्ट्रवाद विश्वशांति के लिए खतरा पैदा करता है। प्रजातंत्र पूँजीवाद के मेल से शोषण का कारण बन गया। पूँजीवाद को समाप्त कर समाजवाद आया, तो उसने प्रजातंत्र तथा उसके साथ ही व्यक्ति की स्वतंत्रता की ही बलि ले ली। अतः आज पश्चिम के सामने यह प्रश्न खड़ा है कि इन सभी अच्छी बातों का तालमेल कैसे बैठाया जाए?

भिन्न समाज : भिन्न विचार

पश्चिम के लोग यह तालमेल नहीं बैठा पाए। हाँ, समय-समय पर वहाँ कुछ लोगों ने इन विचारों में से कुछ को महत्व देकर उनका गठजोड़ करने का अवश्य प्रयत्न किया है। इंग्लैंड ने प्रजातंत्र और राष्ट्रवाद का मेल बैठाकर अपना राजनीतिक ढाँचा विकसित किया, किंतु फ्रांस यह काम नहीं कर पाया। वहाँ लोकतंत्र राष्ट्र के लिए अस्थिरता का कारण बन गया। ब्रिटेन की लेबर पार्टी समाजवाद और जनतंत्र का मेल बैठाकर चलना चाहती है। किंतु वहाँ ऐसे लोग हैं, जो आशंका प्रकट कर रहे हैं कि यदि समाजवाद आया तो जनतंत्र नहीं रहेगा। लेबर पार्टी अभी भी समाजवाद के नाम पर राष्ट्रीयकरण की उतनी समर्थक नहीं रही, जितना 'वैज्ञानिक समाजवाद' चाहता है। उसका समाजवाद कुछ नरम हो गया है। हिटलर और मुसोलिनो ने 'नेशनल सोशलिज्म' अपनाया। उन्होंने जनतंत्र को तिलांजलि दे दी। अंत में सोशलिज्म भी उनके नेशनलिज्म का अनुचर बन गया तथा उनका राष्ट्रवाद विश्व के लिए संकट।

निस्संदेह आज विश्व से हम कुछ लें, परंतु विश्व ऐसी स्थिति में नहीं है कि हमारा कुछ मार्गदर्शन कर सके। वह तो स्वयं चौराहे पर है। ऐसी अवस्था में हम उससे किसी भी प्रकार का मार्गदर्शन नहीं पा सकते। हमें तो यह सोचना चाहिए कि अब तक की विश्व की प्रगति देखते हुए कहीं ऐसी भी संभावना है या नहीं कि हम उसकी प्रगति में अपना भी योगदान कर सकें? विश्व की प्रगति का अध्ययन कर लेने के बाद क्या हम भी उन्हें कुछ दे सकते हैं? यह विचार हमें विश्व का अंग बनकर करना चाहिए। हम केवल स्वार्थी न बनकर विश्व की प्रगति में सहयोगी बनें। यदि हमारे पास कोई ऐसी वस्तु है। जिससे कि विश्व को लाभ होगा तो वह देने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। मिलावट के युग के अनुरूप विशुद्ध विचारों को विकृत करके उनका मिश्रित रूप न लें, बल्कि उनको सुधार कर तथा मंथन करके उन्हें ग्रहण करना चाहिए। हमें विश्व पर बोझ बनकर नहीं, उसकी समस्याओं के छुटकारे में सहायक बनकर रहना चाहिए। हमारी परंपरा और संस्कृति विश्व को क्या दे सकती है, यह हमें विचार करना है।

❖❖❖

एकात्म मानववाद

(बंबई, 23 अप्रैल, 1965)

आज स्वतंत्रता-प्राप्ति के 17 वर्ष उपरांत भी भारत के सामने एक महत्वपूर्ण प्रश्न बना हुआ है कि संपूर्ण जीवन की रचनात्मक दृष्टि से कौन सी दिशा ली जाए? इस संबंध में सामान्यतया लोग सोचने के लिए तैयार नहीं हैं। वे तो तात्कालिक प्रश्नों का ही विचार करते हैं। कभी आर्थिक प्रश्नों को लेकर उनको सुलझाने का प्रयत्न होता है और कभी राजनीतिक अथवा सामाजिक प्रश्नों को सुलझाने के प्रयत्न किए जाते हैं। किंतु मूल दिशा का पता न होने के कारण, ये जितने प्रयत्न होते हैं, न तो उनमें पूरा उत्साह रहता है, न उनमें आनंद का अनुभव ही होता है और न उनके द्वारा जैसी सफलता मिलनी चाहिए, वैसी सफलता भी मिल पाती है।

आधुनिक बनाम पुरातन

देश की दिशा के संबंध में विचार करने वालों में दो प्रकार के लोग हैं। एक तो वे हैं, जो भारत की हजारों वर्षों से चली आने वाली प्रगति की दिशा पराधीन होने पर जहाँ वह रुक गया, वहाँ से उसे आगे बढ़ाना चाहिए-यह विचार लेकर चलते हैं। दूसरी ओर वे लोग हैं, जो कि भारत की उस पुरानी वस्तु का भिन्न-भिन्न कारणों से (काल के कारण से या मूलतः उस अवस्था को अयोग्य मानकर) उसके संबंध में विचार करने को तैयार नहीं। इसके विपरीत पश्चिम में जो आंदोलन हुए, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में जो विचार-सारणियाँ जनमीं, उनको ही वे प्रगति की दिशा समझकर उन संपूर्ण विचारधाराओं और आंदोलनों को भारत के ऊपर आरोपित करने का प्रयत्न करते हैं। भारत उन्हीं का किसी-न-किसी प्रकार

से प्रतिबिंब बने, इसी विचार को लेकर वे चलते हैं। ये दोनों ही प्रकार के विचार सत्य नहीं हैं। किंतु उनको पूर्णतः अमान्य करके भी चलना ठीक नहीं होगा। कारण-उनमें सत्यांश अवश्य है। जो यह विचार करते हैं कि जहाँ हम रुक गए थे, वहीं लौटकर पुनः चलना आरंभ करें, वे यह भूल जाते हैं कि लौटकर चलना वांछनीय हो या न हो, असंभव अवश्य है, क्योंकि समय की गति को पीछे नहीं ले जाया जा सकता।

पुराना छूट नहीं सकता

हजार वर्षों में जो कुछ हमने किया है, वह विवशता में हमें मिला हो या प्रयासपूर्वक हमने प्राप्त किया हो, उसमें से हर वस्तु को हटा करके नहीं चल सकते। साथ ही इस काल में हमने स्वयं भी कुछ-न-कुछ अपने जीवन में निर्माण किया है। जो नई परिस्थितियाँ पैदा हुईं, जो नई चुनौतियाँ आईं, उनमें हम सदैव वैरागी (Passive Agent) रूप में निष्क्रिय होकर नहीं बैठे। बाहर वालों ने जो कुछ किया, हम केवल उसका प्रतिकार ही नहीं करते रहे, हमने भी परिस्थितियों के अनुसार अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न किया। इसलिए उस सब जीवन को भुलाकर तो चल नहीं सकते।

विदेशी विचार सार्वलौकिक नहीं

इसी प्रकार, जो लोग विदेशी जीवन तथा विचारों को भारत की प्रगति का आधार बनाकर चलते हैं, वे भी यह भूल जाते हैं कि ये विदेशी विचार एक परिस्थिति विशेष तथा प्रवृत्ति-विशेष की उपज हैं। ये सार्वलौकिक नहीं हैं। उन पर 'पश्चिमी देशों की राष्ट्रीयता, प्रकृति और संस्कृति' की छाप है। साथ ही वहाँ के ये बहुत से विचार अब पुराने पड़ चुके हैं। कार्ल मार्क्स का सिद्धांत देश और काल दोनों ही दृष्टियों से इतना बदल चुका है कि आज हम मार्क्सवादी विश्लेषण को तोते की तरह रटकर आँख मूँदकर भारत पर लागू करें तो वह वैज्ञानिक अथवा विवेकपूर्ण दृष्टिकोण नहीं कहा जाएगा। वह रूढ़िवादिता होगी। जो अपने देश की रूढ़ियों को मिटाकर सुधारने का दावा करें, वे विदेश की रूढ़ियों के दास बन जाएँ, यह तो आश्चर्य का विषय होगा।

अपना देश : अपनी परिस्थितियाँ

प्रत्येक देश की अपनी ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति होती है और उस देश के जो भी नेता और विचारक होते हैं, वे उस परिस्थिति में से देश को आगे बढ़ाने की दृष्टि से मार्ग निर्धारित करते हैं। अपनी समस्याओं के समाधान के लिए जो हल उन्होंने सुझाए, वे उसी प्रकार, भिन्न परिस्थितियों में रहने वाले समाज पर पूरी तरह लागू हो जाएँ, यह विचार करना गलत है।

एक सामान्य उदाहरण लें। विश्व भर में मनुष्यों के शरीर के अंगों की क्रिया समान होते हुए भी जो औषधि इंग्लैंड में कारगर होती है, वह भारत में भी उपयोगी सिद्ध होगी, यह निर्विवाद नहीं कहा जा सकता। रोगों का संबंध जलवायु, आचार-विचार, खानपान तथा वंश-परंपरा से रहता है। ऊपर से देखने पर रोग एक सा दिखाई देने पर भी उसकी औषधि सब मनुष्यों के लिए एक नहीं हो सकती। सब रोगों

और सब मनुष्यों के लिए एक ही औषधि का नारा लगाने वाले नीम-हकीम हो सकते हैं, चिकित्सक नहीं। आयुर्वेद में सिद्धांत बताया है-'यद्देशस्य यो जन्तुः तद्देश्य तस्योषधम्'। इसलिए बाहर की जितनी भी बातें हैं, उनको हम उसी प्रकार से लेकर अपने देश में चलें, यह तो समीचीन नहीं होगा। उसके द्वारा हम कभी प्रगति नहीं कर सकेंगे।

किंतु दूसरी बात का भी विचार करना होगा कि ये जितनी भी बातें विश्व में हुई हैं, ये सबकी सब ऐसी नहीं कि उनका संबंध केवल देश विशेष के साथ ही हो। वहाँ भी मानव रहते हैं और मानव के चिंतन और क्रियाओं में से जो वस्तु पैदा होती है, उसका शेष मानवों के साथ भी संबंध रह सकता है। इसलिए मानव के ज्ञान में जो कुछ अर्जित है, उससे हम बिल्कुल आँख बंद करके चलें, यह भी बुद्धिमत्ता की बात नहीं होगी। उसमें से सत्य को हमें स्वीकार और असत्य को छोड़ना पड़ेगा। उसका भी अपनी परिस्थिति के अनुसार परिष्कार करना होगा। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि जहाँ तक शाश्वत सिद्धांतों तथा स्थायी सत्यों का संबंध है, हम संपूर्ण मानव के ज्ञान और उपलब्धियों का संकलित विचार करें। इन तत्वों में जो हमारा है, उसे युगानुकूल और जो बाहर का है, उसे देशानुकूल ढालकर हम आगे चलने का विचार करें।

आदर्शों का संघर्ष

पश्चिम की राजनीति अभी तक राष्ट्रीयता, प्रजातंत्र, समता या समाजवाद के आदर्शों को मानकर चली है। विश्वशांति के लिए भी बीच-बीच में प्रयत्न हुए हैं तथा विश्व-एकता के आदर्श की कल्पना भी लोगों ने की है-इन उद्देश्यों की प्राप्ति के साधन के रूप में लीग ऑफ नेशंस तथा दूसरे युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ को जन्म दिया गया। विभिन्न कारणों से ये सफल नहीं हुए। फिर भी ये उस दिशा में प्रयास तो हैं ही। परंतु ये सभी आदर्श व्यवहार में अधूरे तथा विभिन्न समस्याओं को जन्म देने वाले सिद्ध हुए हैं। राष्ट्रीयता दूसरे देशों की राष्ट्रीयता से टकराकर उनके लिए घातक बन जाती है तथा विश्वशांति को नष्ट करती है। साथ ही विश्वशांति को यदि यथास्थिति का पर्याय मान लिया जाए तो बहुत से राष्ट्र स्वतंत्र हो ही नहीं पाएँगे। विश्व की एकता और राष्ट्रीयता में भी टकराव आता है। कुछ लोग विश्व-एकता के लिए राष्ट्रीयता को नष्ट करने की बात कहते हैं, तो दूसरे विश्व-एकता को स्वप्न जगत की बात बताकर अपने राष्ट्र के स्वार्थों को ही सर्वाधिक महत्व देते हैं। दोनों का मेल कैसे बिठाया जाए, इस प्रकार की समस्या प्रजातंत्र और समाजवाद के बीच भी उपस्थित होती है?

प्रजातंत्र में व्यक्ति-स्वातंत्र्य तो है, परंतु उसका विकास पूँजीवादी व्यवस्था के साथ शोषण और केंद्रीयकरण के साधन के रूप में हुआ। शोषण मिटाने के लिए समाजवाद लाया गया, परंतु उसने व्यक्ति की स्वतंत्रता और गरिमा को ही नष्ट कर दिया। आज विश्व किंकर्तव्यविमूढ़ है। उसे मार्ग नहीं दिख रहा कि वह कहाँ जाए। पश्चिम आज इस अवस्था में नहीं कि वह निर्विवाद रूप से आत्म-विश्वासपूर्वक कह सके 'नान्यः पन्थाः'। वे स्वयं मार्ग टटोल रहे हैं, अतः उनका अंधानुकरण करने से तो 'अन्धेन नीयमाना

यथान्धाः' की ही उक्ति चरितार्थ होगी। इस परिस्थिति में हमारी दृष्टि भारतीय संस्कृति की ओर जाती है। क्या यह विश्व की समस्या के समाधान में कुछ योगदान कर सकती है?

संस्कृति का विचार करें

राष्ट्रीय दृष्टि से तो हमें अपनी संस्कृति का विचार करना ही होगा, क्योंकि वह हमारी अपनी प्रकृति है। स्वराज्य का स्वसंस्कृति से घनिष्ठ संबंध रहता है। संस्कृति का विचार न रहा, तो स्वराज की लड़ाई स्वार्थी और पदलोलुप लोगों की राजनीतिक लड़ाई मात्र बनकर रह जाएगी। स्वराज्य तभी साकार और सार्थक होगा, जब वह अपनी संस्कृति की अभिव्यक्ति का साधन बन सकेगा। इस अभिव्यक्ति में हमारा विकास भी होगा और हमें आनंद की अनुभूति भी होगी एवं विश्वशांति भी संभव होगी। अतः आज राष्ट्रीय और मानवीय दृष्टियों से आवश्यक हो गया है कि हम भारतीय संस्कृति के तत्वों का विचार करें।

भारतीय संस्कृति-एकात्मवादी

भारतीय संस्कृति की पहली विशेषता यह है कि वह संपूर्ण जीवन का, संपूर्ण सृष्टि का संकलित विचार करती है। उसका दृष्टिकोण एकात्मवादी (Integrated) है। टुकड़े-टुकड़े में विचार करना विशेषज्ञ की दृष्टि से ठीक हो सकता है, परंतु व्यावहारिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं।

पश्चिम की समस्या का मुख्य कारण उनका जीवन के संबंध में खंडशः विचार करना तथा फिर उन सबको थेगली लगाकर जोड़ने का प्रयत्न है। हम यह तो स्वीकार करते हैं कि जीवन में अनेकता अर्थात् विविधता है, किंतु उसके मूल में निहित एकता को खोज निकालने का हमने सदैव प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न पूर्णतः वैज्ञानिक है। विज्ञानवेत्ता का प्रयत्न रहता है कि वह जगत में दिखने वाली अव्यवस्था में से व्यवस्था ढूँढ निकाले, उनके नियमों का पता लगाए, तदनुसार व्यवहार के नियम बनाए। रसायनशास्त्रियों ने संपूर्ण भौतिक जगत में से कुछ आधारभूत तत्व (Elements) ढूँढ निकाले और बताया कि सभी वस्तुएँ उनसे भी आगे गईं। उसने इन तत्वों के मूल में निहित शक्ति अर्थात् चेतना को ढूँढ निकाला। संपूर्ण जगत में चेतना का अस्तित्व है। दार्शनिक भी मूलतः वैज्ञानिक ही होते हैं। पश्चिम के दार्शनिक द्वैत तक पहुँचे। हीगेल ने थीसिस, एंटीथीसिस तथा सिनथीसिस का सिद्धांत रखा, जिसका आधार लेकर कार्ल मार्क्स ने अपना इतिहास और अर्थशास्त्र विश्लेषण प्रस्तुत किया। डार्विन ने 'मात्स्यन्याय' को ही जीवन का आधार माना। किंतु हमने संपूर्ण जीवन और उसकी मूलभूत एकता का दर्शन किया है।

जो द्वैतवादी रहे, उन्होंने भी प्रकृति और पुरुष को एक-दूसरे का विरोधी अथवा परस्पर संघर्षशील न मानकर पूरक ही माना है। जीवन की विविधता अंतर्भूत एकता का आविष्कार है और इसलिए उनमें परस्परानुकूलता तथा परस्पर पूरकता है। बीच की एकता ही पेड़ के मूल, तना, शाखा, पत्ते, फूल और फल की विविध रूपों में प्रकट होती है। इन सबके रंग, रूप तथा कुछ-न-कुछ मात्रा में गुण में भी अंतर

होता है। फिर भी उनके पास बीज के साथ के एकत्व के संबंध को हम सहज ही पहचान सकते हैं।

परस्पर संघर्ष-विकृति का द्योतक

विविधता में एकता अथवा एकता का विविध रूपों में व्यक्तीकरण ही भारतीय संस्कृति का केंद्रस्थ विचार है। यदि इस तथ्य को हमने हृदयंगम कर लिया तो फिर विभिन्न सत्ताओं के बीच संघर्ष नहीं रहेगा। यदि संघर्ष है तो वह प्रकृति का अथवा संस्कृति का द्योतक नहीं, विकृति का द्योतक है। जिस मात्स्यन्याय या जीवन-संघर्ष को पश्चिम के लोगों ने ढूँढ निकाला, उसका ज्ञान हमारे दार्शनिकों को था। मानव-जीवन में काम, क्रोध आदि षड्विकारों को भी हमने स्वीकार किया है। किंतु इन सब प्रवृत्तियों को अपनी संस्कृति अथवा शिष्ट व्यवहार का आधार नहीं बनाया। समाज में चोर और डाकू होते हैं। उनसे अपनी और समाज की रक्षा भी करनी चाहिए। किंतु उनको हम अनुकरणीय अथवा मानव-व्यवहार की आधारभूत प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि मानकर नहीं चल सकते। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' (Survival of the fittest) जंगल का विधान है। मानव की सभ्यता का विकास इस विधान को मानकर नहीं, बल्कि यह विधान न चल पाए-इस व्यवस्था के कारण ही हुआ है। आगे भी यदि बढ़ना हो तो हमें इस इतिहास को ध्यान में रखकर ही चलना होगा। सृष्टि में जैसे संघर्ष दिखता है, वैसे ही सहयोग भी दृष्टिगोचर होता है। वनस्पति और प्राणी, दोनों एक-दूसरे की आवश्यकता को पूरा करते हुए ही जीवित रहते हैं। हमें ऑक्सीजन वनस्पतियों से मिलती है तथा वनस्पतियों के लिए आवश्यक कार्बनडाइ ऑक्साइड प्राणी-जगत से प्राप्त होती है। इस परस्पर-पूरकता के कारण ही संसार चल रहा है। संसार में एकता का दर्शन कर, उसके विविध रूपों के बीच परस्पर-पूरकता को पहचान कर, उनमें परस्पर अनुकूलता का विकास करना तथा उसका संस्कार करना ही संस्कृति तथा उसके प्रतिकूल बनाना विकृति है। संस्कृति प्रकृति की अवहेलना नहीं करती, उसकी ओर दुर्लक्ष्य नहीं करती, बल्कि प्रकृति में, जो भावसृष्टि है, उनको बढ़ावा देकर दूसरी प्रकृतियों की बाधा को रोकना ही संस्कृति है।

एक छोटा सा उदाहरण लें। भाई-भाई का संबंध, माता-पुत्र का संबंध, पिता-पुत्र का संबंध, भाई-बहन का संबंध, ये प्रकृति की देन हैं। ये संबंध जैसे मनुष्यों में होते हैं, वैसे पशुओं में भी होते हैं। जैसे एक माँ के दो बेटे भाई हैं, वैसे एक गाय के दो बछड़े भाई होंगे। परंतु अंतर कहाँ होता है। बेचारा पशु उस प्रकृति के संबंध को भूल जाता है। उस आधार के ऊपर अपने बाकी संबंधों का निर्माण नहीं कर पाता। किंतु मानव इस बात को याद रखता है और याद रखकर उसके आधार पर अपने जीवन के व्यवहार की दिशा निश्चित करता है। इस विचार से वह अपने पारस्परिक संबंधों का निर्माण करने का प्रयत्न करता है। मानव-मूल्यों तथा उसकी निष्ठाओं का निर्धारण इसी आधार पर होता है। अच्छे और बुरे के संबंध में उसकी जो धारणाएँ निर्मित होती हैं, वे इसी आधार पर निर्मित होती हैं। देखने को तो जीवन में भाई-भाई के बीच प्रेम और वैर दोनों ही मिलते हैं, किंतु हम प्रेम को अच्छा मानते हैं। बंधु-भाव

का विस्तार हमारा लक्ष्य रहता है। इसके विपरीत वैर अभीष्ट नहीं समझा जाता। वैर को मानव-व्यवहार का आधार बनाकर यदि इतिहास का विश्लेषण किया जाए और फिर उसमें एक आदर्श जीवन का स्वप्न देखा जाए तो यह आश्चर्य की ही बात होगी।

माँ बच्चों का पालन-पोषण करती है। बच्चे के लिए माँ का प्रेम सबसे बड़ा समझा जाता है। इसको आधार बनाकर ही हम जीवन का निर्माण करने वाले व्यवहार के नियम बना सकते हैं। कहीं माँ के इस प्रेम के विपरीत भी अनुभव आता है। बिल्ली के बारे में कहा जाता है कि प्रसव के बाद उसे इतनी भूख लगती है कि वह अपने बच्चे को भी खा जाती है। किंतु दूसरी ओर बँदरिया का बच्चा मर भी जाए, तो भी वह उसे चिपकाए घूमती है। दोनों बातें देखने को मिलती हैं। अब प्रकृति के इन दो नियमों में से किस नियम को ढूँढकर हम जीवन का आधार बनाकर चलें? हमारा निर्णय तो यही होगा कि जो जीवन के लिए सहायक और पोषक है, उसे ही हम आधार बनाएँ, इसके प्रतिकूल चलेंगे तो वह संस्कृति नहीं होगी। मनुष्य की प्रकृति में दोनों बाते हैं। मनुष्य की प्रकृति में क्रोध भी है, लोभ भी है और तपस्या भी है। ये सब मनुष्य के जीवन में हैं। यदि हम काम, क्रोध, मोह और लोभ को आधार बनाकर जीवन का विचार करें और कहें कि अंततः सब लोग क्रोधी होते हैं, हर एक को क्रोध आता है, पशु को भी क्रोध आता है, इसलिए वही जीवन का मानदंड होना चाहिए-क्रोध को ठीक मानकर तथा लोगों को क्रोध की सलाह देकर यदि हम व्यवस्था बनाएँ तो वे चल नहीं पाएँगी। अतः सर्वत्र कहा है कि क्रोध आने के बाद भी मनुष्य उसे रोक सकता है, उसका दमन कर सकता है और इसलिए हमें उसका दमन करना चाहिए। अतः 'दमन' हमारे जीवन का आधार हो सकता है, 'क्रोध' नहीं।

इस प्रकार जीवन के जो नियम होते हैं, उन्हीं नियमों को 'नीति शास्त्र के नियम' कहते हैं। ये नियम कोई तय नहीं करता। यानी क्रोध आने पर हमें क्रोध को प्रकट नहीं करना चाहिए, बल्कि शांत रहना चाहिए, क्रोध को पी जाना चाहिए, ऐसे जो नियम बनाए हैं, ये 'नीति-शास्त्र के नियम' हैं। अंग्रेजी में इन्हें एथिक्स (Ethics) कहते हैं। ये नियम किसी ने बनाए नहीं हैं, ये तो ढूँढे जाते हैं, जैसे यह नियम है कि यदि हम किसी पत्थर को फेंक दें तो वह नीचे गिर पड़ेगा। इसको 'गुरुत्वाकर्षण का नियम' कहते हैं। गुरुत्वाकर्षण का नियम न्यूटन ने बनाया नहीं है। उन्होंने इस नियम को ढूँढा। उसी प्रकार से मानव-संबंधों के भी कुछ नियम हैं। गुस्सा आए तो उस गुस्से को दबाओ, यह मानव के लाभ का काम है। नीतिशास्त्र के ये नियम ढूँढे हुए नियम हैं। एक-दूसरे के साथ झूठ मत बोलो, जैसा देखा है वैसा बोलो-यह 'सत्य' है। इसका लाभ हमें हर घड़ी अनुभव में आता है। हमको जो जैसा हो वैसा ही बोलें तो अच्छा लगता है। यदि हमने एक बात देखी और दूसरी बोली, हर स्थान पर हम झूठ बोलते रहे तो हमको भी बुरा लगेगा। बोलने वाले को भी बुरा लगेगा और सुनने वाले को भी बुरा लगेगा, और फिर जीवन चल ही नहीं पाएगा। बड़ी कठिनाई हो जाएगी। सूरज निकला और हमने देखा कि सूरज निकला है। घर में किसी व्यक्ति ने पूछा कि सूरज निकल आया क्या? अब यदि हमने उसको झूठ बोल दिया कि नहीं निकला या बाहर वर्षा

हो रही या बादल साफ हैं? और हमने कहा कि बादल बिल्कुल साफ है, वर्षा नहीं हो रही है। हमारी बात मानकर जब वह बाहर निकलता है तो सहसा भीग जाता है इस स्थिति में सोचें कि उसके-हमारे संबंध कैसे होंगे? इस प्रकार क्या जगत् चल सकेगा?

यही नियम हमारे धर्म

सत्य का, जो नियम है, उसे ढूँढकर निकाला गया। इस प्रकार से ढूँढकर निकाले हुए जो नियम हैं, उनको ही हमारे यहाँ 'धर्म' कहा है। मानव जीवन को स्थिर रखने वाले, मानव-जीवन की धारणा करने वाले (मैं इस समय मानवता की बात कर रहा हूँ, वैसे तो धर्म का संबंध सब के साथ आता है, संपूर्ण सृष्टि के साथ भी आएगा) जितने नियम हैं, वे सब धर्म हैं। उस धर्म का आधार लेकर हम संपूर्ण जीवन का विचार करें।

व्यक्ति के सुख का विचार

संपूर्ण समाज या सृष्टि का ही नहीं, व्यक्ति का भी हमने एकात्म एवं संकलित विचार किया है। सामान्यतः तो व्यक्ति का विचार उसके शरीर मात्र के साथ किया जाता है। शरीर-सुख को ही लोग सुख समझते हैं, किंतु हम जानते हैं कि मन में चिंता रही तो शरीर सुख नहीं पाता। प्रत्येक व्यक्ति शरीर का सुख चाहता है, किंतु किसी को कारागार में डाल दिया जाए और बहुत अच्छा खाने को दिया जाए तो उसे सुख होगा क्या? आनंद होगा क्या?

पुराना उदाहरण है कि भगवान् कृष्ण जब कौरवों के यहाँ संधि करने के लिए गए तो दुर्योधन ने उनको बुलाया और कहा, 'महाराज हमारे यहाँ भोजन के लिए आइए।' भगवान् कृष्ण दुर्योधन के घर भोजन करने नहीं गए, किंतु विदुर के यहाँ गए। जब विदुर के यहाँ पहुँचे तो वहाँ हालत ऐसी हो गई कि विदुर की पत्नी ने अत्यधिक आनंद के मारे केले के छिलके छील-छीलकर भगवान् कृष्ण को परोस दिए और गूदा फेंकती गई। भगवान् कृष्ण भी उन छिलकों को आनंदपूर्वक खाते रहे। इसलिए लोग कहते हैं- भाई सम्मान और स्नेह के साथ यदि रूखी रोटी भी मिल जाए तो बहुत अच्छा लगता है, परंतु अपमान के साथ मेवा भी मिले तो उसे छोड़ना चाहिए। अतः मन के सुख का भी विचार करना पड़ता है।

इसी प्रकार बुद्धि का भी सुख है। इसके सुख का विचार करना पड़ता है, क्योंकि यदि मन का सुख हुआ भी और आपको बड़े प्रेम से रखा भी गया तथा आपको खाने-पीने को भी प्रचुर मात्रा में दिया, परंतु यदि मस्तिष्क में कोई उलझन बैठी रही तो वैसी हालत होती है जैसे पागल की हो जाती है। पागल का क्या होता? उसे खाने को पर्याप्त मिलता है, हृष्टपुष्ट भी हो जाता है, अन्य सुविधाएँ होती हैं, परंतु मस्तिष्क की उलझन के कारण बुद्धि का सुख प्राप्त नहीं होता, बुद्धि में भी तो शांति चाहिए। इन बातों का हमें विचार करना पड़ेगा।

मानव की राजनीतिक आकांक्षा व तृप्ति

मनुष्य मन, बुद्धि, आत्मा तथा शरीर, इन चारों का समुच्चय है। हम उसको टुकड़ों में बाँटकर विचार नहीं कर सकते। आज पश्चिम में जो कष्ट पैदा हुए हैं, उनका कारण यह है कि उन्होंने मनुष्य के एक-एक भाग का विचार अलग-अलग किया। प्रजातंत्र का आंदोलन चला तो उन्होंने मनुष्य को कहा, 'मैन इज ए पॉलिटिकल ऐनिमल' अर्थात् मनुष्य एक राजनीतिक जीव है और इसलिए इसकी राजनीतिक आकांक्षा की तृप्ति होनी चाहिए। एक राजा बन करके बैठे और शेष लोग राजा नहीं हों, ऐसा क्यों? राजा सबको बनना चाहिए। इसलिए राजा बनने की आकांक्षा की पूर्ति के लिए उन्होंने सबको 'वोट' देने का अधिकार दिया। प्रजातंत्र में यह अधिकार तो मिल गया, परंतु अन्य जो अधिकार थे, वे कम हो गए। उन्होंने कहा कि वोट देने का तो सबको अधिकार है, पेट भरे या न भरे। परंतु यदि खाने को नहीं मिला तो? तब लोगों से कहा गया कि तुम चिंता क्यों करते हो? मतदान का अधिकार तो तुम्हें है ही। तुम राजा हो। राजा बनकर बैठे रहो। राज तुम्हारा है तो लोगों ने कहा, 'बाबा! इस राज से हमें क्या करना है, यदि खाने को ही नहीं मिल रहा? पेट को रोटी नहीं मिल रही तो हमें यह राज नहीं चाहिए। हमें तो पहले रोटी चाहिए।' कार्ल मार्क्स आए और उन्होंने कहा-'हाँ, रोटी सबसे प्रथम वस्तु है। राज्य तो केवल रोटी वालों का समर्थक होता है। अतः रोटी के लिए लड़ो।' उन्होंने मनुष्य को रोटीमय बना दिया। पर जो लोग कार्ल मार्क्स के मार्ग पर चले, उन्हें वहाँ यह अनुभव हुआ कि राज तो हाथ से गया ही, रोटी भी नहीं मिली। किंतु दूसरी ओर अमरीका है, वहाँ रोटी भी है, राज भी है, इस पर भी सुख और शांति नहीं। जितनी आत्महत्याएँ अमरीका में होती हैं और जितने लोग वहाँ मानसिक रोगों के शिकार रहते हैं, जितने लोग वहाँ पर निद्रौषध (ट्रैंक्विलाइजर) खा-खाकर सोने का प्रयत्न करते हैं, उतना विश्व में और कहीं नहीं होता। लोग कहते हैं-'यह क्या समस्या खड़ी हो गई? रोटी मिल गई, राज्य मिल गया, पर नींद उड़ गई।' अब वे कहते हैं-'बाबा, नींद लाओ। किसी प्रकार से नींद लाओ।' अब वहाँ नींद बड़ी वस्तु बन गई है और नींद भी आ गई तो तृष्णा उन्हें पीड़ित कर रही है।

शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की प्रगति

विचारकों को लग रहा है कि उनकी जीवन-पद्धति में कहीं-न-कहीं कोई मौलिक त्रुटि अवश्य है, जिससे समृद्धि के बाद भी वे सुखी नहीं। कारण यह है कि वे मनुष्य का पूर्ण विचार नहीं कर पाए। हमारी संस्कृति में इस बात का पूरा विचार किया गया है, इसलिए हमने कहा है कि मानव की प्रगति का अर्थ शरीर, मन, बुद्धि व आत्मा इन चारों की प्रगति है। बहुत बार लोग समझते हैं और इस बात का प्रचार भी किया गया है कि भारतीय संस्कृति तो केवल आत्मा का विचार करती है, शेष के बारे में वह विचार नहीं करती। यह असत्य है। आत्मा का विचार अवश्य करते हैं, किंतु यह सत्य नहीं है कि हम शरीर, मन और बुद्धि का विचार नहीं करते। अन्य लोगों ने तो केवल शरीर का विचार किया है। इसलिए आत्मा का विचार

हमारी विशेषता हो गई। कालांतर में इस विशेषता में लोगों में एकांतिकता का भ्रम पैदा कर दिया।

जिसका विवाह नहीं हुआ, वह केवल माँ से प्रेम करता है तथा विवाह के बाद माँ तथा पत्नी दोनों के प्रति दायित्व को निभाता है। अब इस व्यक्ति से कोई कहे कि उसने माँ से प्रेम करना छोड़ दिया तो यह असत्य होगा। पत्नी भी, जब तक पुत्र नहीं होता, केवल पति से प्रेम करती है, बाद में पति और पुत्र दोनों से प्रेम करती है। इस अवस्था में कभी-कभी अज्ञानवश पति पत्नी पर यह आरोप लगा देता है कि वह तो अब उसकी चिंता ही नहीं करती। किंतु यह आरोप सही नहीं होता। यदि सही है तो पत्नी अपने कर्तव्य से विमुख हो गई है।

हमारी आवश्यकताएँ-चारों पुरुषार्थ

इसी प्रकार हम आत्मा की चिंता करते हुए शरीर को नहीं भूलते। उपनिषद् में तो स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'नाऽयमात्मा बलहीनेन लभ्यः'-दुर्बल (व्यक्ति) आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता। इसी प्रकार की सूक्ति है कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'-अर्थात् शरीर धर्म का प्रथम साधन है। दूसरे लोगों से हमारा यही अंतर है कि उन्होंने शरीर को साध्य माना है, परंतु हमने उसे साधन समझा है। इस नाते से हमने शरीर का विचार किया है। जितनी भौतिक आवश्यकताएँ हैं, उनकी पूर्ति का महत्व हमने माना है, परंतु उन्हें सर्वस्व नहीं माना। मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की आवश्यकताओं की पूर्ति, उसकी विविध कामनाओं, इच्छाओं तथा ऐषणाओं की संतुष्टि और उसके सर्वांगीण विकास की दृष्टि से व्यक्ति के सामने कर्तव्य रूप में हमारे यहाँ चतुर्विध पुरुषार्थ की कल्पना रखी गई है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ हैं। पुरुषार्थ का अर्थ उन कामों से है, जिनसे पुरुषत्व सार्थक हो। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की कामना मनुष्य में स्वाभाविक होती है और उनके पालन से उसको आनंद प्राप्त होता है। इन पुरुषार्थों का भी हमने संकलित विचार किया है। यद्यपि मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना है, तो भी अकेले उसके लिए प्रयत्न करने से मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता। वास्तव में अन्य पुरुषार्थों की अवहेलना करनेवाला कभी मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता। इसके विपरीत शेष पुरुषार्थों को लोक-संग्रह के विचार से, निष्काम भाव से करनेवाला व्यक्ति कर्म बंधन से मुक्त होकर मोक्ष का अधिकारी होगा।

अर्थ के अंतर्गत आज की परिभाषा के अनुसार राजनीति और अर्थनीति का समावेश होता है। पुरानी परिभाषा में 'दंडनीति और वार्ता' अर्थ के अंतर्गत आती है। काम का संबंध मानव की विभिन्न कामनाओं की पूर्ति से है। धर्म में उन सभी नियमों, व्यवस्थाओं, आचरण-संहिताओं तथा मूलभूत सिद्धांतों का अंतर्भाव होता है, जिनसे अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि हो।

इस प्रकार धर्म आधारभूत पुरुषार्थ है, किंतु फिर भी तीनों अन्योन्याश्रित तथा एक-दूसरे के पूरक और पोषक हैं। धर्म से अर्थ की सिद्धि होती है। यदि व्यापार भी करना हो तो मनुष्य को सदाचरण, संयम, त्याग, तपस्या, अक्रोध, क्षमा, धृति, सत्य आदि धर्म के लक्षणों का निर्वाह करना पड़ेगा, बिना इन गुणों

के पैसा नहीं कमाया जा सकता। साधन के रूप में तो धर्म को मानना ही पड़ेगा। अमरीका वालों ने कहा, 'व्यापार के मामले में सत्यनिष्ठा सर्वश्रेष्ठ नीति है (Honesty is the best business Policy), यूरोप के लोगों ने कहा-'सत्यनिष्ठा सर्वश्रेष्ठ नीति है। (Honesty is the best Policy)।'

हमारा उनसे एक कदम आगे चलकर कहता है कि 'सत्यनिष्ठा नीति नहीं अपितु सिद्धांत है। (Honesty is not a Policy but principle), अर्थात् धर्म में हमारा विश्वास केवल उसकी साधनता के कारण नहीं अपितु स्वयं है। राज्य का आधार भी हमने धर्म को माना है। अकेली दंडनीति राज्य को चला नहीं सकती। समाज में धर्म न हो तो राज्य नहीं टिक सकेगा। काम पुरुषार्थ भी धर्म के सहारे ही सधता है। भोजन उपलब्ध होने के उपरांत कब, कहाँ, कितना, कैसा और कैसे उसका उपयोग हो, यह तो धर्म ही निश्चित करेगा? अन्यथा, रोगी ने यदि स्वस्थ व्यक्ति का भोजन किया और स्वस्थ ने रोगी का तो दोनों का ही अकल्याण होगा। मनुष्य की मनमानी को रोकने, उसके स्वैराचरण पर लगाम लगाने तथा प्रेय पीछे श्रेय को न भूलने देने में धर्म ही सहायक होता है। अतः हमारे यहाँ धर्म का विशेष महत्व है।

धर्म महत्वपूर्ण है, परंतु यह भी नहीं भूलना चाहिए कि अर्थ के अभाव में धर्म नहीं टिक पाता। एक सुभाषित है-'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्, क्षीणाः नराः निष्करुणाः भवन्ति,' भूखा सब पाप कर सकता है। विश्वामित्र जैसे ऋषि ने भी भूख से पीड़ित होकर शरीर धारण करने के लिए चांडाल के घर में चोरी करके कुत्ते का जूठा मांस खाया था। अतः हमारे यहाँ आदेश है कि अर्थ का अभाव नहीं होने देना चाहिए, क्योंकि वह धर्म का द्योतक है। इसी प्रकार दंडनीति का अभाव अर्थात् अराजकता भी धर्म के लिए हानिकारक होती है। उसमें 'मात्स्यन्याय' काम करने लगता है। अतः राज्य की स्थापना धर्म के लिए अत्यंत आवश्यक है।

अर्थ द्वारा अनर्थ की संभावना

अर्थ के अभाव के समान ही अर्थ का प्रभाव भी धर्म का घातक होता है। प्रभाव का अभिप्राय आधिक्य मात्र नहीं है। जब व्यक्ति और समाज में अर्थ साधन न रहकर साध्य बन जाए तथा जीवन की सभी विभूतियाँ अर्थ से ही प्राप्त हों, तो वहाँ अर्थ का प्रभाव उत्पन्न हो जाता है और वह अर्थ संचय के लिए नानाविध पाप करता है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के पास अधिक धन हो, उसके विलासी बन जाने की संभावना बनी रहती है। जहाँ व्यक्ति को अर्थ के सदुपयोग का ज्ञान नहीं होता, वहाँ भी अर्थ का प्रभाव होता है। जहाँ 'गौण अर्थ' अर्थात् मुद्रा तथा उपभोक्ता वस्तुओं के लिए लगने वाली उत्पादक वस्तुओं का आधिक्य हो, वहाँ भी अर्थ का प्रभाव होता है। इन सभी प्रकार के अर्थ के प्रभावों से बचना चाहिए। इसके लिए शिक्षा, संस्कार, दैवी संपदायुक्त व्यक्तियों का निर्माण तथा अर्थव्यवस्था का उपयुक्त ढाँचा आदि का सहारा लेना आवश्यक होता है।

दंडनीति

अर्थ के अंतर्गत दंडनीति भी आती है। उसका प्रभाव भी धर्म के लिए हानिकारक होता है। राजा को बताया जाता है कि उसे न 'क्षीणदंड' होना चाहिए और न 'उग्रदंड' होना चाहिए, अपितु 'मृदुदंड' होना चाहिए। यदि शासक दंडनीति का अत्यधिक सहारा लेता है तो प्रजा में विद्रोह की भावना पैदा हो जाती है। जब धर्मभाव के स्थान पर दंड ही प्रजा के आचरण का नियामक बन जाए तो दंडनीति का प्रभाव हो जाता है तथा धर्म का ह्रास होने लगता है। निरंकुश राजाओं के शासन में धर्म की ग्लानि का यह प्रमुख कारण है।

राज्य की निरंकुशता

राज्य जब सब प्रकार की विभूतियों को अपने अधीन कर लेता है, तब भी उसका प्रभाव पैदा होकर धर्म की हानि होती है। राज्य की शक्ति और क्षेत्र अमर्यादित हो गए तो संपूर्ण जनता राज्यमुखापेक्षी बन जाती है। वहाँ राज्य का प्रभाव हो जाता है। राज्य में कर्तव्य-भावना के स्थान पर आसक्ति पैदा हो जाती है। ये सब प्रभाव के लक्षण हैं। इन अवस्थाओं में धर्म को धक्का लगता है, अतः अर्थ का दोनों ही दृष्टि से प्रभाव नहीं होने देना चाहिए।

काम का भी इसी प्रकार विचार किया गया है। काम पुरुषार्थ की ओर किंचित् भी ध्यान दिया नहीं गया तो धर्म की हानि होगी। बिना भोजन के धर्म नहीं चल सकता। मन को संतोष देने वाली ललित कलाओं, यज्ञ-यागादि कर्मों की अवहेलना हुई तो धर्म का पालन करने वाले संस्कार नहीं होंगे। मानव विकृत होगा तथा धर्म की हानि होगी। दूसरी ओर रोग के ग्लटन्स (Gluttons) की भाँति हम पेटू और विलासी बन गए अथवा ययाति की भाँति काम-मोहित होकर अपने सभी कर्तव्यों को भूल गए, तो भी धर्म की हानि होगी। अतः धर्म के अविरोधी काम पुरुषार्थ का अवश्य निर्वाह करना चाहिए।

इस प्रकार हमने व्यक्ति के जीवन का पूर्णता के साथ तथा संकलित विचार किया है। उसकी सभी भूखों को मिटाने की व्यवस्था की है। किंतु यह ध्यान रखा है कि एक भूख को मिटाने के प्रयत्न में दूसरी भूख न पैदा कर दें अथवा दूसरे के मिटाने का मार्ग बंद न कर दें। इस हेतु चारों पुरुषार्थों का संकलित विचार हुआ है। यह पूर्ण मानव की, एकात्म मानव की कल्पना है, जो हमारा आराध्य तथा हमारी आराधना का साधन, दोनों ही है।

❖❖❖

व्यष्टि, समष्टि-परमेष्ठि

(बंबई, 24 अप्रैल, 1965)

मानव केवल एक व्यक्ति मात्र नहीं है। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का समुच्चय है। व्यक्ति केवल एकवचन 'मैं' तक सीमित नहीं, उसका बहुवचन 'हम' से भी अभिन्न संबंध रखता है। अतः हमें समाज व समष्टि का भी विचार करना होगा।

समाज का निर्माण

समाज मानवों का समूह है, यह तो सामान्य बात है, किंतु समाज की सृष्टि कैसे हुई? इसके संबंध में अनेक प्रकार के विचार तत्ववेत्ताओं ने रखे हैं। पश्चिम का विचार, जिसके आधार पर वहाँ राजनीतिक व सामाजिक जीवन की सृष्टि हुई है, प्रायः यह है कि समाज व्यक्तियों का ऐसा समूह है, जो व्यक्तियों ने स्वयं मिलकर बनाया है अर्थात् यह व्यक्तियों के समझौते के आधार पर बना है। इसको 'सामाजिक

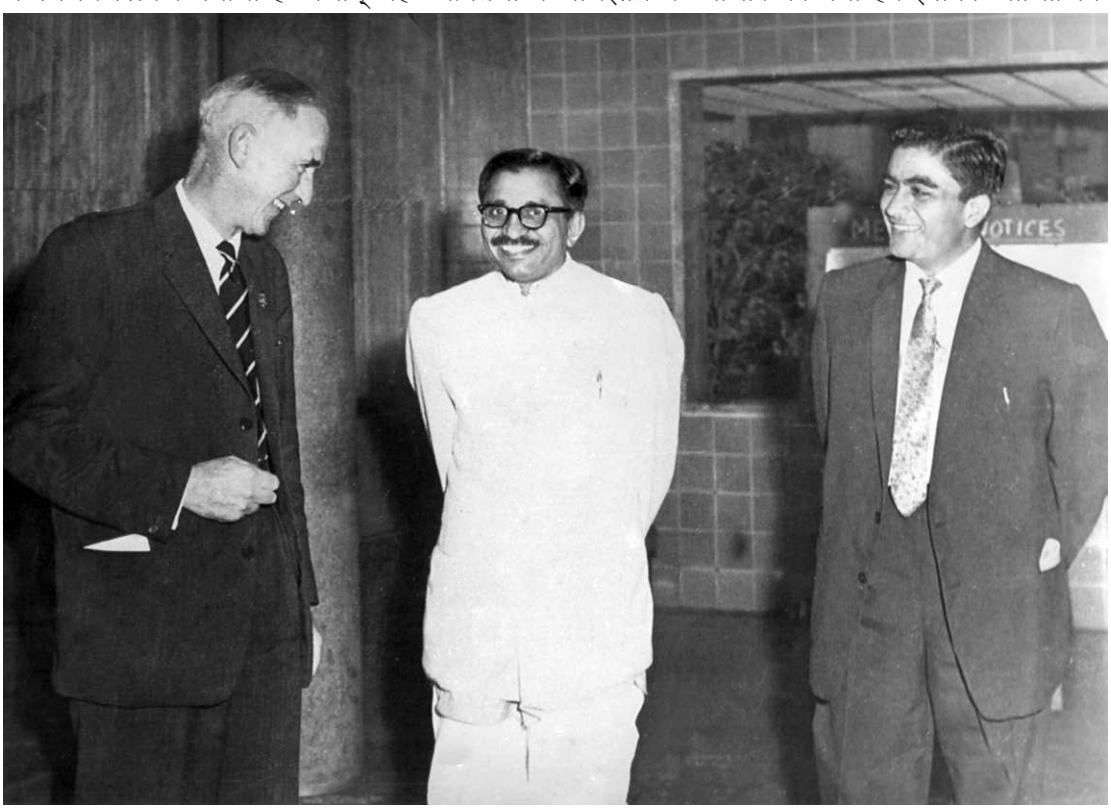

समझौता सिद्धांत' (Social Contract Theory) नाम से जाना जाता है। इसलिए वहाँ अधिक महत्व व्यक्ति का है, जो कि समाज की रचना करता है। पश्चिम के विचारों में कहीं अंतर है तो इसी बात का कि यदि व्यक्ति ने समाज की रचना कर ली तो 'अवशेष शक्ति' (Residuary Power) समाज के पास रहे अथवा व्यक्ति के पास? क्या व्यक्ति को समाज बदलने का अधिकार है? क्या समाज व्यक्ति के ऊपर भाँति-भाँति के बंधन लगाकर अपने प्रति निष्ठा की अपेक्षा कर सकता है? अथवा क्या व्यक्ति इन सब प्रश्नों के संबंध में स्वतंत्र हैं?

पश्चिम में यह विचार व विवाद का विषय बना रहा। किसी ने समाज का पक्ष लिया है और उसमें से संघर्ष की स्थिति पैदा हुई। सत्य तो यह है कि उनका यह विचार कि समाज का निर्माण व्यक्तियों ने किया है, मूलतः गलत है। समाज व्यक्तियों का मिला हुआ समूह है। यह बात सत्य होने पर भी व्यक्तियों ने समाज को बनाया या व्यक्ति मिले और समाज बना, ऐसा कहीं भी नहीं दिखाई देता।

समाज 'स्वयंभू' है

हमारे विचार के अनुसार समाज 'स्वयंभू' है। जिस प्रकार व्यक्ति पैदा होता है, उसी प्रकार समाज भी पैदा होता है। व्यक्ति मिलकर कभी समाज को नहीं बनाते। यह कोई आमोद प्रमोद-गृह (क्लब) नहीं है, संयुक्त समवाय (ज्वॉइंट स्टॉक कंपनी) जैसी सत्ता भी नहीं है या जैसे पंजीकृत समितियाँ (रजिस्टर्ड सोसाइटियाँ) बनती हैं, वैसी पंजीकृत समिति भी नहीं है, जैसे सहकारी समितियाँ होती हैं। वैसा भी नहीं है। वास्तव में समाज तो एक ऐसी सत्ता है, जिसकी अपनी आत्मा है, जिसका अपना एक जीवन है, इसलिए यह भी उसी प्रकार से जीवमान सत्ता है, जैसे मनुष्य जीवमान सत्ता। समाज को हमने किसी प्रकार के कृत्रिम संगठन के रूप में स्वीकार नहीं किया। समाज की अपनी हस्ती होती है। समाज के भी व्यक्ति की भाँति शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा होते हैं। इस बात को पश्चिम के कुछ लोग तथा मनोवैज्ञानिक भी अब स्वीकार करने लगे हैं। मैक्डूगल (Mcdougal) ने सामूहिक मन (Group Mind) जैसे नए मनोविज्ञान का प्रादुर्भाव किया। उसमें उसने इस बात और सत्य को स्वीकार किया कि जैसे मनुष्य अलग रहता है, उसका अपना मस्तिष्क होता है, वैसे ही समूह (Group) का भी मस्तिष्क रहता है।

परंतु व्यक्तियों की शक्ति का जोड़ मिला करके समूह या समाज की शक्ति नहीं बन जाती। समूह तथा व्यक्ति की शक्ति व बुद्धि का जोड़ मिला दिया जाए और उसमें से समाज की बुद्धि या शक्ति प्रकट हो जाए, ऐसी बात नहीं। समूह की बुद्धि, समूह की भावना, क्रियाशक्ति जैसी सामूहिक शक्तियाँ मूलतः व्यक्ति से भिन्न होती हैं और इसलिए कभी-कभी ऐसे अनुभव आते हैं कि नितांत दुर्बल से दुर्बल व्यक्ति भी व्यक्तिगत नाते से दुर्बल होते हुए भी समाज के नाते बड़ा पराक्रमी निकल आता है। व्यक्ति के नाते मनुष्य जिन बातों को सहन कर लेता है, समाज के नाते से वह उन बातों को सहन करने के लिए तैयार

नहीं होता। व्यक्ति के नाते से कोई व्यक्ति बहुत अच्छा तथा व्यक्तिगत नाते से बुरा हो सकता है। विचार करने की यह रीति बहुत महत्वपूर्ण है।

व्यक्ति व समाज की विचार पद्धतियाँ

व्यक्ति की विचार करने की पद्धति और समाज की विचार करने की पद्धति-इन दोनों में सदैव अंतर रहता है। अर्थात् ये दोनों जोड़-गणित से मिलाकर पैदा नहीं होते। यदि अच्छे व्यक्ति इकट्ठा हो जाएँ तो वे उसी प्रकार से विचार करेंगे, यह नहीं कहा जा सकता।

भारत के विद्यार्थी को ले लिया जाए तो आज का विद्यार्थी बड़ा सौम्य तथा सीधा देखने में आएगा। आज से 20 वर्ष पूर्व के विद्यार्थी जितनी उठक-पटक करते थे, उसकी तुलना में आज का विद्यार्थी बहुत दुबला-पतला, सभी तरह से मृदु दिखाई देता है। किंतु जब वैसे 40 विद्यार्थी मिल जाएँ तो बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती है। फिर तो वे सभी प्रकार की उच्छृंखलता कर सकते हैं। अर्थात् अकेला विद्यार्थी अनुशासनपूर्ण है, परंतु जब 40 मिल गए तो उनमें अनुशासनहीनता आ जाती है। यह स्थिति क्यों आ जाती है? इसका विचार करना पड़ेगा। इसे भीड़ की मानसिकता कहते हैं। यह मानसिकता वैयक्तिकता से भिन्न प्रकार की है। यह भीड़ मानसिकता समूह-मानस का एक छोटा सा रूप है।

किंतु जिसे समाज कहते हैं और उसकी जो मानसिकता होती है, वह तो बहुत समय से बनती रहती है। कुछ लोगों के कथनानुसार जब एक समूह बहुत समय तक इकट्ठा रहता है, तब साथ-साथ रहते हुए वातावरण के परिणाम स्वरूप एक साथ रहने की आदत पड़ने से उनकी सोचने की, विचार करने की प्रणाली बन जाती है। और अपनी पद्धतियाँ निर्मित हो जाती हैं। यह तो सत्य है कि साथ रहने से लोगों में कुछ बातों में एकता हो जाती है-'समानशीलेव्यसनेषु सख्यम्'। किंतु जिसे राष्ट्र या समाज कहते हैं, वह इतने मात्र से नहीं बनता।

बड़े-बड़े राष्ट्र समाप्त क्यों हो गए?

यह सब जानते हैं कि पुराने-पुराने कुछ राष्ट्र समाप्त हो गए। जिस यूनान में अलेक्जेंडर पैदा हुआ था, जिसमें हेरेडोटस पैदा हुआ था, जिसमें यूलिसिस पैदा हुआ था, जिसमें अरस्तु, सुकरात व प्लेटो पैदा हुए थे, उस यूनान और आज के यूनान में रहने वालों को मानव की दृष्टि से देखेंगे तो उनकी वंश-परंपरा में तो कोई व्यवधान नहीं पड़ा, क्योंकि कभी ऐसा नहीं हुआ है कि वहाँ रहने वाले सब मर गए या यूनान उजड़ गया। पुराने यूनान के मानव की पिता-पुत्र परंपरा समाप्त नहीं हुई। वहाँ मानव निःशेष नहीं हुए। हो सकता है कि आज जो यूनान में रहते हैं, उनके पिता-पितामह की पीढियाँ देखी जाएँ तो वे 250-500 पीढ़ी पुराने यूनानियों के साथ जुड़ जाएँगे। किंतु इतना होने पर भी आज पुराना यूनान राष्ट्र नहीं है। मिस्र का पुराना राष्ट्र समाप्त हो गया। वहाँ एक नया राष्ट्र है। यह कैसे हो गया? दूसरी ओर यहूदियों को लें।

वे सदियों तक भिन्न देशों के लोगों के साथ रहे। पर इस संसर्ग से वे उनके मानस के साथ एकात्म नहीं हुए। इससे स्पष्ट है कि राष्ट्र के अस्तित्व का कारण एक साथ रहना नहीं, वरन् कोई दूसरी वस्तु है।

राष्ट्र किसे कहें?

राष्ट्र का अस्तित्व उसके नागरिकों के जीवन का ध्येयभूत आधार है। जब एक मानव-समुदाय के समक्ष एक व्रत, विचार या आदर्श रहता है और वह समुदाय किसी भूमि विशेष को मातृभाव से देखता है तो वह राष्ट्र कहलाता है। इनमें से एक का भी अभाव रहा तो राष्ट्र नहीं बनेगा। जैसे शरीर में 'आत्मा' नाम की वस्तु है। आत्मा के कारण व्यक्ति रहता है। आत्मा और शरीर का संबंध छूटने पर हम कहते हैं कि वह व्यक्ति समाप्त हो गया, उसी प्रकार ये विचार या मूलभूत सिद्धांत है। यद्यपि हमारे यहाँ माना गया है कि आत्मा का पुनर्जन्म होता है, परंतु पुनर्जन्म लेने वाले तथा इस व्यक्ति में अंतर रहता है। दोनों को हम अलग-अलग मानते हैं। पुनर्जन्म उसी व्यक्ति का होता होगा, परंतु जन्मा व्यक्ति दूसरा होता है। यह व्यक्ति यदि समाप्त हो गया तो इसमें भी समाप्त होने वाली मुख्य बात यह है कि इसमें आत्मा नहीं रही। शरीर की अन्य बातों में भी परिवर्तन होता है। बच्चे से बूढ़े होने तक कितना परिवर्तन हो जाता है। शरीर-शास्त्रियों का तो कहना है कि हमारे शरीर का प्रत्येक कोश कुछ वर्ष में पूर्ण रूपेण बदल जाता है अर्थात् पुराना शरीर नहीं रहता, पूरा नया हो जाता है। इसमें तरह-तरह के परिवर्तन हो जाते हैं। परंतु चूँकि आत्मा बनी रहती है, इसलिए आत्मा के कारण शरीर चलता रहता है। इसे तर्क-शास्त्र में 'मान्यता का सिद्धांत' कहते हैं। शायद उस मान्यता के कारण वह वस्तु चली आती है। इसके संबंध में एक रुचिपूर्ण उदाहरण लोग नाई के उस्तरे का दिया करते हैं।

कहते हैं कि एक बार एक नाई ने हजामत बनाते समय बताया कि उसका उस्तरा 60 वर्ष पुराना है। उसके पिता उसी उस्तरे से हजामत बनाते थे। ग्राहक को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसे यह देखकर तो और भी आश्चर्य हुआ कि उस्तरे का बेंट तो बहुत चमक रहा है। उसने पूछा, 'तुम्हारे उस्तरे का बेंट तो बड़ा चमक रहा है, 60 वर्ष से इसकी चमक कैसे टिकाकर रखी है?' इस पर नाई ने सहज भाव से उत्तर दिया, 'साठ बरस चमक कैसे टिक सकती है? बेंट तो अभी छह महीने पहले लगाया है।' इस पर ग्राहक ने पूछा, 'और उस्तरे का छुरा कब का है?' नाई बोला, 'इसे बदलवाए तीन वर्ष हो गए।' अर्थात् कभी छुरा बदल गया, कभी बेंट, पर उस्तरा पुराना ही रहा। उसकी मान्यता बनी रही। इसी प्रकार व्यक्ति की अनेक बातें बदल जाती हैं, फिर भी उसकी मान्यता बनी रहती है।

राष्ट्र की 'आत्मा-चिति'

उसी प्रकार राष्ट्र की भी एक आत्मा होती है। उसका एक शास्त्रीय नाम है। इसे 'चिति' कहा गया है। मैक्डूगल के अनुसार किसी भी समूह की एक मूल प्रकृति होती है। वैसे ही 'चिति' किसी समाज की वह प्रकृति है, जो जन्मजात है तथा जो ऐतिहासिक कारणों से नहीं बनी।

मनुष्य के व्यक्तित्व व आत्मा, व्यक्तित्व व चरित्र तथा चरित्र व आत्मा, इन सबमें अंतर रहता है। व्यक्ति जीवन भर में जितने कर्म करता है, जितने संस्कार उस पर होते हैं या जो विचार आते हैं, उन सबका उस पर एक संकलित परिणाम होता है। इस संकलित परिणाम से उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। परंतु आत्मा में कोई वस्तु जुड़ती नहीं। उसी प्रकार राष्ट्र की संस्कृति में ऐतिहासिक कारणों तथा वातावरण से उत्पन्न स्थिति के सामूहिक परिणामों से बहुत बातें जुड़ जाती हैं। समाज के संसर्ग से, समाज के प्रयत्नों से, समाज के इतिहास के परिणामस्वरूप, जिन तत्वों का वे निर्माण करते हैं और जिन्हें वे अच्छा और गौरवदायी समझते हैं, वे सब संस्कृति के अंतर्गत तो आ जाते हैं, परंतु चिति के अंतर्गत नहीं आते। चिति तो मूलभूत होती है। चिति को लेकर तो प्रत्येक समाज पैदा होता है और उस समाज की संस्कृति दिशा चिति निर्धारित करती है, अर्थात् जो वस्तु चिति के अनुकूल होती है। वह संस्कृति में सम्मिलित कर ली जाती है।

उदाहरण के तौर पर हमारे यहाँ महाभारत का युद्ध हुआ, जिसमें कौरवों की पराजय व पांडवों की विजय हुई। परंतु पांडवों की विजय को हमने धर्म क्यों कहा व कौरवों को क्यों नहीं कहा? या यह क्यों नहीं कहा कि यह तो सीधी-सादी राज्य की लड़ाई है? लंका में जब राम युद्ध करने गए तथा विभीषण ने जो किया उसे तो देशद्रोह कहना चाहिए, परंतु हममें से कोई भी उसे देशद्रोह नहीं कहता। विभीषण को तो राजद्रोह करने के बाद भी सब अच्छा कहते हैं। उसने देशद्रोह किया, राजद्रोह तथा भ्रातृद्रोह किया। भाई को, राजा को छोड़ करके वही काम किया, जो जयचंद ने किया था। उसको क्विजलिंग (द्वितीय महायुद्ध में नॉर्वे का देशद्रोही नागरिक) कहना चाहिए। पर विभीषण को कोई क्विजलिंग नहीं कहता। उसकी बड़ी प्रशंसा करते हैं कि उसने ठीक काम किया तथा रावण ने कुछ किया उसके लिए हमारे मन में अनादर है। ऐसा क्यों है? इसके पीछे कोई राजनीतिक कारण नहीं है। युधिष्ठिर के लिए सम्मान और दुर्योधन के लिए अनादर राजनीतिक कारणों से नहीं है। कृष्ण भगवान् ने कंस को पछाड़ दिया, मामा की हत्या की, उस समय के राजा को हटाया। परंतु कृष्ण को भगवान् का अवतार मानते हैं और कंस को हम असुर कहते हैं, यह क्यों? इसका निर्णायक यदि कुछ है तो यह कि वह हमारे मन की प्रकृति या चिति थी, उसके अनुकूल जो-जो हुआ, उसे हम अपनी संस्कृति में जोड़ते गए।

वे तो हमारे ऊपर संस्कार करने वाली बातें हैं और उसके प्रतिकूल चलने वाली बातों को हमने विकृति कहा। जो हमारे अनुकूल नहीं हो सकती, हमने उन बातों को छोड़ दिया। उस इतिहास को हमने अपना नहीं माना। 'चिति' वह मापदंड है, जिससे हर वस्तु को मान्य अथवा अमान्य किया जाता है। यही राष्ट्र की आत्मा है। इसी आत्मा के आधार पर राष्ट्र खड़ा होता है और यही आत्मा राष्ट्र के प्रत्येक श्रेष्ठ व्यक्ति के आचरण द्वारा प्रकट होती है।

व्यक्ति राष्ट्र का उपकरण भी

व्यक्ति भी इस राष्ट्र को प्रकट करने का एक साधन है। इस प्रकार व्यक्ति अपने स्वयं के अतिरिक्त राष्ट्र का भी प्रतिनिधित्व करता है। इतना ही नहीं, अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए राष्ट्र जितनी संस्थाओं को जन्म देता है, उनका उपकरण भी व्यक्ति ही है और इसलिए वह उनका भी प्रतिनिधि है। राष्ट्र में व्यापक जो समष्टियाँ हैं, जैसे 'मानव', उनका भी प्रतिनिधित्व व्यक्ति ही करता है। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का बहुमुखी व्यक्तित्व है, परंतु उनमें पारस्परिक खिंचाव या संघर्ष नहीं अपितु एकात्मता, समन्वय एवं सामंजस्य रहता है। इस तथ्य को समझकर, इस सामंजस्य के नियमों का आकलन और उसकी व्यवस्था ही मानव के आदर्शों के बीच की विसंगति को दूर कर उसे सुख और शांति दे सकती है तथा उसका विकास कर सकती है।

'संस्था' द्वारा राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति

जीवशास्त्री डार्विन के सिद्धांत मानने वालों के अनुसार भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में प्राणी को जीवित रहने के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार के अंग बनते चले जाते हैं। परंतु हमारे यहाँ इसे दूसरे रूप में कहा है कि प्राण की शक्ति के सहारे मनुष्य की आत्मा अपने लिए जितने अंगों की आवश्यकता समझती है, उनका निर्माण करती है। जैसे शरीर में निर्माण कार्य आत्मा करती है, वैसे ही राष्ट्र में भी ऐसे बहुत से अंग आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए निर्मित होते हैं। यदि कारखाना खोल लिया तो जिस प्रकार अपने काम का निर्वाह करने के लिए उसमें बहुत से, भाँति-भाँति के विभाग होते हैं-कहीं मशीन लगाई जाती है, कहीं भवन बनाया जाता है, कहीं बिक्री का काम किया जाता है-उसी प्रकार राष्ट्र भी अनेक प्रकार के विभाग जैसे अंग पैदा करता है, जिन्हें हम संस्थाएँ कहते हैं। 'संस्थाओं' को जन्म राष्ट्र अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देता है। कुटुंब, जाति, वर्ण, श्रेणी पुराने समय में अपने यहाँ थीं। श्रमिक संगठन (ट्रेड यूनियन) व गिल्ड या पुग आदि इस प्रकार की विभिन्न संस्थाएँ हैं। संपत्ति भी एक संस्था है। विवाह भी एक संस्था है।

अपने यहाँ वर्णन है कि बहुत पुराने समय में विवाह होते ही नहीं थे। बाद में एक ऋषि ने इस विवाह-पद्धति का निर्माण किया। यह एक संस्था उन्होंने बनाई। पहले हमारे यहाँ गुरुकुल एक संस्था चलती थी। ऋषिकुल की भी एक संस्था चलती थी। इसी प्रकार से अनेक संस्थाओं में राज्य भी एक संस्था है। इसका निर्माण भी राष्ट्र करता है। पश्चिम में जो गड़बड़ आ गई, उसका कारण यह है कि उन्होंने राज्य व राष्ट्र को एक वस्तु समझा। राज्य व राष्ट्र वास्तव में एक नहीं हैं। राज्य का निर्माण हमारे यहाँ सामाजिक समझौते के अनुसार हुआ। पहले राजा नहीं था। महाभारत में वर्णन है कि कृतयुग में न राज्य था, न राजा था, न दंड था, न दंड देनेवाला, सब प्रजा धर्म के आधार पर एक-दूसरे की रक्षा करती थी।

न राज्यं न राजसीत् न दण्ड्यो न च दाण्डिकः। धर्मेणैव प्रजा सर्वाः रक्षन्तिस्म परस्परम्॥

धर्म की ग्लानि के कारण अव्यवस्था उत्पन्न

बाद में अव्यवस्था आई, लोभ आया, क्रोध आया, धर्म की ग्लानि हुई और 'मात्स्यन्याय' प्रारंभ हो गया। सारे ऋषि घबराए कि कैसे काम चलेगा? सभी ब्रह्माजी के पास गए। ब्रह्माजी ने स्वयं रचा हुआ एक ग्रंथ इन ऋषियों को दिया, जो 'दंडनीति' या 'राज्य-शास्त्र' के संबंध का ग्रंथ था। उन्होंने साथ-साथ आकर मनु से कहा कि तुम राजा हो जाओ। परंतु मनु ने कहा-मैं राजा नहीं होता, क्योंकि राजा बनने के बाद मुझे दंड करना पड़ेगा और कुछ लोगों को मारना होगा, कुछ को पीटना होगा, कुछ को कारागृह में डालना होगा व अन्य कई कठोर कर्म करने पड़ेंगे। मैं यह पाप क्यों करूँ? इस पर ब्रह्माजी ने कहा, 'ऐसी कुछ बात नहीं है। यह पाप नहीं, बल्कि अन्य लोग धर्म का काम करें, इसके लिए तुम यह काम करोगे, अतः यह भी धर्म ही गिना जाएगा। इतना ही नहीं, प्रजा के जितने कर्म होंगे, उन कर्मों का एक भाग तुम्हें मिल जाएगा और इसलिए ये जितना धर्म करेंगे, उसका एक भाग स्वयं तुम्हें मिल जाएगा।' इसमें बताया तो नहीं, पर मैं समझता हूँ कि यदि प्रजा पाप या अधर्म करेगी और राजा उसे रोक नहीं सके तो उस पाप का भाग भी राजा को मिलना चाहिए। ऐसा नहीं हो सकता कि 'मीठा मीठा गप्प और कड़वा-कड़वा थू।' दोनों ही मिलने चाहिए। यह समझौता सिद्धांत राज्य के ऊपर लागू हो सकता है, राष्ट्र के ऊपर नहीं। परंतु पश्चिम में कुछ उल्टा हुआ। समाज तो उनकी दृष्टि में समझौते में से पैदा हुआ, परंतु राजा दैवी अधिकार के आधार पर सीधा ईश्वर का प्रतिनिधि बन गया। यह उल्टी बात है। हमारे यहाँ राजा को चाहे आदि समय से पैदा हुआ माना गया, परंतु समाज को तो 'स्वयंभू' माना है। राज्य एक संस्था के रूप में है।

व्यक्ति एकांगी नहीं, बहुअंगी है

राज्य के समान और संस्थाएँ भी आवश्यकतानुसार समय-समय पर पैदा होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति इनमें से प्रत्येक संस्था का अंग रहता है। यथा कुटुंब का मैं अंग हूँ, जाति-व्यवस्था हो तो उसका भी अंग हूँ, मेरा कोई धंधा है तो उसका भी मैं एक अंग हूँ, इस समाज का भी मैं एक अंग हूँ और इस समाज से आगे यदि पूर्ण मानवता का विचार करें तो उसका भी मैं एक अंग हूँ। मानव से आगे बढ़कर यदि हम इस चराचर जगत का विचार करें तो उसका भी मैं एक अंग हूँ। वास्तविकता यह है कि व्यक्ति नाम की जो वस्तु है, वह एकांगी नहीं बल्कि बहुअंगी है, परंतु महत्वपूर्ण बात यह है कि अनेक अंगों वाला होकर भी परस्पर सहयोग, समन्वय व पूरकता और एकात्मता के साथ चल सकता है। व्यक्ति का यह गुण ईश्वर प्रदत्त है।

जो व्यक्ति इस गुण का ठीक प्रकार से उपयोग कर सकता है, वह व्यक्ति सुखी व जो गुण का ठीक प्रकार से उपयोग न कर सके, वह दुःखी, उसका विकास ठीक नहीं होगा। उदाहरण लें तो एक व्यक्ति घर में अपनी माँ का बेटा होता है, अपनी पत्नी का पति होता है, अपनी बहन का भाई होता है, अपने पुत्र का पिता होता है। एक ही व्यक्ति है, परंतु वह पिता भी है, पुत्र भी है, भाई भी है, पति भी है। इतने संबंध

आ गए। व्यक्ति को इन सब संबंध-नातों को बड़ी कुशलता के साथ निभाना होता है। जहाँ ढंग से नहीं निभता, वहाँ झगड़ा होता है। यदि वह बहन का पक्ष लेता है तो पत्नी कहती है कि तुम अपनी बहन का पक्ष लेते हो। ननद-भौजाई का झगड़ा यहीं से पैदा होता है। सास-बहू का झगड़ा इसमें से पैदा होता है। इस झगड़े में पति बेटे की मुसीबत होती है। वह परेशान रहता है। क्योंकि माता का प्रेम व पत्नी के प्रति दायित्व व प्रेम-इनमें संघर्ष आता है। इसमें संघर्ष न आए अर्थात् वह इसे ठीक प्रकार से निभाए-ऐसा जब हो सकेगा तो हम कह सकेंगे कि व्यक्तित्व का जो विकास होगा वह समन्वित होगा।

समाज और व्यक्ति में

हम समाज की अनेक संस्थाओं में स्थायी संघर्ष या हितविरोध नहीं मानते। यदि कहीं ऐसा दिखता है तो वह विकृति का द्योतक है, प्रकृति अथवा संस्कृति का नहीं। पश्चिम में कुछ लोगों ने माना कि जीवन का मूलभूत विकास संघर्षों में हुआ है, इसलिए वे समझते हैं कि राज्य व व्यक्ति में सदैव संघर्ष की स्थिति रहती है। इसी आधार पर उन्होंने वर्ग-संघर्ष की कल्पना की है। समाज में वर्ग होते हैं। अपने यहाँ भी जातियाँ बनीं, किंतु एक जाति व दूसरी जाति में संघर्ष का विचार हमने नहीं माना। हमारे वर्णों की कल्पना भी विराट पुरुष के चारों अंगों से की गई है।

विराट पुरुष के सिर से ब्राह्मण पैदा हुआ, बाहुओं से क्षत्रिय पैदा हुआ। उसके उर से वैश्य पैदा हुआ और पैर से शूद्र पैदा हुआ। यह जो कल्पना आई, इसका विचार करें कि पैर, हाथ, सिर व उर इनके बीच कोई संघर्ष है क्या?

यदि संघर्ष मानकर चलें तो शरीर चलेगा ही नहीं। पैरों व सिर में संघर्ष नहीं होता। संघर्ष का तो प्रश्न ही नहीं, बल्कि दोनों में कुछ है तो 'एकात्मता' है। ये अंग एक-दूसरे के पूरक ही नहीं, उनमें पूर्ण अभिन्नता एवं आत्मीयता है।

समाज की संस्थाओं में विभिन्न कारणों से कभी विकार आ सकता है। समाज का प्राण दुर्बल हो गया हो तो सब अंग दुर्बल और निस्तेज हो जाएँगे। कभी अंग विशेष में दोष आ सकता है तो कभी देश, काल, परिस्थिति के अनुसार संस्थाओं की उपादेयता और आवश्यकता में भी अंतर आ सकता है। आज व्यवहार में संस्था कैसी है, अपितु कैसी होनी चाहिए, इसका विचार भी आवश्यक है। परस्पर पूरकता तथा एकात्मता ही व्यवहार के मापदंड हो सकते हैं। कुटुंब, जाति, श्रेणी, पंचायत, जनपद, राज्य आदि सब संस्थाएँ राष्ट्र तथा मानव के अंगभूत हैं। उनमें एकात्म भाव चाहिए। वे परस्पर पूरक हैं, परस्परावलंबी हैं, इसलिए उनमें परस्परानुकूलता की वृत्ति उत्पन्न होनी चाहिए, परस्पर संघर्ष या विरोध की नहीं।

राज्य ही सब कुछ नहीं

विभिन्न संस्थाओं में राज्य एक महत्वपूर्ण संस्था है, किंतु सर्वोपरि नहीं। आज विश्व में जो समस्याएँ पैदा हो रही हैं, उनका एक प्रमुख कारण यह भी है कि लोग प्रायः राज्य और समाज में समीकरण करके

चलते हैं। वे तत्वतः अथवा व्यवहार में तो निश्चित ही राज्य को ही समाज का एकमेव प्रतिनिधि मानते हैं। दूसरी संस्थाएँ इतनी नगण्य हो गई हैं तथा राज्य इतना प्रभावी हो गया है कि संपूर्ण शक्ति उसमें केंद्रित होकर उसका एकाधिकार बढ़ता जा रहा है।

हमने राज्य को ही राष्ट्र का एकमात्र प्रतिनिधि नहीं माना, इसलिए हमारे यहाँ यह हुआ कि राज्य समाप्त होने के बाद भी हमारा राष्ट्र समाप्त नहीं हुआ। ईरान में राज्य समाप्त होते ही ईरान का राष्ट्र समाप्त हुआ। किंतु हमारे यहाँ राज्य के कई बार पराधीन बनने का अवसर आया। राजनीतिक दृष्टि से दिल्ली के सिंहासन के ऊपर कभी पठान बैठे, कभी तुर्क, कभी मुगल बैठे, कभी अंग्रेज बैठे, किंतु इसके बाद भी हमारा राष्ट्र जीवित रहा, क्योंकि हमारे जीवन का केंद्र राज्य नहीं था। यदि राज्य को जीवन का केंद्र मानकर चले होते तो हम समाप्त हो गए होते। जैसा पुराने समय की बहुत सी कथाओं में आता है कि कोई राक्षस था, उसके प्राण किसी तोते के अंदर थे, इसलिए राक्षस को मारने के लिए तोते की गरदन मरोड़ दी और राक्षस का अंत हो गया। उसी प्रकार से जिन लोगों के प्राण राज्य में थे, यहाँ राज्य के नष्ट होते ही राष्ट्र का प्राण भी निःशेष हो गया। किंतु जिन राष्ट्रों ने यह माना, जैसा हमने माना, कि हमारा प्राण राज्य में नहीं है, वहाँ राज्य जाने के बाद भी राष्ट्र नहीं गया।

राज्य के प्रति उदासीनता हानिकारक

इस धारणा के कुछ दुष्परिणाम भी हुए हैं। स्व. बाबासाहब आंबेडकर ने बताया कि हमारे यहाँ पंचायतें इतनी सुदृढ़ थीं कि हम दिल्ली के सिंहासन के संबंध में उदासीन हो गए। राज्य के प्रति जितना सचेष्ट व सतर्क हमें रहना चाहिए था, हम नहीं रहे, क्योंकि हमें लगा कि हमारा प्राण उसमें नहीं है। परंतु हम यह भूल गए कि चाहे वहाँ प्राण नहीं होगा, परंतु उसका इतना महत्व तो अवश्य है, जितना महत्व शरीर के किसी अंग का होता है।

शरीर का एक बाल काटते-काटते थोड़ी सी त्वचा भी काट ली और साथ में सिर को भी काटने का प्रयत्न किया तो हानि हो जाएगी। इसलिए शरीर की तो रक्षा करनी ही पड़ेगी। शरीर में ये भिन्न-भिन्न अंग सर्वस्व नहीं होगे, किंतु महत्व के हैं। इस दृष्टि से राज्य को महत्व देना चाहिए था, और ऐसे लोग पैदा हुए, जिन्होंने ध्यान दिया। आखिर छत्रपति शिवाजी इसीलिए हुए व स्वामी रामदास ने शिवाजी महाराज को इसीलिए कहा कि 'अपना राज्य चलाओ'। धर्म में पूर्ण शक्ति है, वह महत्व की वस्तु है। इसलिए जैसे वे स्वयं धर्मप्रचार में लगे थे, उसी प्रकार छत्रपति शिवाजी महाराज को भी संन्यासी बना देते। किंतु उन्होंने ऐसा न करके राज्य-प्राप्ति की ही प्रेरणा दी। कारण, राज्य भी एक महत्वपूर्ण संस्था है। किंतु महत्व की वस्तु मानना एक बात है तथा उसे सर्वोपरि मानकर चलना दूसरी बात। राज्य सर्वोपरि नहीं है, किंतु प्रश्न पैदा होता है कि यदि राज्य सर्वोपरि नहीं तो सर्वोपरि क्या है? कौन सी वस्तु सर्वोपरि है, इसका विचार करें। इसके लिए, राज्य की उत्पत्ति क्यों हुई, इसका विचार करना होगा।

राज्य और धर्म

यह तो सभी मानते हैं कि राज्य का कोई-न-कोई लक्ष्य होना चाहिए, उसका आदर्श होना चाहिए। अतः सर्वोपरिता राज्य की नहीं, आदर्श की होनी चाहिए। पहरेदार खजाने से बड़ा नहीं हो सकता, कोष की तुलना में कोषाध्यक्ष छोटा ही माना जाएगा। राज्य राष्ट्र की रक्षा के लिए पैदा होता है, राष्ट्र के आदर्शों के व्यवहार में लाने की व्यवस्था पैदा करने तथा बनाए रखने के लिए पैदा होता है। राष्ट्र का आदर्श अर्थात् 'चिति'। चिति गहन है। उसकी अभिव्यक्ति और व्यवहार के नियमों को ही उस राष्ट्र का धर्म कहते हैं। अतः महत्ता किसी वस्तु की है तो वह 'धर्म' है। यदि हमारा प्राण कहीं है तो वह धर्म में है। धर्म गया कि प्राण गया। इसलिए जिसने धर्म छोड़ा, वह राष्ट्र से च्युत हो गया। उसका सबकुछ चला गया।

धर्म क्या है?

धर्म का संबंध केवल मंदिर-मस्जिद से नहीं है। उपासना व्यक्तिधर्म का एक अंग हो सकती है, किंतु धर्म तो व्यापक है। मंदिर-मस्जिद लोगों में धर्माचरण की शिक्षा का प्रभावी माध्यम रहे हैं। किंतु जिस प्रकार विद्यालय विद्या नहीं है, वैसे ही मंदिर-मस्जिद धर्म से भिन्न है। हो सकता है, कोई बालक प्रतिदिन पाठशाला जाए और फिर भी अनपढ़ रह जाए। उसी प्रकार प्रतिदिन मस्जिद या मंदिर में जानेवाला व्यक्ति भी धर्म-विहीन हो सकता है; मंदिर-मस्जिद में जाना मत, मजहब, रिलिजन है। रिलिजन को बहुत बार लोगों ने धर्म मान लिया। अंग्रेजी अनुवाद के कारण हमारी जो बहुत सी हानियाँ हुई हैं, उनमें से एक बहुत बड़ी हानि यह भी हुई है।

धर्म मजहब नहीं होता

एक ओर तो हम 'रिलीजन' को धर्म के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयोग करने लगे तथा दूसरी ओर अपने धर्म और जीवन का अज्ञान तथा यूरोपीय जीवन का अधिकाधिक ज्ञान हमारी शिक्षा का विषय बन गया। फलतः 'रिलीजन' के जितने सहचारी भाव हैं, वे हमने धर्म पर आरोपित कर दिए। ''यदि यूरोप में रिलिजन के नाम पर अन्याय, अत्याचार, संघर्ष और युद्ध हुए तो वे सब हमारे यहाँ भी धर्म के खाते में चढ़ा लिये गए। हमें लगा कि धर्म पर भी लड़ाई हो सकती है, परंतु धर्म की लड़ाई दूसरी है और 'रिलिजन' की लड़ाई दूसरी है।'' रिलिजन यानी मत, पंथ, मजहब-यह एक धर्म नहीं है। धर्म तो व्यापक तत्व है। वह जीवन के सभी पहलुओं से संबंध रखनेवाला तत्व है। उससे समाज की धारणा होती है और आगे बढ़े तो सृष्टि की धारणा होती है। यह धारणा करने वाली जो वस्तु है, वह 'धर्म' है।

धर्म के तत्व सनातन और सर्वव्यापी

धर्म के मूलभूत तत्व सनातन और सर्वव्यापी हैं। हाँ, उनका व्यवहार देश, काल, परिस्थिति सापेक्ष

होता है। मनुष्य को शरीर धारण करने के लिए भोजन करना चाहिए। यह नियम शाश्वत है, किंतु व्यक्ति विशेष को कब, कैसा और कितना भोजन करना चाहिए, यह परिस्थिति-सापेक्ष होगा। कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि भोजन नहीं चाहिए; किसी मनुष्य को टायफॉयड हो गया और हमने कहा कि शरीर धारण करने के लिए भोजन चाहिए और उसे भोजन करा दिया तो कठिनाई पैदा हो जाएगी। उस समय 'भोजन नहीं चाहिए' यह नियम लागू करना पड़ेगा। उसे उपवास करना भी आवश्यक हो जाएगा। इस प्रकार धर्म के जो नियम हैं, उनका व्यवहार समय के साथ, युग के साथ बदलता रहता है, इसलिए देश-काल के आधार पर इन नियमों का पालन करना चाहिए।

तात्विक आधार पर बने नियम धार्मिक होते हैं

कुछ नियम थोड़ी देर के लिए होते हैं और कोई नियम बड़ी देर के लिए बने हुए होते हैं। यहाँ की इस सभा के कुछ नियम हैं, जिनके आधार पर हम चल रहे हैं। इनमें से एक नियम यह है कि मैं बोलूँ और आप शांत रहकर सुनें। आप यदि इस नियम का उल्लंघन करने लगे व आपस में बोलने लगे, यह आप भी खड़े होकर बोलने लगे तो कहना होगा कि हम अपने धर्म से च्युत हो जाएँगे, धर्म का पालन नहीं करेंगे, हमारी धारणा नहीं होगी, हमारा काम नहीं चलेगा। कठिनाई हो जाएगी। अतः हमारा धर्म है उस नियम का पालन करना, जिससे इस सभा की धारणा होती है, सभा टिकती है, सभा चलती है। परंतु ये नियम तब तक लागू हैं, जब तक कि सभा है। सभा समाप्त होने पर, घर जाकर भी आपने नहीं बोला तो कठिनाई पैदा हो जाएगी। घर के लोगों को डॉक्टर बुलाना पड़ेगा। घर जाकर वहाँ के नियमों का पालन करना आवश्यक है। नियमों की संपूर्ण संहिता और उसके तात्विक आधार का नाम धर्म है। ये नियम मनमाने नहीं हो सकते। उनसे उस सत्ता की धारणा होनी चाहिए, जिसके लिए वे बने हैं तथा दूसरी सत्ता के अविरोधी तथा पोषक होने चाहिए। यदि हम कोई पंजीकृत समिति बनाएँ तो हमें यह अधिकार और स्वतंत्रता है कि उस समिति के उपनियम बनाएँ। पर ये उपनियम समिति के नियमों और विधान के प्रतिकूल नहीं हो सकते। समिति के नियम और विधान पंजीकृत समिति अधिनियम (रजिस्टर्ड सोसाइटीज ऐक्ट) के विरुद्ध नहीं हो सकते। अधिनियम को संविधान के अनुकूल होना आवश्यक है। अर्थात् संविधान वह विधान है, जिसके अनुसार देश के सभी विधान बनने चाहिए। जर्मनी में संविधान को 'बेसिक लॉ' कहते हैं। किंतु क्या संविधान भी किन्हीं नियमों का पालन करता है? अथवा वह संविधान सभा की मनमानी का द्योतक है? गंभीरता से विचार करें तो पता चलेगा कि संविधान को भी कुछ आधारभूत प्राकृतिक नियमों का अनुकरण करना पड़ता है। संविधान राष्ट्र की धारणा के लिए है। यदि वह राष्ट्र की धारणा के स्थान पर उसकी हानि करनेवाला हो तो वह गलत होगा, उसका संशोधन करना होगा। क्या संशोधन भी मनमाना अथवा दो-तिहाई बहुमत की इच्छा पर निर्भर होगा।

आजकल बहुमत की बहुत चर्चा की जाती है। क्या बहुमत सबकुछ कर सकता है? क्या जनता, जिसे प्रभु सत्ता-संपन्न कहा जाता है, सब कुछ कर सकती है? और वही न्याय होना चाहिए? नहीं।

पश्चिम में पहले राजा सर्वप्रभुता-संपन्न होता था। बाद में जब राजाओं के विरुद्ध विद्रोह हुआ तो जनता के सर्वप्रभुत्व का सिद्धांत रखा गया। किंतु हमारे यहाँ जनता भी सर्वप्रभुत्व-संपन्न नहीं है। यहाँ राजा सर्वप्रभु नहीं है। संसद् सब कुछ नहीं कर सकती। इंग्लैंड की पार्लियामेंट के बारे में कहते हैं कि वहाँ की पार्लियामेंट सॉवरेन है और वह सब कुछ कर सकती है। उन्होंने कहा, ''वह स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री बनाने के अतिरिक्त सब कुछ कर सकती है।'' परंतु क्या इंग्लैंड की पार्लियामेंट यह नियम बना सकती है कि इंग्लैंड का प्रत्येक व्यक्ति सिर के बल चले? नहीं बना सकती। क्या इंग्लैंड की पार्लियामेंट यह विधान बना सकती है कि इंग्लैंड का हर व्यक्ति प्रतिदिन पुलिस थाने में आकर उपस्थिति लिखावे। नहीं, यह भी नहीं कर सकती। इंग्लैंड का कोई लिखा हुआ संविधान नहीं है। वे अपने यहाँ परंपरा को अत्यधिक महत्व देते हैं। पर क्या उनकी परंपराओं में परिवर्तन नहीं हुआ? हुआ है, उसका आधार क्या है? जो परंपरा इंग्लैंड के विकास में बाधक हुई, उसको उन्होंने छोड़ दिया, जो सहायक हुई, वे पुष्ट होती गईं। परंपराओं का महत्व ब्रिटेन में ही नहीं, हर देश में होता है। हमारे यहाँ लिखित संविधान है, पर यह लिखित संविधान भी देश की परंपराओं का विरोध करके नहीं चल सकता। यदि उन परंपराओं का विरोध करके चलता है तो वह संविधान धर्मानुसार नहीं बना। धर्मानुसार वह संविधान होगा, जिससे राष्ट्र की धारणा हो। धारणा धर्म से होती है। इसलिए हमारे यहाँ धर्म सर्वप्रभुता-संपन्न है। अन्य सभी संस्थाएँ, सत्ताएँ और इकाइयाँ उसी से शक्ति ग्रहण करती हैं।

संविधान की एक तात्त्विक भूल

यदि भारत के वर्तमान संविधान का विचार राष्ट्र की धारणा के अनुसार करें तो हमें पता चलेगा कि उसमें संशोधन की आवश्यकता है। हमारा एक राष्ट्र है, हम एक जन हैं। इसलिए हमने भाषा, प्रांत, जाति, मजहब आदि के आधार पर मूलभूत अधिकारों में किसी भी भेदभाव को स्वीकार न करते हुए भी, अमरीका की भाँति यहाँ राज्य और संघ की अलग-अलग नागरिकता नहीं है। हम सब भारत के नागरिक हैं। इसी प्रकार हमने राज्यों को संघ से निकल जाने का अधिकार नहीं दिया है। इतना ही नहीं, इन राज्यों की सीमाएँ और नाम क्या हों, यह निर्णय संसद् ही कर सकती है, राज्यों के विधान मूलभूत नहीं हैं। ये सब ठीक प्रावधान हैं। भारत की राष्ट्रीयता और परंपरा के अनुकूल हैं। किंतु इतना होने पर भी हमने अपने संविधान को संघात्मक बनाया है। अर्थात् जो बात व्यवहार में रखी है, वह तत्वतः अमान्य कर दी है। संघात्मक में इकाइयों की निजी सत्ता और प्रभुत्ता होती है। वे एक समझौते के अनुसार (यहाँ पर संविधान वह समझौता है) अपने अधिकार केंद्र या संघ को सौंप देती है। हो सकता है कि ये इकाइयाँ अपने संपूर्ण अधिकार केंद्र को सौंप दे और इस तरह संघ अधिक अधिकार संपन्न हो सकता है, किंतु उसके सभी अधिकार उसे मिले हुए तथा सौंपे हुए रहते हैं। ऐसा कोई अधिकार नहीं, जो उसका अपना ही हो। इस विचार से संविधान भारत के प्रांत की सत्ता को मूलभूत मानता है और केंद्र को राज्यों का समूह मात्र। यह सत्य के विपरीत है; भारत

की एकता और अखंडता की धारणा का विरोधी है। इसमें भारतमाता की जीवमान चैतन्यमयी कल्पना नहीं। संविधान के प्रथम अनुच्छेद के अनुसार ''इंडिया अर्थात् भारत राज्यों का संघ होगा।'' अर्थात् बिहारमाता, बंगमाता, पंजाबमाता, कन्नड़माता, तमिलमाता आदि माताओं को मिलाकर भारतमाता बनेगी। यह हास्यापद कल्पना भारतमाता के अंगों के रूप में की है, अलग-अलग माताओं के रूप में नहीं। अतः हमारा संविधान संघात्मक न होकर एकात्मक होना चाहिए।

एकात्मक राज्य कैसे हों?

एकात्मक राज्य का अर्थ सारी शक्ति या अधिकारों का केंद्रीयकरण नहीं है। जैसे घर में जो मुखिया होता है, संपूर्ण कामकाज उसके नाम पर चलता है, परंतु सारी शक्ति मुखिया के पास नहीं होती। शक्ति तो अन्य लोगों के पास रहती है। आत्मा के आधार पर सबकुछ चलता होगा, पर क्या आत्मा के पास शक्ति रहती है? शक्ति तो प्राण के पास है और उसके आधार पर अंगों के पास रहती है। एकात्मक राज्य का अर्थ अत्यंत स्वेच्छाचारी राज्य नहीं है और इसका अर्थ यह है कि प्रांत समाप्त कर दिए जाएँ। प्रांतों को अधिकार रह सकता है, रहेगा, बल्कि प्रांतों के नीचे जो भी और संस्थाएँ है, जैसे कि जनपद हैं, उनको भी अधिकार रहेंगे। इस प्रकार पंचायतों को अधिकार चाहिए। हमारी परंपरा में पंचायतों का बहुत ऊँचा स्थान है। पंचायतों को कोई नष्ट नहीं कर सकता था। किंतु आज हमारी इन पंचायतों का स्थान हमारे संविधान में नहीं है। पंचायतों की कोई अपनी सत्ता नहीं है। पंचायतें तो केवल प्रदत्त सत्ता के नाते से और राज्य सरकारों की कृपा से पैदा होती है। आवश्यकता है कि उनकी स्वयंभू सत्ता स्वीकार की जाए।[1] इस प्रकार सत्ता का विकेंद्रीकरण होगा। शक्ति नीचे तक जाएगी। शक्ति के कई स्थान होंगे। किंतु इन सबको एक केंद्र के नाते से हमारा एकात्मक राज्य होगा। यह हमारे धर्म के अनुसार होगा।

धर्म की परिधि में संपूर्ण मानवता सन्निहित

धर्म की इस कल्पना को और आगे ले जाएँ तो केवल राज्य और राष्ट्र का ही नहीं, मानव की प्रकृति का भी विचार करना होगा, अर्थात् राष्ट्र का संविधान प्राकृतिक न्याय के प्रतिकूल नहीं हो सकता। ऐसा बहुत व्यवहार है, जिसके नियम किसी विधिशास्त्र में लिखे नहीं होते, परंतु होते अवश्य हैं। शायद ये नियम कानूनों से भी अधिक प्रभावी और बंधनकारक होते हैं। अपने माता-पिता का आदर करना चाहिए, यह किसी कानून में नहीं लिखा। आजकल की सरकारें, जो बड़ी तेजी से तरह-तरह के कानून बना रही हैं, उन्होंने भी इस विषय में कोई कानून नहीं बनाया। इतने कानून बनने के बाद भी ऐसा कोई कानून नहीं बना कि माता-पिता का आदर करो और कहना मानो। फिर भी माता-पिता का आदर करते हैं। न करने वाले को कोई अच्छा नहीं कहता। उन्हें बुरा माना जाता है। कल ऐसा ही कोई प्रश्न आकर खड़ा हो जाए तो न्यायालय में भी सामान्यतः यह मानेंगे कि माता-पिता का, जब तक वयस्क होने के कारण उसका स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार न कर लिया गया हो, कहना मानना चाहिए तथा उनका आदर करना चाहिए।

---

1. 24 अप्रैल, 1915 में

वैधता का निर्णायक धर्म है

इस प्रकार का विधान, जो आधारभूत, प्राकृतिक एवं आदिरूप है, वही सब वस्तुओं और व्यवहार की नियमानुकूलता तथा वैधता निर्णायक है। इस विधान को ही हमारे यहाँ धर्म कहा है। Innate law धर्म का निकटतम पर्याय हो सकता है, किंतु फिर भी वह धर्म के पूरे भाव प्रकट करने में असमर्थ है। धर्म की प्रभुता होने के कारण हमारा राज्य का आदर्श 'धर्मराज्य' है। राजा धर्म की रक्षा करने के लिए है। जब प्राचीन काल में राजा का अभिषेक हुआ करता था तो वह खड़ा होकर कहता था-''अदण्डयोऽस्मि! अदण्डयोऽस्मि!! अदडण्योऽस्मि!!!'' अर्थात् मुझे कोई दंड नहीं दे सकता। वही बात, जो पश्चिम का राजा कहा करता था। वहाँ भी राजा कहा करता था कि राजा कोई त्रुटि नहीं कर सकता, इसलिए राजा को कोई दंड नहीं दे सकता। राजा के यह कहने पर पुरोहित हाथ में एक पलाश का दंड लेकर उसकी पीठ पर मारता था और कहता था, ''धर्म दण्ड्योसी! धर्म दण्ड्योसी!! धर्म दण्ड्योसी!!!'' कि तेरे ऊपर भी दंड है; यह धर्म का दंड है। तू अदंड्य नहीं है। राजा भागता था तथा वेदी की परिक्रमा करता और पुरोहित उसकी पीठ पर पलाश का डंडा मारता जाता था। तीन चक्कर लगाने के बाद यह विधि समाप्त होती थी। उसे ज्ञात हो जाता था कि उसके ऊपर भी धर्म का दंड है। राजा अदंड्य नहीं।

इस प्रकार जनता भी मनमानी कर सकती है क्या? लोग कहेंगे कि हाँ, जनतंत्र का अर्थ यही है। जनता चाहे जो करे, किंतु हमारे यहाँ जनता चाहे भी तो अधर्म नहीं कर सकती। एक बार एक धर्म-प्रचारक से लोग प्रश्न पूछ रहे थे। उनका कहना था कि ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं है? ईश्वर अधर्म नहीं कर सकता। यदि करेगा तो सर्वशक्तिमान नहीं रहेगा। अधर्म शक्ति का नहीं, दुर्बलता का द्योतक है। आग यदि बुझने लगे तो शक्तिशाली नहीं रहेगी। शक्ति मनमानी करने में नहीं, संयमपूर्ण व्यवहार में है, अतः सर्वशक्तिमान परमेश्वर संपूर्ण संयमी अर्थात् पूर्ण धर्ममय है। ईश्वर जब जन्म लेता है तो मनमानी करने के लिए नहीं, वरन् अधर्म के विनाश और धर्म की स्थापना के लिए ही। ईश्वर का अवतार धर्म के लिए होता है। इसलिए ईश्वर भी सबकुछ कर सकता है, परंतु अधर्म नहीं कर सकता। यदि बुरा न लगे तो कह सकते हैं कि ईश्वर से भी बड़ा धर्म है। वह धर्म से चलता है, इसलिए सृष्टि चलती है। राजा धर्म-राज्य के प्रमुख के नाते ही विष्णु है।

क्या धर्मराज्य का अर्थ थियोक्रेटिक है?

धर्मराज्य का अर्थ थियोक्रेटिक स्टेट नहीं है। इसे अच्छी प्रकार से समझ लेना चाहिए। थियोक्रेटिक स्टेट का अर्थ है, जहाँ पर किसी पंथ-गुरु का राज हो। एक पंथ के लोगों को सब अधिकार हों और अन्य पंथावलंबियों के लोग रह ही न सकें अथवा दास या दूसरी श्रेणी के नागरिक बनकर रहें। रोमन साम्राज्य इसी आधार पर चलता था। 'खिलाफत' के पीछे भी यही कल्पना थी। खलीफा के नाम पर ही संसार भर के मुसलमान बादशाह राज्य करते थे। किंतु यह 'खिलाफत' प्रथम विश्वयुद्ध के बाद समाप्त हो गई।

अब उसे पुनः करने का प्रयत्न किया गया है। पाकिस्तान एक थियोक्रेटिक स्टेट बना है। वे अपने को इस्लामी राज्य कहते हैं। वहाँ मुसलमानों को छोड़कर अन्य जितने लोग हैं, वे दूसरी श्रेणी के नागरिक हैं। इसके अतिरिक्त इस्लामी शासन का और कोई रूप तो वहाँ नहीं दिखता। कुरान, मस्जिद, रोजा, ईद, नमाज आदि जैसी वहाँ हैं, वैसी हिंदुस्तान में भी हैं। अर्थात् राज्य और मजहब को जोड़ने की आवश्यकता नहीं। इससे व्यक्ति का ईश्वर की उपासना करने का सामर्थ्य नहीं बढ़ता। हाँ, राज्य अपने कर्तव्यों से अवश्य च्युत हो जाता है। धर्मराज्य में यह नहीं होता, प्रत्येक को अपने संप्रदाय की पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। धर्मराज्य व्यक्ति के विकास, उसके सुख और शांति में संप्रदाय का स्थान स्वीकार करता है। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह ऐसी अवस्थाएँ पैदा करे, जिसमें व्यक्ति अपने मतानुसार जीवन-यापन कर सके। अपने मत की स्वतंत्रता दूसरे के मत के प्रति सहिष्णुता अपने आप आती है।

हम जानते हैं कि हर प्रकार की स्वतंत्रता की अपनी मर्यादाएँ होती हैं। मुझे हाथ घुमाने की स्वतंत्रता है, किंतु जैसे ही किसी दूसरे व्यक्ति की नाक और मेरे हाथ में संघर्ष आया कि मेरी स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। मुझे इतनी स्वतंत्रता नहीं कि अपना हाथ घुमाकर दूसरे की नाक पर मुक्का लगा दूँ। जहाँ उसकी नाक की नोंक प्रारंभ हुई, वहाँ मेरी स्वतंत्रता सीमित हो गई, क्योंकि उसकी नाक को भी तो स्वतंत्रता है। दोनों की स्वतंत्रता की रक्षा करनी होगी। वैसे ही प्रत्येक को अपने संप्रदाय की स्वतंत्रता है। किंतु मजहब की स्वतंत्रता वहीं तक है, जब तक वह दूसरे मजहब में हस्तक्षेप न करे। यदि कोई दूसरे संप्रदाय में हस्तक्षेप करता है तो कहना होगा कि वह स्वतंत्रता का दुरुपयोग है। इस प्रकार की मर्यादाएँ हर स्थान पर रहेंगी। धर्मराज्य में मजहब की स्वतंत्रता है, पर थियोक्रेटिक स्टेट में नहीं।

आजकल थियोक्रेटिक स्टेट के विरुद्ध सेक्युलर स्टेट शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह शब्द पश्चिम के लोगों से नकल करके लिया गया है। हमें इसकी आवश्यकता नहीं थी। पाकिस्तान से अलग बताने के लिए हमने सेक्युलर स्टेट का प्रयोग किया। इसके कुछ गलत अर्थ लगा लिये गए हैं। रिलिजन का अनुवाद धर्म किया व सेक्युलर स्टेट का लोगों ने अनुवाद अधार्मिक राज्य किया। कुछ लोगों ने कहा, धर्महीन राज्य और कुछ लोगों ने उस शब्द को अच्छा करने का प्रयत्न किया तो उन्होंने कहा, 'धर्म-निरपेक्ष' राज्य। परंतु ये सबके सब अनुवाद पूर्णतया गलत हैं, क्योंकि राज्य तो धर्महीन नहीं हो सकता, धर्म-निरपेक्ष भी नहीं रह सकता, जैसे अग्नि ताप निरपेक्ष नहीं रह सकती। हो जाए तो क्या होगा? अग्नि तापहीन हो जाए या वह ताप-विरोधी हो जाए? कैसा भी हो जाए, परंतु फिर वह अग्नि नहीं रहेगी। वह राज्य, जिसका काम ही यह कि धर्म की व्यवस्था रहे, समाज में धर्म (Law and Order) रहे, वह धर्म से अलग कैसे रह सकता है? इसलिए धर्म-निरपेक्ष राज्य तो नियमहीन राज्य हो जाएगा। जहाँ नियमहीनता है, वहाँ राज्य कहाँ? अर्थात् धर्म-निरपेक्षता और राज्य, ये एक-दूसरे के विरोधी हैं। राज्य तो धर्मराज्य ही हो सकता है, दूसरा नहीं। दूसरे में तो उसके मूल कर्तव्य की ही उपेक्षा हो जाएगी।

धर्मराज्य में राज्य मनमाना नहीं होता

धर्मराज्य में राज्य मनमाना काम नहीं करेगा। उसे धर्म के अनुसार चलना होगा। हमारा सर्वप्रभुत्व (सॉवरेनिटी) धर्म में है। अभी एक झगड़ा खड़ा हो गया है कि संसद बड़ी या सर्वोच्च न्यायालय? न्यायपालिका बड़ी या विधानसभा? और लोग इस पर झगड़ा करते हैं। यह तो ऐसा ही झगड़ा है कि दायाँ पैर बड़ा या बायाँ पैर बड़ा? क्योंकि ये दोनों ही राज्य के अंग हैं। दोनों के अपने-अपने कर्तव्य हैं। अपने-अपने क्षेत्र में अपना स्थान है। परंतु विधान-मंडल वाले कहते हैं कि हम बड़े हैं और न्यायपालिका वाले कहते हैं-तुम बनाते हो कानून, हम उसकी व्याख्या करते हैं। हम बड़े कि तुम बड़े? उत्तर मिला है कि ''वाह, वाह! सारा अधिकार तो हमने दिया है। संविधान में परिवर्तन करके यह तय कर देते हैं कि कौन बड़ा?'' अब यहाँ पर चूँकि संविधान दिए जाते हैं, इसलिए वे शायद संविधान में संशोधन की बात कह रहे हैं। किंतु मैं कहूँगा कि इस प्रकार का संशोधन यदि आप बहुमत से कर ले जाएँ, तो भी वह धर्म के विरुद्ध होगा। वास्तव में दोनों समसत्ता हैं। दोनों में न तो विधायिका बड़ी है और न न्यायपालिका। दोनों के ऊपर बैठा हुआ धर्म बड़ा है। विधायिका को धर्मानुसार काम करना होगा और न्यायपालिका को भी धर्मानुसार काम करना होगा। उसके अंदर इनकी मर्यादाएँ होंगी। यहाँ सबसे बड़ा न विधायिका को, न न्यायपालिका को और न जनता को रखा गया है। धर्म इन सबसे बड़ा है। वास्तव में कोई धर्म-विरुद्ध आचरण भी नहीं कर सकता।

धर्मानुसार चलनेवाला अल्पमत भी श्रेष्ठ

द्वितीय विश्वयुद्ध में जब हिटलर ने फ्रांस के ऊपर आक्रमण किया तो फ्रांस उसका सामना नहीं कर पाया। हिटलर की सेनाएँ आगे बढ़ती चली गईं। उस समय फ्रांस के प्रधानमंत्री मार्शल पेताँ ने आत्मसमर्पण का निर्णय किया। फ्रांस की जनता ने उसका समर्थन किया। किंतु दिगॉल भागकर लंदन गया। लंदन ने उसका समर्थन किया। उसने कहा, मैं इस समर्पण को स्वीकार नहीं करता। फ्रांस स्वतंत्र है और स्वतंत्र रहेगा। वहाँ बैठकर फ्रांस की सरकार बनाई और पुनः फ्रांस को स्वतंत्र किया। अब यदि बहुमत का नियम ही धर्म मानकर चलते तो दिगॉल को कभी ठीक नहीं कहा जा सकता। उसे लड़ने का अधिकार मिला, तो इसलिए कि राष्ट्र बहुमत और जनता से भी बड़ा है। राष्ट्र का धर्म इन सबसे ऊपर है। उसने जिस तत्व से अधिकार प्राप्त किया, वह थी फ्रांस की स्वतंत्रता। स्वतंत्रता प्रत्येक राष्ट्र का धर्म है। उसकी रक्षा करना तथा खोने पर उसे प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है।

हमारे यहाँ भी अंग्रेजों से लड़ने के लिए बहुमत नहीं खड़ा हुआ था, कुछ लोग खड़े हुए थे। कुछ क्रांतिकारी खड़े हुए, कुछ वीर खड़े हुए, उन्होंने लड़ाई लड़ी। लोकमान्य तिलक ने कहा था-''स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।'' यह जन्मसिद्ध अधिकार उन्होंने बहुमत के समर्थन पर नहीं कहा। आजकल तो लोग कहते हैं कि गोवा का भविष्य जनमत-संग्रह से तय कर लो, काश्मीर में जनमत-संग्रह

कराओ आदि यह गलत है। राष्ट्रीय एकता हमारा धर्म है। उसका निर्णय मतसंग्रह से नहीं होगा। यह निर्णय तो प्रकृति ने कर दिया है। शासन कौन चलाए, यह तो एक बार बहुमत और चुनाव से तय हो सकता है, परंतु सत्य क्या है, यह कभी बहुमत से तय नहीं होता। राजा कौन बनेगा, यह बहुमत से तय होता है, पर राजा क्या करेगा, यह धर्म से तय होता है।

बहुमत को चुनौती

आप जानते हैं कि अमेरिका में जहाँ प्रजातंत्र का बहुत बोलबाला कहा जाता है, वहाँ लिंकन ने गलत जनमत को स्वीकार नहीं किया। लिंकन से जब दक्षिण राज्यों ने कहा कि हम अलग हो जाते हैं, क्योंकि वहाँ दास-प्रथा को समाप्त किया गया था। उस समय लिंकन खड़ा हुआ और लोगों से कहा, ''यह आपको जनतांत्रिक अधिकार नहीं है कि आप अलग हो जाएँ।'' लिंकन ने लड़ाई लड़ी, परंतु उन्हें अलग नहीं होने दिया। दास-प्रथा को भी नहीं चलने दिया। यह नहीं कहा कि यदि आप आंशिक दास-प्रथा मान लेते हैं तो समझौता कर लेते हैं। उसे उन्होंने नहीं किया, आधा तेरा आधा मेरा। उन्होंने कहा कि अमेरिका की जो परंपरा है, यहाँ का जो धर्म है, प्रकृति है, जिस आधार पर राष्ट्र-निर्माण का प्रयत्न किया जा रहा है, दास-प्रथा उसके प्रतिकूल है, इसलिए दास-प्रथा नहीं रहेगी। जब लोगों ने कहा कि हम अलग होते हैं, तो उन्होंने कहा, ''तुम अलग भी नहीं होओगे।'' इस पर वहाँ गृहयुद्ध हुआ, परंतु लिंकन ने अधर्म के साथ समझौता नहीं किया।

हमारे यहाँ ऐसी व्यवस्था है। जैसे पुराने हिंदू विवाह में पति-पत्नी का संबंध उनकी इच्छा पर निर्भर नहीं करता। एक क्या यदि दोनों भी राजी हो जाएँ तो भी वे तलाक नहीं दे सकते। उनका आचरण स्वेच्छा से नहीं, धर्म से नियंत्रित होना चाहिए। इसी प्रकार राष्ट्रीयता का नाता है। काश्मीर के 40 लाख लोग कहें कि हम अलग होते हैं, गोवा के कहें कि हम अलग होते हैं, कुछ ने कहा कि हम पुर्तगाल को वापस बुला लेंगे-तो यह धर्म के प्रतिकूल है। हिंदुस्तान के 45 करोड़ लोगों में से यदि 44 करोड़ 99 लाख 99 हजार 999 लोग भी कहें तो जो धर्म के प्रतिकूल बात होगी, वह कभी सत्य नहीं होगी और यदि इसके विपरीत एक व्यक्ति कहे और यदि वह धर्मानुसार है तो वह सत्य होगी। क्योंकि सत्य धर्म के साथ रहता है। उसी में से उस एक व्यक्ति को धर्माचरण का, धर्म के अनुसार काम करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

धर्म किसी निकाय अथवा संस्था में नहीं

हम अच्छी प्रकार समझ लें कि बहुमत में या जनता में धर्म नहीं है। धर्म शांत है। इसलिए प्रजातंत्र की व्याख्या में जनता का शासन ही पर्याप्त नहीं, यह शासन जनता के हित में भी होना चाहिए। जनता के हित का निर्णय तो धर्म ही कर सकता है, अतः जनराज्य को धर्मराज्य भी होना आवश्यक है। सच्चा प्रजातंत्र वहीं हो सकता है, जहाँ स्वतंत्रता और धर्म दोनों हों। धर्मराज्य में इन सभी कल्पनाओं का समावेश है।

युगानुकूल अर्थ-रचना

(बंबई, 25 अप्रैल, 1965)

प्राचीन साहित्य में कहीं-कहीं जहाँ राजा का वर्णन किया गया है और राज धर्म का उसको उपदेश दिया गया है, वहाँ उसे अत्यंत महत्वपूर्ण अवश्य बताया गया है, वह शायद इसलिए कि उसे अपने कर्तव्य का भान रहे, अपने दायित्व की जानकारी हो। संपूर्ण समाज-जीवन के ऊपर पूरा ध्यान देना चाहिए। महाभारत में भीष्म ने यही बात कही इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कि राजा काल का कारण है। अब इसमें से कुछ लोग यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि उन्होंने राजा को सर्वोपरि माना है, परंतु यह बात सत्य नहीं है। भीष्म ने राजा को इतना महत्व देते हुए भी विधि से ऊपर नहीं बताया। राजा का प्रभाव होता है, यह सत्य है। राजा, समाज में धर्माचरण बना रहे, इस बात को देखने का उत्तर-दायित्व लेकर चलता है, यह भी सत्य है, किंतु राजा धर्म का निर्माण करनेवाला नहीं होता। धर्म का लोग पालन करें, यही बात वह देखनेवाला है। अर्थात् एक प्रकार से कहा जाए तो राजा का स्थान, आज के समय में जितना कार्यपालिका का होता है, उतना ही है।

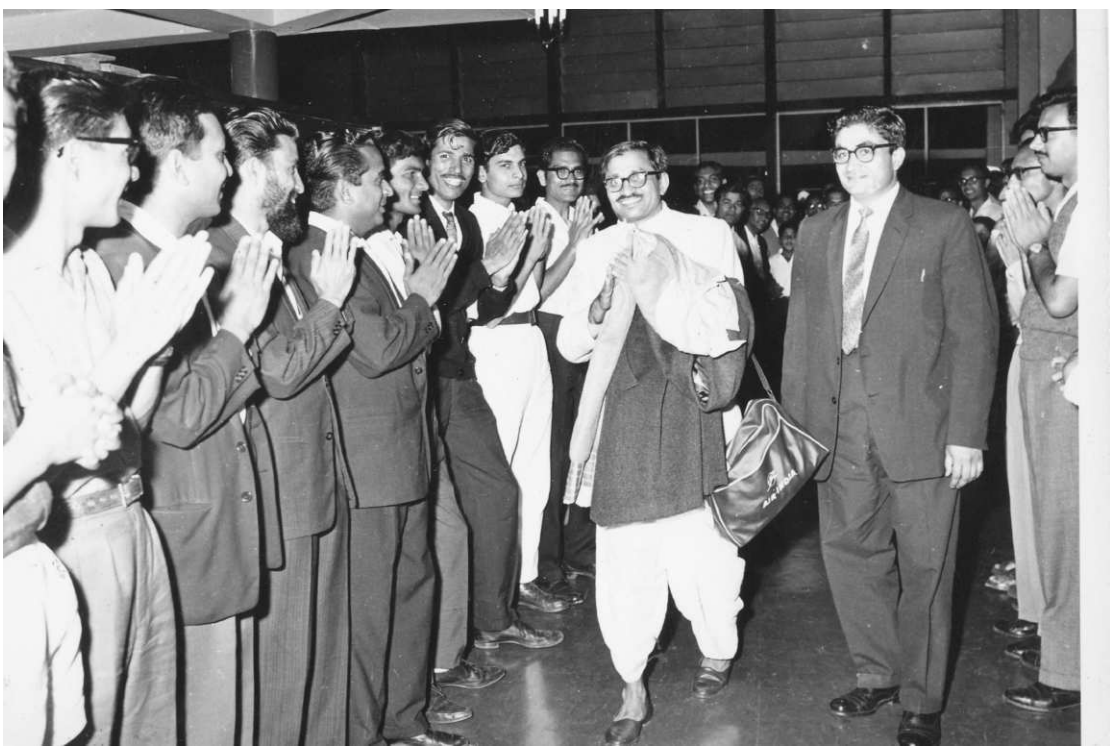

कार्यपालिका का दायित्व

कार्यपालिका आज भी विधान नहीं बनाती, परंतु राज्य ठीक प्रकार से चले यह जिम्मेदारी कार्यपालिका पर होती है। यदि कार्यपालिका ठीक न चले तो कानून की जैसी धज्जियाँ उड़ती हैं, वह आज हम अच्छी प्रकार से देख रहे हैं। आज भी हम कह सकते हैं कि 'कार्यपालिका कालस्य कारणम्'। आज जो बुराइयाँ चल रही हैं, उनमें कार्यपालिका की बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। अंततः नशाबंदी क्यों असफल हो गई? यहाँ उसके लिए कौन उत्तरदायी है? जिन लोगों पर इस बात का दायित्व डाला गया कि नशाबंदी के कार्यक्रम को सफल बनाओ, जब उन्होंने ही 'हफ्ता' लेना आरंभ कर दिया तो नशाबंदी कैसे चलेगी? सबका उत्तरदायित्व कार्यपालिका पर आता है। इसी उत्तरदायित्व के रूप में भीष्म की उपर्युक्त उक्ति है। उसमें से यह निष्कर्ष निकालना गलत है कि हमने राजा को ही सर्वप्रभुता-संपन्न माना है। यदि इतना किया होता तो फिर अत्याचारी राजा वेण को राज्य सिंहासन से हटाकर फिर से पृथु को गद्दी पर बिठाने का काम ऋषियों ने न किया होता। ऋषियों के इस कार्य को किसी भी शास्त्र ने, किसी भी इतिहास ने बुरा नहीं कहा, बल्कि अच्छा ही कहा। धर्म की प्रभुता स्वीकार करने पर ही ऋषियों को अधर्मी राजा को हटाने का अधिकार प्राप्त होता है, अन्यथा राजा को हटाना अवैध माना जाता। यदि राजा अपने कर्तव्य का पालन न करे तो राजा को हटाना धर्म है। दूसरी ओर पश्चिम में एक राजा को दूसरे ने संघर्ष करके हटाया या जनता ने उस समय हटाया, जब उन्होंने तत्वतः राजपद्धति को ही अमान्य कर दिया। वहाँ राजा ईश्वर का प्रतिनिधि माना गया है और किसी भी परिस्थिति में उसे हटाया नहीं जा सकता।

समाज-व्यवस्था में अनेक संस्थाएँ

भारतीय समाज-व्यवस्था में राजा या राज्य सर्वोपरि है ही नहीं, वह एकमेव संस्था भी नहीं है। समाज की व्यवस्था तथा उसके जीवन का नियमन करने वाली, व्यवस्था देखने वाली समाज की अनेक संस्थाएँ हैं। उनका प्रादेशिक और व्यावसायिक दोनों आधारों पर गठन हुआ है। पंचायतें और जनपद-सभाएँ हमारे यहाँ रही हैं। बड़े-से-बड़े चक्रवर्ती सार्वभौम राजाओं ने भी कभी पंचायतों को समाप्त नहीं किया। इसी प्रकार व्यावसायिक संगठन भी रहे हैं। उन्हें भी किसी ने समाप्त नहीं किया, अपितु उनकी स्वायत्तता को सदैव स्वीकार किया गया। अपने-अपने क्षेत्र में उन्होंने नियम बनाए। जाति की पंचायतें, श्रेणियाँ, पुग, निगम, ग्राम-पंचायत, जनपद-सभाएँ आदि संस्थाएँ स्वतंत्र नियम बनाती थीं। राज्य का काम यही था कि इन नियमों का पालन होता है कि नहीं, यह देखें। राज्य ने कभी उनके मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया। इस प्रकार हमारे यहाँ राज्य तो जीवन के थोड़े से हिस्से को ही छूता था। इसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में कभी संस्थाएँ जन्म लेती हैं। इस दृष्टि से हमें आज कुछ अर्थव्यवस्था का भी विचार करना पड़ेगा। अर्थव्यवस्था कैसी हो? हमें ऐसी व्यवस्था चाहिए, जो हमारे मानवत्व को विकसित कर सके, हमारे मानवत्व को समाप्त न करे, उसके ऊपर प्रतिकूल प्रभाव न डाले और जिसके द्वारा हम मानव जीवन का पूर्ण विकास कर सकें, इस उद्‌देश्य की सिद्धि के लिए अर्थव्यवस्था की क्या मर्यादाएँ होनी चाहिए, इसका विचार करें।

अर्थव्यवस्था की मर्यादाएँ

लोगों के भरण-पोषण के लिए, जीवन के विकास के लिए राष्ट्र की धारणा एवं विकास के लिए जिन मौलिक साधनों की आवश्यकता होती है, उनका उत्पादन अर्थव्यवस्था का लक्ष्य होना चाहिए। न्यूनतम मर्यादा के बाद और अधिक समृद्धि व सुख के लिए अर्थोत्पादन करना चाहिए या नहीं, यह स्वाभाविक प्रश्न पैदा होता है। पश्चिम का अर्थशास्त्र तो इच्छाओं को बराबर बढ़ाते जाना और उनकी आवश्यकताओं की निरंतर पूर्ति करना ही अभीष्ट समझता है। इस विषय में उसकी कोई अधिकतम मर्यादा नहीं है। सामान्यतया तो पहले इच्छा होती है और फिर उसकी पूर्ति के साधन जुटाए जाते हैं। किंतु अब तो हालत यह हो गई है कि जो कुछ पैदा किया जाता है, उसका उपयोग हो, इसके लिए लोगों में इच्छा पैदा की जाती है। बाजार के लिए माल पैदा करने के स्थान पर पैदा किए हुए माल के लिए बाजार ढूँढना, न मिले तो नया बाजार पैदा करना आज की अर्थनीति का प्रमुख अंग बन गया है। प्रारंभ में उत्पादन उपभोग का अनुसरण करता था, अब उपभोग उत्पादन का अनुचर है।

हम चाय का ही उदारहण लें। चाय की माँग थी, इसलिए चाय नहीं पैदा की गई। किंतु चाय पैदा की गई और इसलिए हमें वह पीनी सिखाई गई। अब हम चाय पीते हैं। वह हमारे जीवन का एक अंग बन गई है। इसी प्रकार हम आजकल वनस्पति घी का उपयोग कर रहे हैं। क्या हमने कभी इसकी माँग की थी? वास्तव में वनस्पति घी पैदा किया गया और फिर हमें इसका उपभोग सिखाया गया। जो कुछ पैदा होता है, यदि उसका उपभोग न करें तो वहाँ पर मंदी आ जाएगी। 1930-32 की मंदी का समय हमें याद होगा। उस समय माल तो था, पर उसकी खपत नहीं थी, इसलिए धड़ाधड़ कारखाने बंद होते जा रहे थे, दि वाले निकल रहे थे तथा बेकारी बढ़ती चली जा रही थी। इसलिए आज महत्व की बात यह हो गई कि पैदा माल की खपत की जाए।

अंग्रेजी के साप्ताहिक 'ऑर्गनाइजर' के संपादक (श्री केवल रतन मलकानी) कुछ वर्ष पूर्व अमरीका गए थे। वहाँ से लौटने के बाद उन्होंने एक रोचक घटना बताई। वहाँ आलू छीलने का चाकू बनाने का एक कारखाना है। उस कारखाने का उत्पादन इतना बढ़ गया कि लोगों की आवश्यकताओं से अधिक पैदा करने लगा। अतः प्रश्न पैदा हुआ कि लोग यह चाकू अधिक संख्या में खरीदें, इसका कोई उपाय ढूँढा जाए। कारखाने के विक्रयकर्ताओं की बैठक हुई। एक सुझाव रखा गया कि यदि चाकू के बेंटे का रंग आलू के छिलके जैसा बनाया जाए तो आलू छीलने के साथ छिलके के साथ चाकू को भी टोकरी में फेंकने की संभावना बढ़ जाएगी। इस प्रकार माल की खपत अधिक होगी। चाकू को आकर्षक बनाने के लिए सुंदर पैकिंग की भी व्यवस्था की गई। यह अर्थव्यस्था उपभोग प्रधान न होकर विनाशोन्मुख बन गई। पुराना फेंकों और नया खरीदो। नया खरीदने की चाह उपभोक्ता में पैदा करना-माँग पूरी करना नहीं, माँग पैदा करना। यही आज अर्थव्यवस्था का लक्ष्य हो गया है।

प्रकृति की मर्यादा न भूलें

किंतु उत्पादन का संबंध प्राकृतिक साधनों से भी है। यदि अंधाधुध उत्पादन बढ़ाते गए तो ये प्राकृतिक साधन कब तक साथ देंगे? कुछ लोग यह कहकर समाधान कर देते हैं कि यदि एक प्रकार के साधन समाप्त हो गए तो दूसरी प्रकार की वस्तुओं की खोज हो जाएगी। नए विकल्प (सबस्टीट्यूट) ढूँढे जा सकते हैं। उनके इस तर्क में निहित बल को स्वीकार करने के बाद भी यह कहना पड़ेगा कि प्रकृति की संपदा अपार होने पर भी उसकी मर्यादा है। यदि बड़ी तेजी के साथ और अनावश्यक रूप से हम उसका अपव्यय करते गए तो एक दिन हमें पछताना पड़ेगा।

प्रकृति के साथ उच्छृंखलता

प्रकृति की संपदा की मर्यादा की चिंता न भी करें तो कम-से-कम इतना तो हमें मानना ही पड़ेगा कि प्रकृति में विभिन्न वस्तुओं के बीच परस्परावलंबी संबंध है। एक-दूसरे के सहारे खड़ी तीन लकड़ियों में से यदि हम एक की स्थिति में परिवर्तन कर दें तो शेष अपने आप गिर जाएँगी। आज की अर्थव्यस्था और उत्पादन की पद्धति इस सामंजस्य को बड़ी तेजी से बिगाड़ती जा रही है। परिणामतः जहाँ एक ओर हम नई-नई इच्छाओं की पूर्ति के लिए नए-नए साधन ढूँढ रहे हैं वहीं दूसरी ओर हम संपूर्ण सभ्यता और मानवता को समाप्त करने के लिए नए-नए प्रश्न पैदा करते जा रहे हैं। हम प्रकृति से उतना तथा इस प्रकार लें कि वह उस कमी को स्वयं पुनः पूरा कर ले। पेड़ से फल लेने में उसकी हानि नहीं होती, लाभ होता है। पर भूमि से अधिक फसल लेने के लोभ में हम ऐसे उर्वरकों का प्रयोग कर रहे हैं, जिनसे कुछ दिनों के बाद उसकी उत्पादन-शक्ति ही समाप्त हो जाती है। आज अमरीका में लाखों एकड़ भूमि इस प्रकार की खेती के कारण ऊसर हो चुकी है। यह विनाशलीला कब तक चलती रहेगी?

कारखानेदार मशीन आदि के लिए क्षय निधि (depreciation fund) की व्यवस्था करता है। परंतु प्रकृति के इस कारखाने के लिए हम किसी भी क्षय निधि की चिंता न करें, यह कैसे हो सकता है? इस दृष्टि से विचार किया जाए तो कहना होगा कि हमारी अर्थव्यवस्था का लक्ष्य अमर्यादित उपभोग नहीं, संयमित उपभोग होना चाहिए। सोद्देश्य, सुखी विकासमान जीवन के लिए जिन भौतिक साधनों की आवश्यकता है, वे अवश्य ही प्राप्त होने चाहिए। भगवान् की सृष्टि का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि उतनी व्यवस्था उसने की है। किंतु जब हम यह समझकर कि भगवान् ने मनुष्य को केवल उपभोग-प्रवण प्राणी बनाया है, उसके अंधाधुध उपयोग के लिए ही अपनी संपूर्ण शक्ति खर्च करें तो यह ठीक नहीं होगा। इंजन को चलाने के लिए हमारा प्रयत्न तो यही रहता है कि कम-से-कम ईंधन से अधिक-से-अधिक मात्रा में शक्ति पैदा हो। यह बचत का दृष्टिकोण है। मानव जीवन का उद्देश्य का विचार करके हमें ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए, जिससे वह न्यूनतम ईंधन से अधिकतम गति के साथ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ सकें, यह अर्थव्यवस्था मानवीय होगी। यह मानव के एक पहलू का विचार न कर, उसके पूर्ण-जीवन

का तथा अंतिम उद्देश्य का विचार करेगी। यह संहारात्मक न होकर सृजनात्मक होगी। यह प्रकृति के शोषण पर निर्भर न रहकर उसके पोषण पर निर्भर रहेगी। शोषण नहीं, दोहन हमारा आधार होना चाहिए या प्रकृति के शोषण पर निर्भर न रहकर उसके पोषण पर निर्भर रहेगी। प्रकृति का स्तन्य हमारे लिए जीवनदायी हो, ऐसी ही व्यवस्था करनी चाहिए।

पश्चिम के घातक आर्थिक नारे

अर्थव्यवस्था का यही मानवीय उद्देश्य रहा तो आर्थिक प्रश्नों की ओर देखने की हमारी दृष्टि आमूल बदल जाएगी। पश्चिम की अर्थव्यवस्था में, वह पूँजीवादी हो या समाजवादी, मूल्य को अत्यंत महत्व का एवं केंद्रीय स्थान प्राप्त है। उसके चारों ओर ही संपूर्ण आर्थिक विचार चक्कर लगाता रहता है। एक नैयायिक की दृष्टि से 'मूल्य' संबंधी विश्लेषण का चाहे जो महत्व हो, किंतु उसके आधार पर जो जीवन-दर्शन बने हैं, वे बहुत ही अधूरे, अमानवीय एवं कुछ अंशों में नीतिविहीन भी हैं। एक उदाहरण लें। आजकल नारा लगाया जाता है-'कमाने वाला खाएगा'। सामान्यतः तो यह नारा कम्युनिस्ट लगाते हैं, किंतु पूँजीवादी भी इस नारे के मूल में निहित सिद्धांत से असहमत नहीं होते। यदि दोनों में झगड़ा है तो इसी बात का कि कौन कितना कमाता है। पूँजीवादी साहस और पूँजी को महत्व देते हैं, इसलिए खाने में उनका प्रमुख भाग रहा तो उसे वे उचित मानते हैं। दूसरी ओर कम्युनिस्ट श्रम को ही निर्माण मानते हैं, इसलिए श्रमिक को वे खाने का अधिकार देते हैं। ये दोनों ही विचार ठीक नहीं। वास्तव में हमारा नारा होना चाहिए 'कमाने वाला खिलाएगा' तथा 'जो जन्मा सो खाएगा'। खाने का अधिकार जन्म से प्राप्त होता है। कमाने की पात्रता शिक्षा से आती है। समाज में जो कमाते नहीं, वे भी खाते हैं। बच्चे, बूढ़े, रोगी, अपाहिज, सबकी चिंता समाज को करनी पड़ती है। प्रत्येक समाज में इस कर्तव्य के निर्वाह की तत्परता रहती ही है। इस कर्तव्य के निर्वाह की क्षमता पैदा करना ही अर्थव्यवस्था का काम है। मनुष्य अपने इस कर्तव्य के निर्वाह के लिए काम करता है, अन्यथा जिनकी भूख मिट गई है, काम ही नहीं करेंगे।

न्यूनतम स्तर

मानव के नाते भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति किसी भी अर्थव्यवस्था का न्यूनतम स्तर है। रोटी, कपड़ा और मकान मोटे रूप में इन आवश्यकताओं की अभिव्यंजना करते हैं। इसी प्रकार व्यक्ति को समाज के प्रति कर्तव्यों का निर्वाह करने में सक्षम बनाना भी समाज का आधारभूत दायित्व है। किसी भी प्रकार के अस्वास्थ्य की दशा में व्यक्ति को स्वस्थ बनाने की व्यवस्था करना तथा उसके जीवन-निर्वाह की व्यवस्था करना भी समाज का काम है। कम-से-कम इतना जिस राज्य में हो, वही धर्मराज्य है-नहीं तो अधर्मराज्य है। रघुवंश में दिलीप का वर्णन करते हुए कालिदास ने कहा है-

प्रजानो नियाघनात् रक्षणात् भरणादनि। सपिता पितरस्तासां केवल जन्महेतव॥ (1/24)

(प्रजा के शिक्षण, रक्षण और भरण-पोषण की व्यवस्था के कारण, वही उनका वास्तविक पिता था।

उनके पिता तो केवल जन्मदाता थे।) जिस भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा है, उनकी व्याख्या भी यही है कि 'भरणात् रक्षणात् च' अर्थात् भरण और रक्षण के कारण वह भरत कहलाता था। उसका यह देश भारत है, इस देश में भरण-पोषण की गारंटी न रही तो 'भारत' नाम सार्थक नहीं होगा।

शिक्षा-समाज के दायित्व

बच्चे को शिक्षा देना समाज के अपने हित में है। जन्म से मानव पशुवत् पैदा होता है। शिक्षा और संस्कार से वह समाज का अभिन्न घटक बनता है। जो काम समाज के अपने हित में हो, उसके लिए शुल्क लिया जाए, यह तो उल्टी बात है। कल्पना करें कि कुल शिक्षा-शुल्क का बहिष्कार करके अथवा उस देने में असमर्थ होने के कारण बच्चे पढ़ना बंद कर दें। क्या समाज इस स्थिति को सहन करेगा? पेड़ लगाने और सींचने के लिए हम पेड़ से पैसा नहीं लेते। हम तो अपनी ओर से पूँजी लगाते हैं और जानते हैं कि पेड़ पर हमें फल मिलेंगे ही। शिक्षा भी इस प्रकार का विनियोजन है। व्यक्ति शिक्षित होने पर समाज के लिए काम करेगा ही, किंतु जो व्यवस्था बचपन से ही हमें व्यक्तिवादी बनाती हो, उससे समाज की अवेहलना करने वाले निकलें तो आश्चर्य क्यों? भारत में 1947 से पूर्व सभी देशी राज्यों में कहीं भी शिक्षा के लिए शुल्क नहीं लिया जाता था। उच्चतम श्रेणी तक शिक्षा निःशुल्क थी। गुरुकुल में तो भोज व रहने की व्यवस्था भी आश्रम में होती थी। केवल भिक्षा माँगने के लिए ब्रह्मचारी समाज में जाते थे। कोई भी ब्रह्मचारी को खाली नहीं लौटाता था, अर्थात् समाज द्वारा शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी।

चिकित्सा निःशुल्क

इसी भाँति चिकित्सा के लिए पैसा देना पड़े, यह अचंभे की बात थी। चिकित्सा भी निःशुल्क होनी चाहिए। हमारे यहाँ पहले चिकित्सा के लिए भी पैसा नहीं लिया जाता था, आजकल मंदिर में जाने के लिए भी पैसा देना पड़ता है। तिरूपति में बालाजी के मंदिर में दर्शन के लिए चार आने का टिकट लेना पड़ता है, पर दोपहर में 12 बजे से 1 बजे तक 'धर्मदर्शन' होता है, अर्थात् उस समय टिकट नहीं लेना पड़ता, मानो पैसा देकर दर्शन करना अधर्म-दर्शन होता है। कहने का तात्पर्य है कि समाज की ओर से जीवन-यापन और विकास के लिए न्यूनतम की गारंटी होनी ही चाहिए।

'न्यूनतम' का जन्मसिद्ध अधिकार

अब प्रश्न यह उठता है कि यह 'न्यूनतम' जो सभी को देना है, वह आएगा कहाँ से? स्पष्ट है कि वह हमारे प्रयत्नों व पुरुषार्थ से ही आना चाहिए। अतः जहाँ हमें अधिकार के रूप में न्यूनतम स्तर मिला है, वहाँ उत्पादक कर्म अर्थात् पुरुषार्थ से विहीन व्यक्ति समाज पर भार है। इसी प्रकार जो समाज व्यवस्था अथवा अर्थ व्यवस्था लोगों के पुरुषार्थ में बाधक हो, वह आत्मघाती है। ऐसी व्यवस्था में समाज व्यक्तियों के प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह नहीं कर पाएगा। यदि व्यक्ति की आवश्यकता पूर्ण होती रही तो भी पुरुषार्थ न करने के कारण उसका विकास एकांगी रह जाएगा।

मानव को पेट और हाथ दोनों मिले हैं। यदि हाथों को काम न मिले और पेट को खाना मिलता रहे तो मनुष्य सुखी नहीं रहेगा, उसका विकास नहीं होगा। निसंतान स्त्री जैसे अपने जीवन में अधूरापन तथा व्यथा का अनुभव करती है, वैसे बेकार, पुरुषार्थ रहित व्यक्ति अधूरापन तथा व्यथा का अनुभव करता है।

प्रत्येक को काम

प्रत्येक को काम अर्थव्यवस्था का आधारभूत लक्ष्य होना चाहिए अर्थात् स्वस्थ व्यक्ति के लिए अपनी गृहस्थाश्रम की आयु में जीविकोपार्जन की व्यवस्था होनी चाहिए। आज कुछ विचित्र ही स्थिति है। एक ओर 10 वर्ष का बालक और 70 वर्ष का बूढ़ा काम में जुटा हुआ है तो दूसरी ओर 24 वर्ष का नौजवान बेकारी से ऊबकर आत्महत्या कर बैठता है। इस अव्यवस्था को दूर करना होगा। भगवान् ने हाथ तो दिए हैं, परंतु वे स्वतः उत्पादक नहीं बन सकते। उनके लिए पूँजी का सहयोग चाहिए। श्रम और पूँजी का संबंध प्रकृति और पुरुष का संबंध है। सृष्टि इन दोनों की लीला है। इनमें से किसी की भी अवेहलना नहीं की जा सकती।

पूँजी का निर्माण

पूँजी-निर्माण के लिए आवश्यक है कि संपूर्ण उत्पादन का उपभोग करने के स्थान पर उसमें से कुछ बचाया जाए और उसे भावी उत्पादन के लिए काम में लिया जाए। उपभोग में संयम के बिना पूँजी निर्माण नहीं होगी। कार्ल मार्क्स जिस अतिरिक्त मूल्य की चर्चा करता है, वही पूँजी-निर्माण का आधार है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उद्योगपति इस अतिरिक्त मूल्य के सहारे पूँजी-निर्माण करता है। समाजवादी व्यवस्था में यह काम राज्य के द्वारा होता है। दोनों ही पद्धतियों में संपूर्ण उत्पादन की पद्धति 'बड़े पैमाने' की ओर केंद्रित रही तो पूँजी-निर्माण के लिए श्रमिक के द्वारा किए गए संयम और त्याग का भी भान नहीं होता। विकेंद्रीकरण में यह लाभ है कि पूँजी के रूप में इस 'अतिरिक्त मूल्य' के प्रयोग में श्रमिक का भी सहभाग रह सकता है।

यंत्र (मशीन) का प्रभुत्व

मशीन पूँजी का अत्यंत महत्वपूर्ण स्वरूप है। मानव के श्रम को सुगम बनाने तथा उसकी उत्पादकता एवं क्षमता बढ़ाने के लिए ही यंत्र का आविष्कार हुआ है। यंत्र मानव का सहायक है, मानव का प्रतिस्पर्धी नहीं। किंतु जहाँ मानव-श्रम को विनिमय की वस्तु समझकर उसका मूल्यांकन रुपयों में होने लगा, वहाँ यंत्र मानव का प्रतिस्पर्धी बन गया। यह पूँजीवादी दृष्टिकोण का दुर्गुण है। यदि यंत्र मानव का स्थान लेकर उसे भूखा मारे तो वह उन उद्देश्यों के विपरीत होगा, जिनकी सिद्धि के लिए यंत्र का आविष्कार हुआ। जड़ मशीन इसकी दोषी नहीं है। यह बुराई उस अर्थव्यवस्था की है, जिसमें विवेक लुप्त हो जाता है। हमें

यंत्र की मर्यादाओं का विचार करके ही उसकी उपयुक्तता का निर्धारण करना होगा। इस दृष्टि से पश्चिम के उन यंत्रों का, जो वह जनसंख्या की कमी के आधार पर बने हैं, बिना विचारे आयात करना भारी भूल होगी। यंत्र देश-काल परिस्थिति निरपेक्ष नहीं, सापेक्ष है। वह विज्ञान की आधुनिकतम प्रगति की उपज है, किंतु प्रतिनिधि नहीं। ज्ञान किसी देश विशेष की बपौती नहीं, उसका प्रयोग प्रत्येक देश अपनी परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार करे। हमारी मशीन हमारी आर्थिक आवश्यकताओं के अनुकूल ही नहीं, अपितु हमारे सांस्कृतिक एवं राजनीतिक जीवन-मूल्यों को पोषक नहीं तो कम-से-कम अविरोधी अवश्य होनी चाहिए।

सात मकार

प्रो. विश्वेश्वरैया ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि आर्थिक दृष्टि से उत्पादन-प्रणाली का विचार करते समय हमें सात मकारों का विचार करना चाहिए। ये सात मकार हैं-मैन, मैटीरियल, मनी, मैनेजमेंट, मोटिवपावर, मार्केट और मशीन-अर्थात् काम करने वाले या जिनको काम मिलना चाहिए, उन व्यक्तियों की संख्या, योग्यता तथा तंत्रज्ञा का विचार करना चाहिए। उपलब्ध अथवा जिनकी उपलब्धि संभव है, ऐसे प्रकृति के साधनों या कच्चे माल का विचार करना होगा। हमें यह भी देखना होगा कि हमारे पास कितनी पूँजी है? उस पूँजी को अधिकतम लाभ के लिए अच्छे-से-अच्छे किस रूप में लगाया जा सकता है? पूँजी का कितना भाग स्थायी पूँजी में लगाया जा सकता है और कितना सामान्य काम चलाने के लिए हाथ में रखना आवश्यक है? हमें अपने देश की शक्ति का भी विचार करना होगा। मानव और पशुश्रम के अतिरिक्त हवा, पानी, तेल, गैस विद्युत् एवं अणुशक्ति सभी से मशीनें चल सकती हैं। इनमें से कौन सी शक्ति कितनी मात्रा में उपलब्ध हो सकती है और हमें अनार्थिक नहीं होगी, इसका विचार करके ही उत्पादन-पद्धति का निर्धारण करना होगा। इसी प्रकार, प्रबंध कुशलता का विचार अत्यंत आवश्यक है। दस लोगों को एक साथ लेकर उनकी ठीक ढंग से योजना करना नहीं आया तो सब बेकार रहेगा। हम जो कुछ पैदा करते हैं, वह लोगों के उपयोग में आ सके, इसका भी विचार करना होगा। अर्थात् बाजार का विचार किए बिना किसी भी वस्तु का उत्पादन आर्थिक दृष्टि से समर्थनीय नहीं हो सकता। इन सब बातों का विचार करके हमें उपयुक्त यंत्र का निर्माण करना चाहिए। किंतु होता यह है कि हम पहले मशीन का खूँटा गाड़ देते हैं और फिर सभी वस्तुओं का सामंजस्य उसके साथ बिठाते हैं। किंतु संसार के दूसरे देशों में ऐसा नहीं हुआ। नई-नई मशीनें नहीं बनतीं। वास्तव में जो विज्ञान प्रगति का लक्षण है, उसे स्थिर मानकर चलना एक अवैज्ञानिक दृष्टिकोण है। हम यंत्र बाहर से मँगाते हैं, इसलिए इस विषय में हमारे यहाँ लचीलापन बहुत कम है। हमें प्रौद्योगिकी का विकास करना होगा।

उपर्युक्त सातों साधनों में कोई भी अपरिवर्तनीय नहीं। वास्तव में प्रत्येक उपक्रम बदलता रहता है। यह परिवर्तन विकास की दिशा में हो। उसमें कष्ट तथा विद्यमान शक्ति की छीजन कम-से-कम हो, ताकि

उसके द्वारा हम अपने समाज के दायित्वों का निर्वाह कर सकें, इस बात का विचार नियोजकों को करना होगा। एक उदाहरण लें। हमारे यहाँ श्रमिकों की उत्पादकता बहुत कम है। यंत्र के सहारे वह बढ़ाई जा सकती है। बढ़ाना आवश्यक है। किंतु यंत्र ऐसा हो कि जिसको चलाने के लिए बहुत कम व्यक्तियों की आवश्यकता पड़े और शेष व्यक्ति बेकार हो जाएँ अथवा इन यंत्रों को बाहर से मँगवाने का व्यय ही इतना अधिक हो कि उसका भुगतान करने में बढ़ी हुई उत्पादकता अधूरी पड़े तो कहना पड़ेगा होगा कि यंत्र ठीक नहीं है। जैसे किसी कारखाने की पूरी क्षमता का उपयोग न कर पाना आर्थिक दृष्टि से ठीक नहीं, वैसे ही देश के लोगों को बेकार रखना घाटे का सौदा है। यहाँ तो दोहरा घाटा है। खाली मशीन केवल पुरानी पूँजी खाती है, नया कुछ नहीं, पर बेकार मनुष्य तो आज भी खाता है। अतः आज तो 'कमाने वाला खाएगा' के स्थान पर 'खानेवाला कमाएगा', यह लक्ष्य रखकर हमें भारत की अर्थरचना करनी होगी। चरखे के स्थान पर कताई की मशीनें तो चाहिए, परंतु सब कामों के लिए स्वचालित मशीनें पूर्ण आजीविका का लक्ष्य सामने रखकर ही हमें अन्य उत्पादन के साधनों का विचार करना चाहिए।

अर्थ-रचना में व्यक्ति

व्यक्ति के उपयोग अथवा उसकी आजीविका का विचार करते समय हमें पूर्ण एकात्म-मानव का सदैव विचार रखना होगा। पिछली शताब्दियों के आर्थिक चितंन और उस पर आधारित अर्थव्यवस्था का यह परिणाम हुआ है कि हाड़-मांस का वास्तविक मानव हमारी दृष्टि से ओझल हो गया है। हम उसके व्यक्तित्व का तनिक भी विचार नहीं करते। पूँजीवादी अर्थशास्त्र मनुष्य को एक अर्थलोलुप प्राणी मानकर चलता है। उसके सभी निर्णय आर्थिक दृष्टिकोण से होते हैं। ऐसे व्यक्ति के सामने पाँच रुपए सदैव चार रुपयों से अधिक होते हैं। वह अर्थोत्पादन की प्रेरणा से ही काम करता है। अधिक-से-अधिक लाभ उसका लक्ष्य है। बाजार में अन्य वस्तुएँ खरीदी-बेची जाती हैं, वैसे ही मानवश्रम क्रय-विक्रय की वस्तु मानी जा रही है। यह मुक्त व्यापार की व्यवस्था है। प्रतिस्पर्धी को छोड़कर वह किसी दूसरे नियंत्रण को अन्याय मानता है। इस दौड़ में जो सबसे पीछे रह गया, उसे साथ लेकर चलने का विचार करने के लिए वह तैयार नहीं, बल्कि उसके विनाश को वह उचित मानता है। वह अनार्थिक है, उसे नष्ट होना चाहिए, यह उसकी मानसिकता है। उसके विनाश से धीरे-धीरे शक्ति सिमटकर कुछ हाथों में केंद्रित हो जाती है। इसको पूँजीवादी अर्थशास्त्र स्वाभाविक प्रक्रिया मानता है। किंतु एकाधिकार होने के बाद प्रतिस्पर्धी का रोध भी काम नहीं करता। उस स्थिति में प्रतिस्पर्धी के कारण उत्पन्न होने वाली प्रेरणा नष्ट हो जाती है। मूल्य मनमाने हो जाते हैं तथा गुणवत्ता की दृष्टि से ह्रास होने लगता है। ऐसे अर्थशास्त्री की दृष्टि उपभोक्ता के नाते भी मानव की आवश्यकताओं अथवा इच्छाओं की ओर नहीं, उनकी जेब पर अर्थात् क्रयशक्ति पर रहती है। भूखे किंतु निर्धन की अपेक्षा पेट भरे और साधन की ही वहाँ चिंता की जाती है। फलतः जहाँ संपन्न की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नानाविध वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है, वहाँ साधनहीन के लिए जीवन निर्वाह की आवश्यकताओं का अभाव बढ़ जाता है।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में विकास नहीं

उत्पादन-केंद्रीयकरण एवं एकाधिपत्य के कारण उपभोक्ता धीरे-धीरे प्रभावहीन हो जाते हैं। बाजारों का संगठन इस प्रकार किया जाता है कि उसमें रामप्रसाद के पैर के अंक (नंबर) का जूता मिलेगा। सभी क्षेत्रों में यह वर्गीकरण इतनी तेजी से बढ़ रहा है। दशमलव प्रणाली के अनुसार जैसे पुस्तकों का वर्गीकरण कर उसे एक निश्चित अंक दिया जाता है, वैसे ही मानव को भी दिया जा सकता है। व्यक्ति को ही सब कुछ मानने वाली अर्थव्यवस्था ने व्यक्तित्व को बिल्कुल समाप्त करा दिया है। स्पष्टतः पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मानव का विकास करने में असमर्थ सिद्ध हुई है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था प्रतिक्रियावादी

पूँजीवादी के विरोध में समाजवादी अर्थव्यवस्था आई, किंतु यह भी मानव को उसकी प्रतिष्ठा नहीं दे पाई। उसने पूँजी का स्वामित्व राज्य के हाथ में देकर संतोष कर लिया। राज्य अत्यधिक व्यक्ति-निरपेक्ष संस्था है। वहाँ का हर काम विधि-विधान और नियमों के अधीन चलता है। वहाँ सामान्यतः स्वविवेक के लिए स्थान नहीं है। यदि कहीं शासनाधिकारियों में अत्युच्च कर्तव्यभावना एवं समाजनिष्ठा न रही तो पक्षपात और भ्रष्टाचार को प्रश्रय मिलता है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ने तो केवल अर्थपरायण मानव का विचार किया था। अन्य क्षेत्रों का कोई स्थान नहीं है। जिस प्रकार जेल मैन्यूअल ने मानव का विचार कर उसकी आवश्यकताओं की चिंता की है, ताकि उसके कार्यों का विधान किया जा सके, उसी प्रकार समाजवादी व्यवस्था में मानव का विचार व्यक्ति-निरपेक्षता के आधार पर किया गया है। वहाँ व्यक्तिगत स्वतंत्रता नाम की कोई वस्तु नहीं है।

व्यक्ति पर राज्य हावी

समाजवादी व्यवस्था में निजी संपत्ति नहीं है। अब संपत्ति के निजी स्वामित्व से उत्पन्न होने वाली समस्याओं से वह मुक्त है। किंतु संपत्ति से तथा उसके अर्जन की ऐषणा से जो व्यक्तित्व के विकास और पुरुषार्थ की प्रेरणा मिलती है, उसकी वहाँ कोई समाधानकारक व्यवस्था नहीं की गई। राज्य को सर्वेसर्वा बना दिया गया। व्यक्ति इस भीमकाय यंत्र का लघु उपकरण (पुर्जा) मात्र रह गया है। यह उपकरण ठीक-ठीक काम करे, उसके लिए किसी अंतःप्रेरणा का विचार नहीं हुआ। जिलास के अनुसार शोषकों का पुराना वर्ग तो समाप्त हो चला है, किंतु नौकरशाही का नया शोषक वर्ग उत्पन्न हो रहा है। कार्ल मार्क्स ने इतिहास का जो विश्लेषण किया, उसमें कम्युनिज्म को पूँजीवाद की स्वाभाविक परिणति बताया है। पूँजीवाद में ही पूँजीवाद के विनाश के बीज छिपे हुए हैं, यह उसका प्रतिपादन है।

अभिलाषा

यह कल्पना साम्यवादी कार्यकर्ताओं को अपनी अंतिम विजय का विश्वास दिलाने के लिए चाहे लाभप्रद प्रतीत हो, किंतु इससे मानव की सुधारवादी एवं क्रांतिकारी प्रेरणा नष्ट हो जाती है। वह युग का निर्माता नहीं अथवा क्रांति का सृष्टा नहीं, जो कुछ पूर्व-निश्चित है, उसका निमित्त मात्र है। उसका काम

तो विधि के विधान में तेजी लाना है, इसलिए वह श्रमिकों का संगठन करके हित की चिंता नहीं करता, बल्कि उन्हें साधन के रूप में ही प्रयोग करता है। कार्ल मार्क्स का द्वंद्वात्मक भौतिकवादी विधान भी तब काम करता है, जब तक पूँजीवाद के स्थान पर सर्वहारा के अधिनायक के रूप में राज्य सर्वेसर्वा नहीं बन जाता। इसके बाद राज्य इस नियम को काम में आने नहीं देता। प्रतिक्रांति को रोकने के नाम पर राज्य अधिकाधिक निरंकुश बनता जाता है तथा वह दिन, जब राज्य समाप्त होकर राज्यविहीन समाज व्यवस्था जन्म लेगी, एक कल्पना मात्र रह जाता है। वास्तव में क्रिया, प्रतिक्रिया और संक्रिया की प्रक्रिया को रोकना ही मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार एक प्रतिगामी एवं प्रगति-विरोध कार्य है।

पूँजीवाद और साम्यवाद, इन दोनों ही व्यवस्थाओं में मानव के सही एवं पूर्ण रूप को नहीं समझा गया। एक में उसे स्वार्थी, अर्थपरायण, संघर्षशील एवं मात्स्यन्याय-प्रवण प्राणी माना गया है तो दूसरी में व्यवस्थाओं और परिस्थितियों का दास, अकिंचन एवं अनास्थामय माना गया है। शक्तियों का केंद्रीयकरण दोनों में अभिप्रेत है। फलतः दोनों का परिणाम अमानवीयकरण में हो रहा है।

भगवान् की सर्वश्रेष्ठ कृति मानव अपने को खोता जा रहा है। हमें मानव को पुनः अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करना होगा, उसकी गरिमा का उसे ज्ञान कराना होगा, उसकी शक्तियों को जगाना होगा, ताकि उसे देवत्व की प्राप्ति हेतु पुरुषार्थशील बनाना होगा। यह विकेंद्रित अर्थव्यवस्था के द्वारा ही संभव है।

हमें समाजवाद अथवा पूँजीवाद नहीं, मानव का उत्कर्ष और सुख चाहिए। 'मानव' को दाँव पर लगाकर आज दोनों लड़ रहे हैं। दोनों ने न तो मानव को समझा है और न उन्हें मानव की चिंता है।

हमारी अर्थव्यवस्था का उद्देश्य होना चाहिए-

1. प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम जीवन-स्तर की आश्वस्ति तथा राष्ट्र के सुरक्षा-सामर्थ्य की व्यवस्था।
2. इस स्तर के उपरांत उत्तरोत्तर समृद्धि, जिससे व्यक्ति और राष्ट्रों को वे साधन उपलब्ध हो सकें, जिनसे वे अपनी चिति के आधार पर विश्व की प्रगति में योगदान कर सकें।
3. उपर्युक्त लक्ष्यों की सिद्धि के लिए प्रत्येक वयस्क एवं स्वस्थ व्यक्ति को साभिप्राय आजीविका का अवसर देना, तथा प्रकृति के साधनों का मितव्यता के साथ उपयोग करना।
4. राष्ट्र के उत्पादक-उत्पादनों का विचार कर अनुकूल प्रौद्योगिकी का विकास करना।
5. यह व्यवस्था मानव की अवेहलना न कर उसके विकास में साधक हो तथा समाज के सांस्कृतिक एवं अन्य जीवन-मूल्यों की रक्षा करे। यह लक्ष्मणरेखा है, जिसका अतिक्रमण अर्थ-रचना किसी भी परिस्थिति में नहीं कर सकती।
6. विभिन्न उद्योगों आदि में राज्य, व्यक्ति तथा अन्य संस्थाओं के स्वामित्व का निर्णय व्यावहारिक आधार पर हो।

ये कुछ मोटी-मोटी बातें हैं, जिनका विचार कर हमें अर्थरचना करनी होगी। आज की परिस्थिति में यदि किन्हीं दो शब्दों का प्रयोग कर अपनी अर्थव्यवस्था की दिशा के परिवर्तन को बताना हो, तो वे हैं- विकेंद्रीकरण और स्वदेशी। हम आज जो रचना कर रहें उसमें केंद्रीयकरण जाने अथवा अनजाने में हमारी

श्रद्धा का विषय बन गया है। केंद्रीयकरण ही आर्थिक है, यह हमारी मान्यता बन गई है और इसलिए उसके दुष्परिणाम की चिंता न करते हुए अथवा जानकर भी विवशता से हम उसी ओर बढ़ रहे हैं। यही हाल स्वदेशी का है। स्वदेशी की कल्पना बीते युग की तथा प्रतिगामीपन की द्योतक समझी जाती है। विदेशों की हर वस्तु हम बड़े चाव से ले रहे हैं। विचार, व्यवस्था, पद्धति, पूँजी, उत्पादन-प्रणाली, प्रौद्योगिकी तथा उपभोग के मानदंड-सभी क्षेत्रों में हम विदेशों पर निर्भर हैं। यह प्रगति का रास्ता नहीं है। इससे विकास नहीं होगा। हम अपने स्व को विस्मृत कर परतंत्र हो जाएँगे। स्वदेशी के भावनात्मक रूप को समझकर हमें उसे सृजन का आधार एवं अवलंब बनाना चाहिए।

नव-निर्माण करना होगा

समयाभाव के कारण मैंने अर्थव्यवस्था के संस्थागत पहलुओं की चर्चा नहीं की है। किंतु यह स्पष्ट है कि अनेक पुरानी संस्थाएँ बदलेंगी और नई जन्म लेंगी। इस परिवर्तन के कारण जिनका पुरानी संस्थाओं में निहित स्वार्थ है, उन्हें धक्का लगेगा। कुछ लोग जो प्रकृति से ही अपरिवर्तनवादी हैं, उन्हें भी सुधार और सृजन के इन प्रयत्नों में कुछ कष्ट उठाने पड़ेंगे। बिना औषध के रोग समाप्त नहीं होता और व्यायाम का कष्ट उठाए बिना बल भी नहीं आता। अतः हमें यथास्थिति का मोह त्यागकर नव-निर्माण करना होगा। हमारी रचना में प्राचीन के प्रति अश्रद्धा एवं अवज्ञा का भाव नहीं होना चाहिए, किंतु उससे चिपटे रहने की आवश्यकता नहीं है। परिवर्तन की दिशा कौन सी होगी, इसका हमने ऊपर विचार किया है।

उपसंहार

हमने मानव के समग्र एवं संकलित रूप का थोड़ा विचार किया है। इस आधार पर हम चले तो भारतीय संस्कृति के शाश्वत मूल्यों के साथ राष्ट्रीयता, प्रजातंत्र, समता और विश्व-एकता के आदर्शों को एक समन्वित रूप में रख सकेंगे। इनके बीच का विरोध नष्ट होकर वे परस्पर पूरक होंगे। मानव अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा और जीवनोद्देश्य को प्राप्त कर सकेगा।

हमने यहाँ तात्त्विक विवेचन किया है, किंतु करोड़ों भारतवासी मात्र दर्शनशास्त्री नहीं हैं। हम तो भारतीय जन के माध्यम से राष्ट्र को सबल, समृद्ध और सुखी बनाने का संकल्प लेकर चले हैं। अतः इस अधिष्ठान पर हमें राष्ट्र रचना का व्यावहारिक प्रयत्न करना होगा। हमने अपनी प्राचीन संस्कृति का भी विचार किया है, किंतु हम कोई पुरातत्ववेत्ता नहीं हैं।

हम किसी पुरातत्व संग्रहालय के संरक्षक बनकर नहीं बैठना चाहते। हमारा ध्येय संस्कृति का संरक्षण मात्र नहीं, अपितु उसे गति देकर सजीव व सक्षम बनाना है। उसके आधार पर राष्ट्र की धारणा हो और हमारा समाज स्वस्थ एवं विकासोन्मुख जीवन व्यतीत कर सके, इसकी व्यवस्था करनी है। इस दृष्टि से हमें अनेक रूढ़ियाँ समाप्त करनी होंगी, बहुत से सुधार करने होंगे।

जो हमारे मानव का विकास और राष्ट्र की एकात्मता की वृद्धि में पोषक हो, वह हम करेंगे और इसमें जो बाधक हो, उसे हटाएँगे। ईश्वर ने जैसा शरीर दिया है, उसमें मीन-मेख निकालकर अथवा आत्मग्लानि लेकर चलने की आवश्यकता नहीं है। आज यदि समाज में छुआछूत और भेदभाव घर कर गए हैं, जिनके कारण लोग मानव को मानव समझकर नहीं चलते और जो राष्ट्र की एकता के लिए घातक सिद्ध हो रहे हैं, हम उनको समाप्त करेंगे।

हम उन संस्थाओं का निर्माण करना होगा, जो हमारे अंदर कर्मचेतना पैदा करें। हम स्वकेंद्रित एवं स्वार्थी बनाने के स्थान पर राष्ट्र-सेवी बनें, अपने बंधुओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण ही नहीं, उनके प्रति आत्मीयता और प्रेम पैदा करें। इस प्रकार की संस्थाएँ ही वास्तव में हमारी चिति का आविष्कार कर सकेंगी। जैसे राष्ट्र का अवलंब चिति होती है, वैसे ही जिस शक्ति से राष्ट्र की धारणा होती है, उसे विराट कहते हैं। विराट राष्ट्र की वह कर्मशक्ति है, जो चिति से जाग्रत एवं संगठित होती है। विराट का राष्ट्र जीवन में वही स्थान है, जो शरीर में प्राण का प्राण से ही सभी इंद्रियों को शक्ति मिलती है, बुद्धि में चैतन्य उत्पन्न होता है और आत्मा शरीरस्थ रहती है। राष्ट्र में भी विराट के सबल होने पर ही उसके भिन्न-भिन्न अवयव अर्थात् संस्थाएँ सक्षम और समर्थ होती हैं। अन्यथा संस्थागत व्यवस्थाएँ केवल दिखावा मात्र रह जाती हैं। विराट के आधार पर ही प्रजातंत्र सफल होता है और राज्य बलशाली बनता है। इसी अवस्था में राष्ट्र की विविधता उसकी एकता के लिए बाधक नहीं, साधक होती हैं। भाषा, व्यवसाय आदि के भेद तो सभी स्थानों पर होते हैं, किंतु जहाँ विराट जाग्रत् रहता है, वहाँ संघर्ष नहीं होते। हम लोग शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों की भाँति या कुटुंब के घटकों के समान परस्पर पूरकता से काम करते रहते हैं।

हम विराट जाग्रत करें

हमें अपने राष्ट्र के विराट को जाग्रत करने का काम करना है। अपने प्राचीन के प्रति गौरव का भाव लेकर, वर्तमान का यथार्थवादी आकलन कर और भविष्य की महत्वाकांक्षा लेकर हम इस कार्य में जुट जाएँ। हम भारत को न तो किसी पुराने समय की प्रतिच्छाया बनाना चाहते हैं और न रूस या अमरीका की अनुकृति। विश्व के दर्शन और आज तक की अपनी संपूर्ण परंपरा के आधार पर हम ऐसे भारत का निर्माण करेंगे, जो हमारे पूर्वजों के भारत से अधिक गौरवशाली होगा, जिसमें जन्मा मानव अपने व्यक्तित्व का विकास करता हुआ संपूर्ण मानवता ही नहीं अपितु सृष्टि के साथ एकात्मता का साक्षात्कार कर नर से नारायण बनने में समर्थ हो सकेगा। यह हमारी संस्कृति का शाश्वत दैवी और प्रवहमान रूप है। चौराहे पर खड़े विश्वमानव के लिए यही हमारा दिग्दर्शन है। भगवान् हमें शक्ति दें, हम इस कार्य में सफल हों, यही प्रार्थना है।

'भारतमाता की जय!'

❖❖❖

नानाजी देशमुख जन्म शताब्दी उद्घाटन समारोह, नेहरू मेमोरियल म्यूजियम व लाइब्रेरी सभागार, तीन मूर्ति, नई दिल्ली – 10 अक्टूबर, 2016

संगोष्ठी, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली – 16 नवंबर, 2016
विषयः एकात्म मानवदर्शन में निहित राष्ट्र का दर्शन

संगोष्ठी, गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति, राजघाट, नई दिल्ली – 3 दिसम्बर, 2016
विषयः ग्रामीण भारत की भारतीय दृष्टि : एकात्म मानवदर्शन के संदर्भ में

संगोष्ठी, जीएलए विश्वविद्यालय, मथुरा, उत्तर प्रदेश – 24 जनवरी, 2017
विषयः दीनदयाल जी का आर्थिक चिंतन : एकात्म मानवदर्शन के संदर्भ में

संगोष्ठी, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर – 27–28 जनवरी, 2017
विषयः दीनदयाल जी एकात्म मानवदर्शन के प्रणेता आज के संदर्भ में

दिल्ली पुलिस "साइबर जागरूकता अभियान" के दौरान
बच्चों में पं. दीनदयाल उपाध्याय जी के कर्तृत्व को प्रसारित करने की दृष्टि से
"दीनदयाल चित्रकथा" का वितरण – द्वारका, दिल्ली – 13 फ़रवरी, 2017

राष्ट्रीय संगोष्ठी , ग्रामोदय मेला, चित्रकूट, मध्य प्रदेश – 24–27 फ़रवरी 2017

विषयः ग्रामीण जीवन में परिवर्तन : राष्ट्रऋषि नाना जी के दृष्टिकोण में

नानाजी स्मृति व्याख्यान 2017, बालयोगी सभागार, संसद भवन,
नई दिल्ली – 26 मार्च, 2017 विषयः विकास का भारतीय प्रतिमान

संगोष्ठी, NIT राउरकेला – 30 मार्च, 2017

विषयः पं. दीनदयाल उपाध्याय का चिंतन : एकात्म मानवदर्शन के संदर्भ में

वीर शिरोमणि महाराणा प्रताप जयंती के अवसर पर पं. दीनदयाल उपाध्याय एवं श्रद्धेय नानाजी देशमुख जन्म शताब्दी समारोह, गोंडा, उत्तर प्रदेश – 28 मई, 2017

संस्कार भारती एवं नेहरू स्मारक संग्रहालय, तीन मूर्ति भवन , नई दिल्ली – 6 जून, 2017

विषयः दृश्य एवं प्रदर्शनकारी कलाओं में भारतीय दर्शन : एकात्म मानवदर्शन के संदर्भ में

संगोष्ठी, जोर की ढाणी, गोधाम, सीकर, राजस्थान – 12 जून, 2017
विषयः पारंपरिक कारीगरी कौशल विकास : एकात्म मानवदर्शन के संदर्भ में

राष्ट्रीय संगोष्ठी, शिलॉन्ग – 23–24 जून, 2017

विषयः संपोषण संवर्धक कृषि : एकात्म मानवदर्शन के संदर्भ में

संगोष्ठी, बाड़मेर, राजस्थान – 5 जुलाई, 2017

विषयः पारंपरिक ज्ञान परंपरा की एकात्म मानवदर्शन के संदर्भ में प्रासंगिकता

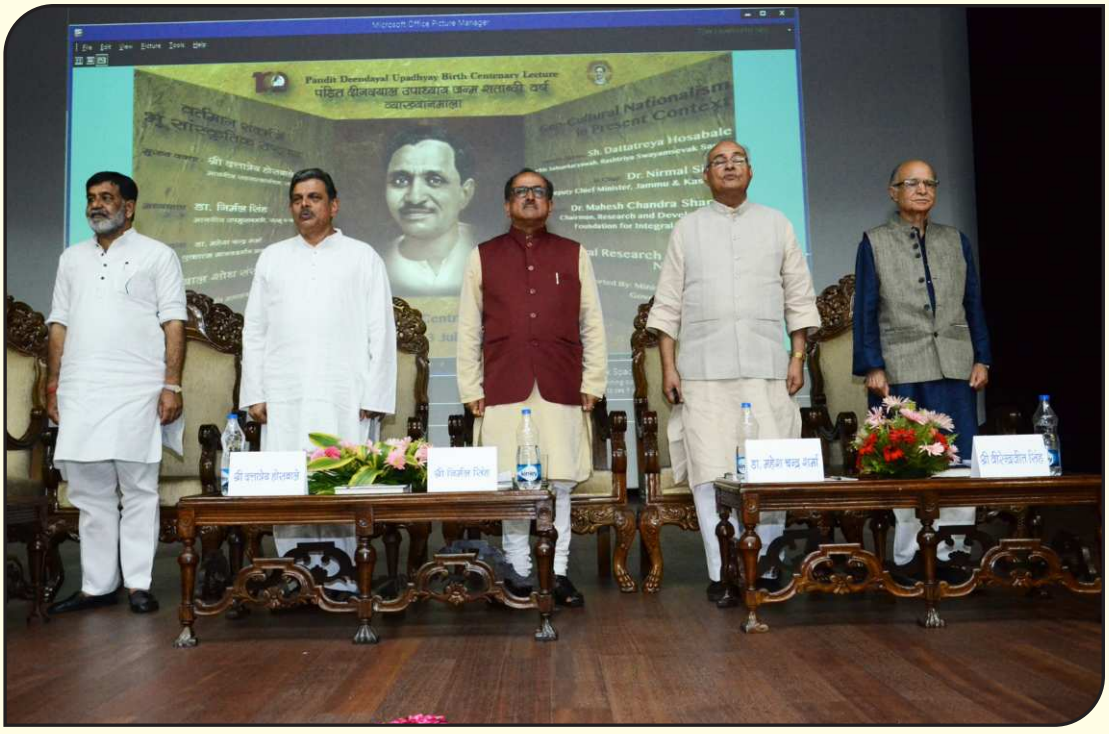

संगोष्ठी, जम्मू – 13 जुलाई, 2017

विषयः वर्तमान संदर्भ में भू–सांकृतिक राष्ट्रवाद

संगोष्ठी, तिरुवनंतपुरम, केरल – 17–18 जुलाई, 2017

विषयः केरल के लिए एक वैकल्पिक विकास मॉडल : एकात्म मानवदर्शन के संदर्भ में

दीनदयाल जी का एकात्म मानववाद

– डॉ. देंवेद्र स्वरूप

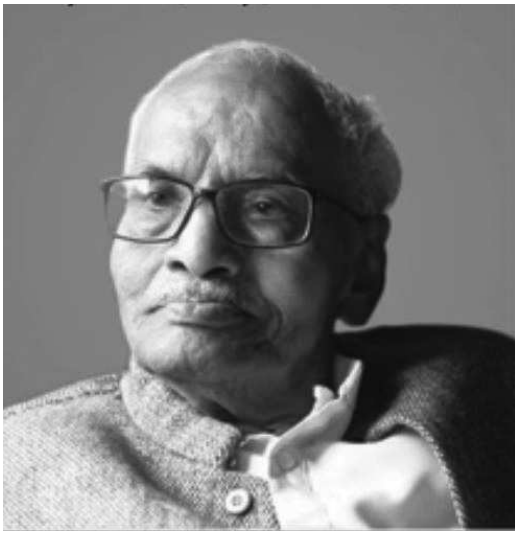

इन पृष्ठों में हम पंडित दीनदयाल उपाध्याय द्वारा प्रतिपादित एकात्म मानववाद के दर्शन से जुड़ी प्रकाशित व अप्रकाशित सामग्री देने का प्रयास कर रहे हैं। भारत में अनंत काल से समग्रता का दृष्टिकोण अपनाया गया है। इस देश में पैदा हुए सभी ऋषियों, चिंतकों व राजनेताओं ने इसी दर्शन को अपनी वाणी और कार्य में आत्मसात किया है। भारतीय इतिहास की इस दीर्घ परंपरा में हम दीनदयाल जी को कहां रखते हैं? इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए हमें विवेचना करनी होगी कि पश्चिम की मशीन और उपभोक्तावाद आधारित सभ्यता को लेकर भारत का क्या रूख है? हम 19वीं सदी के मध्य से आरंभ करते हैं, जब भारत इसके सीधा सामने खड़ा था।

वर्ष 1859 को भारतीय इतिहास में निर्णायक वर्ष कहा जा सकता है। यही वह साल था जब ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ पुरानी राजनीतिक व्यवस्था का अंतिम हमला असफल साबित हुआ। भारत पर सैन्य और राजनीतिक आधिपत्य की जो प्रक्रिया 1757 में प्लासी के युद्ध से आरंभ हुई थी, उसकी परिणति 1859 में हुई। इसी साल,1859, में एक ब्रिटिश नौकरशाह चार्ल्स डार्विन ने क्रम विकास का सिद्धांत भी प्रतिपादित किया। यह सिद्धांत जैविक दुनिया में दो अवधारणाओं पर टिका था- 'अस्तित्व का संघर्ष' तथा 'योग्यतम का अस्तित्व ही बचेगा'। यह सिद्धांत इन अर्थों में तत्कालीन यूरोपीय सोच का प्रतिबिंब था।

असल में यूरोप में हुई वैज्ञानिक व औद्योगिक क्रांति की चकाचौंध में उसे लगने लगा था कि वह

सभ्यता विकास के चरम पर है। भाप की शक्ति ने भाप से चलने वाले इंजन, टेलीग्राफ प्रणाली, बिजली, बड़ी मशीनों व विशाल कारखानों को जन्म दिया। उत्पादन,परिवहन व संचार के नए माध्यमों से लैस यूरोप ने दुनिया भर में अपने उपनिवेश स्थापित कर दिए। कोई उसे चुनौती देने की स्थिति में नहीं दिखता था।

भौतिक उपलब्धियों के साथ नए विचार और नारे भी गढ़े गए। अमेरिका की स्वतंत्रता और फ्रांस में हुई क्रांति ने 'स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व', जिसकी खोज मानव आत्मा को हमेशा से थी, को नई दिशा की ओर उन्मुख किया। साथ ही कई नई विचारधाराएं भी आकार ले रही थीं मसलन पूंजीवाद, समाजवाद, लोकतंत्र, राष्ट्रवाद, पंथनिरपेक्षता आदि। औद्योगिक क्रांति व पूंजीवाद से हो रहे शोषण की प्रतिक्रिया में कार्ल मार्क्स ने 1848 में कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो निकाला। पुरातत्व,समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, राजनीति आदि के रूप में ज्ञान की नई शाखाओं का सृजन हुआ। यूरोप को लगने लगा कि मानव और ब्रह्मांड को लेकर अंतिम ज्ञान उसी के पास है।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विस्तार के साथ भारत में भी इस लोभ आधारित आक्रामक सभ्यता के बीज पड़ गए थे। सन 1857 के स्वतंत्रता संग्राम से पूर्व भारत में रेलवे इंजन आ चुका था तथा टेलीग्राफ लाइन ने कलकत्ता को पेशावर, बंबई और मद्रास से जोड़ दिया था। भारतीय उस समय सोच भी नहीं सकते थे कि इतनी दूर बैठे दो लोग एक महीन तार से एक दूसरे को संदेश भेज सकते हैं। एफ.सी. हेरेनशॉ नामक एक अंग्रेज लेखक ने अपनी पुस्तक 'द इफ्स ऑफ हिस्ट्री' में इन घटनाओं के भारत पर पड़ने वाले जबरदस्त प्रभाव का वर्णन किया हे। पुस्तक का 19वां अध्याय है 'अगर पचास के दशक में बिजली से चलने वाला टेलीग्राफ न होता' जिसमें वह लिखते हैंः

'उस समय भारत में 2,50,000 सिपाहियों की तुलना में केवल 45,000 ब्रिटिश सैनिक थे...अगर टेलीग्राफ के आने से पहले विद्रोह होता तो अंग्रेजों को बचाने के लिए गंगा घाटी, बंगाल व अवध में कोई नहीं मिलता, उनका संपूर्ण विनाश तय था।'' (पृष्ठ 156)

'तार (जिसे विद्रोही काट नहीं पाए थे) के माध्यम से गवर्नर जनरल लॉर्ड केनिंग इंग्लैंड से अतिरिक्त फौज भेजने में सफल हुए, इसी तरह लॉर्ड केनिंग ने टेलीग्राम के माध्यम ये ही मद्रास, बंबई, लंदन और बर्मा से अतिरिक्त फौज मंगवाई। इसके अलावा उन्होंने जनरल आउटरैम के नेतृत्व में पर्शिया भेजी गई फौज भी मंगवाई। इनमें सबसे महत्वपूर्ण व निर्णायक था लॉर्ड एलगिन के नेतृत्व में अत्यंत पेशेवर 5000 सैनिकों की टुकड़ी को सिंगापुर में तार भेजकर भारत की ओर मोड़ा गया जबकि वे चीन में मचे उत्पात को दबाने के लिए जा रहे थे। केपटाउन में भी तार भेज कर वहां से तोपखाने की दो टुकड़ियां, रसद, घोड़े और सोने की शक्ल में 60 हज़ार पाउंड मंगवाए गए।''(पृष्ठ 156-157)

तकनीकी नवाचारों के अतिरिक्त यूरोपीय संस्थानों को भारत की धरती पर प्रशासन, राजस्व व शिक्षा

आदि के क्षेत्र में आरोपित किया गया। यूनिवर्सिटी ऑफ लंदन की तर्ज पर 1857 में कलकत्ता, मद्रास व मुंबई में तीन विश्वविद्यालय स्थापित किए गए। अभिजात्य वर्ग की भाषा के रूप में अंग्रेजी तेजी से संस्कृत का स्थान लेती जा रही थी। एक छोटा लेकिन प्रभावशाली वर्ग उभर रहा था जो मैकॉले की भाषा में 'रंग और रक्त से तो भारतीय था लेकिन नैतिकता, पसंद और आदर्शों के मामले में अंग्रेज था।'

1857 की जंग में अंग्रेजों ने डराने और लोभ देने की दोतरफा मार करने वाली नीति का प्रदर्शन किया। चंद देशद्रोहियों को तो खूब ईनाम दिए गए जबकि हजारों स्वतंत्रता सेनानियों को गोलियों से उड़ा दिया गया, उन्हें सड़कों के किनारे पेड़ों पर फांसी से लटका दिया गया। ब्रिटिश साम्राज्य की सैन्य शक्ति और खौफ का सिक्का भारतीयों पर जम गया। कई ब्रिटिश इतिहासकारों ने इस संघर्ष को 'बर्बरता बनाम सभ्यता' संघर्ष का नाम दिया जिसमें बकौल इन इतिहासकारों के 'अंततः सभ्यता की जीत हुई।' उनके हिसाब से 'अस्तित्व के संघर्ष' में यह 'योग्यतम का अस्तित्व बचता है' सिद्धांत की थी।

इस तरह 1859 को एक नई शुरूआत वाले साल के रूप में जाना जा सकता है। पश्चिमी सभ्यता, संस्थानों, ज्ञान व विचारधाराओं की चकाचौंध के प्रभाव में भारत पश्चिम के अनुरूप ढल रहा था। उस समय कोई नहीं सोच सकता था कि भारत दोबारा अपने को खोज पाएगा और भारत में पांव जमाने के लिए एक शताब्दी का समय लेने वाली ब्रिटिश सत्ता को 100 से भी कम साल में उखाड़ कर फेंक दिया जाएगा। यह चमत्कार कैसे हुआ?

भौतिक रूप से क्षीण हो चुकी भारत माता आध्यात्मिक रूप से काफी मजबूत थी। उसने कई संतों और विचारकों को जन्म दिया। देवेंद्रनाथ टैगोर (1817 में जन्म) स्वामी दयानंद (1825), राजनारायण बोस (1826), रामकृष्ण परमहंस (1836), बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय (1838), बालगंगाधर तिलक (1856), बिपिनचंद्र पाल (1858), स्वामी विवेकानंद (1863), लाला लाजपतराय (1865), महात्मा गांधी (1869) और ऋषि अरबिंदो (1872) पश्चिम के विचारों और संस्थानों के भारत पर हावी होने के प्रयासों के प्रतिरोध के प्रतीक बने। देवेंद्रनाथ टैगोर ने तत्वबोधिनी सभा स्थापित की, स्वामी दयानंद ने आर्य समाज आरंभ किया, राजनारायण बोस ने 'स्वदेशी मेला' आरंभ किया (जिसे हिंदू मेला अथवा राष्ट्रीय मेला भी कहा जाता था) और रामकृष्ण परमहंस का पूरा जीवन पश्चिम से जुड़ी हर धारणा के विपरीत तथा पूर्व के विचारों की प्रतिमूर्ति था। बंकिम चंद्र ने राष्ट्रीय गीत 'वंदे मातरम्' की रचना की, उधर तिलक ने जनजागरण के नए तरीके दिए तथा हमें नारा दिया, 'स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है'।

अगर 1859 का साल भारत के लिए पराजय का साल था तो 1893 का साल उसके लिए दोबारा उठ खड़े होने का साल था। 1893 में स्वामी रामकृष्ण परमहंस के युवा शिष्य स्वामी विवेकानंद शिकागो में विश्व धर्म संसद के मंच पर पहुंचे तथा पश्चिम के भौतिकतावाद पर भारत के अध्यात्म को विजयी साबित कर दिया। इसी साल युवा अरबिंदो घोष इंग्लैंड से लौटकर भारत आए। अरबिंदो के पिता कृष्णधन

घोष पश्चिमी सभ्यता के कायल थे इसलिए उन्होंने अपने बेटे को छः साल की आयु से ही इंग्लैंड भेज दिया। उन्हें भारतीय संस्कारों से दूर रखा गया तथा एक ब्रिटिश परिवार में उनका पालन पोषण हुआ। उन्हें बेहतर से बेहतर पश्चिमी शिक्षा दी गई। अपनी मातृभाषा से दूरी की पीड़ा सहते हुए अरबिंदो घोष ने शुरूआत एक अंग्रेजी कवि के रूप में की, इसके बाद वह यूरोपीय भाषाओं और साहित्य में पारंगत हुए। पर भारत आकर जहाज़ से कदम भारत की जमीन पर रखते ही वह पूरी तरह बदल गए। उन्होंने 'न्यू लैंप्स फॉर द ओल्ड' शीर्ष से लेखों की श्रृंखला प्रकाशित की जिसका मूल तत्व था भारत का ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ संघर्ष केवल राजनीतिक नहीं है बल्कि यह तो सभ्यताओं का संघर्ष है। इसी साल (1893) एक आयरिश महिला एनी बेसेन्ट भारत की ओर आकर्षित हुई। भारतीय वेशभूषा में यहां पहुंचकर उन्होंने घोषणा की, भारत को पश्चिम से कुछ नहीं सीखना है बल्कि पश्चिम को भारत से बहुत कुछ सीखने की आवश्यकता है। इसी साल (1893) अंग्रेजी में शिक्षित गणित के प्रोफेसर बाल गंगाधर तिलक ने गणेश चतुर्थी को नया अर्थ देते हुए उसे व्यापक जनजागरण का माध्यम बनाया। जीवन पर्यंत उनका लक्ष्य 'स्वराज' था जिसे प्राप्त करने के लिए उन्होंने यह कदम उठाया। दिलचस्प बात यह है कि इसी साल (1893),इंग्लैंड से लौटै एक युवा बैरिस्टर-मोहनदास करमचंद गांधी-ने यहां स्थापित न हो पाने पर दक्षिण अफ्रीका की ओर रूख किया जहां आगे चलकर उनका रूपांतरण महात्मा गांधी के रूप में हुआ।

क्या यह मात्र संयोग था कि ये सारी घटनाएं 1893 में हुईं? 1893 के बाद से ही भारत केवल राजनीतिक या आर्थिक रियायतों के लिए नहीं बल्कि स्वयं को खोजने की यात्रा पर निकल पड़ा था। यह भारत के लक्ष्य को पाने की यात्रा थी क्योंकि स्वामी विवेकानंद के शब्दों में, 'भारत को पूरी दुनिया को संदेश देना है'।

भारत में जनजागरण की धमक जल्दी ही 1905-1909 के स्वदेशी आंदोलन में सुनाई दी। यह आंदोलन बंगाल को बांटने की साम्राज्यवादी साजिश की प्रतिक्रिया के रूप में आरंभ हुआ लेकिन जल्दी ही स्वदेशी, स्वराज व वंदे मातरम् के नारों के साथ उसने एक सकारात्मक रूप धारण कर लिया। इस आंदोलन ने लाल-बाल-पाल की त्रिमूर्ति को राष्ट्रीय परिदृश्य पर स्थापित किया। यह त्रिमूर्ति इस जनजागरण के अखिल भारतीय स्वरूप का परिचायक थी और इसने तीन विभिन्न धाराओं-तिलक के माध्यम से महाराष्ट्र धर्म; बिपिन चंद्र पाल के माध्यम से ब्रह्मो समाज; लाला लाजपत राय के माध्यम से आर्य समाज-को एकरूप कर राष्ट्रीय आंदोलन बना दिया। इस आंदोलन ने देश भर में राष्ट्रीय विचारों से लोगों को ओत-प्रोत कर दिया तथा कई युवाओं को अपनी ओर आकर्षित किया। सुब्रहम्ण्यम भारती और वी.वी.एस. अय्यर मद्रास में, सावरकर बंधु महाराष्ट्र में, नागपुर में केशव हेडगेवार तथा रामकृष्ण-विवेकानंद आंदोलन के प्रतिनिधि के रूप में भगिनी निवेदिता। एक गरीब ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए हेडगेवार 1910 में क्रांतिकारियों के गढ़ बंगाल जा पहुंचे; विलक्षण प्रतिभा के धनी गुजराती परिवार से

आए स्वामी दयानंद के शिष्य श्यामजी कृष्ण वर्मा क्रांति की ज्वाला लेकर इंग्लैंड पहुंच गए।

भारतीय आत्मा पश्चिम की भाषा और मुहावरे में खुद को व्यक्त करने का प्रयास कर रही थी। मांडले जेल में लोकमान्य तिलक गीता-रहस्य की रचना कर रहे थे, अलीपुर बम षड्यंत्र मामले में जेल से बाहर आने के बाद अरबिंदो ने 1909 में उत्तरपाड़ा में अपना प्रख्यात वक्तव्य दिया। लगभग उसी समय अफ्रीका में गांधी जी अपनी कालजयी रचना 'हिंद स्वराज' लिख रहे थे।

ये सभी प्रयास एक दूसरे से स्वतंत्र दिख रहे थे पर यह मंथन की एक ही प्रक्रिया से निकल कर एक ही जीवन दर्शन की व्याख्या कर रहे थे। ये सभी प्रयास हमारे स्वतंत्रता आंदोलन के दार्शनिक आधार को आकार दे रहे थे। ये सभी महापुरूष एक ही बात कह रहे थे कि भारत का स्वतंत्रता आंदोलन केवल उसकी राजनीतिक आजादी के लिए नहीं है बल्कि उसकी निजी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के लिए भी है। भारत पश्चिम के उस विचार को स्वीकार नहीं करता था जो चीजों को बांट कर देखता था, जिसमें समग्रता नहीं थी। वह पश्चिम के उस मॉडल का अंधानुकरण करने के लिए तैयार नहीं था जिसका आधार मशीनीकरण व उपभोक्तावाद था। वह विकास का अपना मॉडल बनाना चाहता था जो जीवन के प्रति समग्र दृष्टिकोण पर आधारित था जो व्यक्ति को भौतिकता से आध्यात्म की ओर ले जाता है। 1915 में गांधी जी जब तक भारत लौटे तब तक भारत के स्वतंत्रता आंदोलन का दर्शन आकार ले चुका था। गांधी इसके प्रवक्ता भी बने और जीती-जागती मिसाल भी।

कलकत्ता में छः साल चिकित्सा के छात्र के रूप में बिताने के बाद डॉ. हेडगेवार 1916 में नागपुर लौटे। कहने को तो वे चिकित्सक थे पर असल में वह बंगाल के क्रांतिकारियों की बम की संस्कृति के अनुयायी बन कर लौटे थे। नागपुर में उन्होंने अपनी डिग्री का उपयोग आजीविका कमाने के लिए न करके लोकमान्य तिलक व बम संस्कृति के अनुयायी के रूप में खुद को पूरी तरह से स्वतंत्रता आंदोलन में झोंक दिया। 1920 तक तिलक को काल ने ग्रास लिया था और गांधी जी ने राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व करने का बीड़ा उठाते हुए असहयोग आंदोलन के रूप में सत्याग्रह का आह्वान किया। तिलक के अनुयायी डॉ. हेडगेवार आंदोलन में कूद पड़े और जेल चले गए। इस तरह उन्होंने गांधी जी द्वारा दिए गए इस नए राजनीतिक हथियार को करीब से देखा। एक तरह से डॉ. हेडगेवार बंगाल के क्रांतिकारी पथ तथा जनांदोलन को लेकर तिलक व गांधी जी की सोच का समागम थे। डॉ. हेडगेवार दर्शन में ज्यादा न उलझ कर जमीन पर काम करने वालों में थे।

डॉ. हेडगेवार ने बिना किसी शोर-शराबे के 1925 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की नागपुर में स्थापना कर भारतीय सार्वजनिक जीवन में संगठन की एक नई तकनीक को सामने रखा। डॉ. हेडगेवार की दैदीप्यमान राष्ट्रभक्ति व पारदर्शी आदर्शवादिता ने एम.एस. गोलवलकर को आकर्षित किया। गोलवलकर एक गरीब शिक्षक की संतान थे तथा बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में प्राणि विज्ञान के प्रोफेसर थे। बीएचयू की स्थापना पंडित मदन मोहन मालवीय ने की थी जो गांधी युग के पूर्व से ही कद्दावर नेता तथा हिंदू

जीवन दर्शन के पुरोधा थे। गोलवलकर, स्वामी अखंडानंद जी के शिष्य थे और अगर वह डॉ. हेडगेवार के संपर्क में नहीं आते तो रामकृष्ण मिशन में संन्यासी हो जाते। लेकिन भाग्य को कुछ और ही स्वीकार था। गोलवलकर और डॉ. हेडगेवार का साथ आना भारतीय दर्शन की दो धाराओं का समागम था जो कर्म और दर्शन से जुड़े थे। अपनी लहराती दाढ़ी के कारण गुरुजी के नाम से लोकप्रिय गोलवलकर ने डॉ. हेडगेवार के संघ के कर्म के पीछे के दर्शन को सामने रखा। संघ की इसी धारा ने एक और विलक्षण प्रतिभा के धनी व्यक्तित्व को आकर्षित किया जिनका नाम पंडित दीनदयाल उपाध्याय था। दीनदयाल जी का जन्म निर्धन परिवार में हुआ था। बचपन में ही उनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया था और उन्होंने अपने प्रयासों से शिक्षा ग्रहण की। लेकिन इसके बाद उन्होंने राष्ट्र को स्वतंत्र करवाने और उसके पुनर्निर्माण के लिए अपना जीवन दे दिया।

दीनदयाल जी चिंतक भी थे और संगठक भी। वह हमेशा अपनी उस सांस्कृतिक परंपरा को लेकर सजग थे जिसकी उन्होंने व्यावहारिक व्याख्या की। उन्होंने 'सम्राट चंद्रगुप्त' व 'जगद्गुरु शंकराचार्य' का लेखन कर बौद्धिकता की जिस यात्रा का आरंभ किया उसकी परिणति पूना व बंबई में उन चार व्याख्यानों के माध्यम से हुई जिसमें उन्होंने 'एकात्म मानववाद' का प्रतिपादन किया। यह इस बात का मुखर प्रमाण था कि उन्होंने किसी 'वाद' का समर्थन नहीं किया। उन्होंने 'एकात्म मानववाद' का उल्लेख पहली बार दिसंबर 1964 के अंत में किया जब उन्होंने भारतीय जनसंघ के लिए 'सिद्धांत और नीतियां' दस्तावेज का सृजन किया। संभवतः यह पहली बार था जब किसी राजनीतिक-दार्शनिक दस्तावेज में एकात्म मानववाद का उल्लेख किया गया था। पर उन्होंने यह स्पष्ट कहा कि यह वास्तव में 'भारतीय संस्कृति' का पर्यायवाची है। निश्चित ही उन्होंने इस सूत्र की रचना उन लोगों को भारतीय संस्कृति की समग्रता के प्रति सजग करने के लिए की थी, जो पश्चिम की 'वाद' आधारित बौद्धिक चर्चा में उलझ गए थे।

इतिहास में दीनदयाल जी का स्थान इस कारण है कि वे भारत के स्वयं को पुनः खोजने के उन प्रयासों का हिस्सा थे जो पश्चिम की औद्योगिकीकरण की नई सभ्यता के संदर्भ में हो रहे थे। उन्होंने विश्व सभ्यता में आ रहे परिवर्तनों तथा भारत के सामने आ रही चुनौतियों के संदर्भ में भारतीय दर्शन की पुनः विवेचना के प्रयासों को आगे ले जाने का प्रयास किया। भारतीय संतों द्वारा लंबे समय से सामने रखे गए इस दर्शन की विवेचना डॉ. हेडगेवार और गोलवलकर ने भी की थी। निश्चित ही सबने यह काम अपने-अपने ढंग से किया।

दीनदयाल जी के काम को इन्हीं प्रयासों को जारी रखने की दृष्टि से देखना चाहिए। किसी भी संगठित गतिविधि के साथ अक्सर यह होता है कि वे अपने नायक स्थापित कर केवल उन्हीं को सभी अच्छी चीज़ों का स्त्रोत मान लेते हैं। किसी भी गतिशील व स्फूर्त आंदोलन को यह ध्यान रखना चाहिए कि अपने नायकों से प्रेरणा लेते हुए कहीं वे किसी 'वाद' के दुष्चक्र में न फंस जाएं। गांधी और मार्क्स दोनों ने अपने अनुयायियों को यही चेतावनी दी थी।

मार्क्स ने कहा था, 'भगवान का शुक्र है! मैं मार्क्सवादी नहीं हूं।' और गांधी ने एक बार स्पष्ट लिखा था कि गांधीवाद नाम की कोई चीज नहीं है।

सहज ज्ञान युक्त दीनदयाल जी ने भारतीय संस्कृति की विवेचना करते हुए यह देख लिया था कि आधुनिकतावाद की कमियां क्या हैं और इन कमियों का कारण है व्यक्ति व सृष्टि के प्रति अधूरा व खंडित वैज्ञानिक ज्ञान। उन्होंने यह भी भांप लिया था कि औद्योगिकीकरण पर आधारित सभ्यता किस बड़ी आपदा की ओर बढ़ रही है। उनके द्वारा की गई कई भविष्यवाणियां सच साबित हो रही हैं। कम्युनिस्ट विचारधारा ढह रही है और पूंजीवाद आंतरिक संघर्ष से जूझ रहा है। नए गठजोड़ और टकराव उभर रहे हैं। पर्यावरण का संकट सर पर है और पारिस्थितिकीय संतुलन बिगड़ चुका है। ये दोनों ही गंभीर चुनौतियां हैं। प्रयोग के मामले में आधुनिक विज्ञान अपनी अंतिम सीमा तक पहुंच गया है। अंतिम सत्य को अन्वेषित करने के इसके प्रयास अब अटकलबाज़ियों की तरह होते जा रहे हैं। आधुनिक विज्ञान अब समय और स्थान की वास्तविकता से आगे जाने के लिए संघर्षरत है। शायद यह अध्यात्म के दरवाजे पर दस्तक दे रहा है। आज मानव समाज सभ्यताओं के दोराहे पर खड़ा है। दोनों राहों पर असीम संभावनाएं हैं। क्या वह अपने विनाश को स्वयं आमंत्रित करेगा? या फिर वह भारतीय विचार के अनुरूप जाकर उपभोक्तावाद तथा पारिस्थितिकी को नष्ट करने वाले औद्योगिकीकरण को छोड़कर एक नई सभ्यता का सृजन करेगा, जिसके मूल में 'सादा जीवन, उच्च विचार' का भारतीय दर्शन है।

इसी संदर्भ में इन पृष्ठों में एकात्म मानववाद की अवधारणा तथा इससे जुड़ी कुछ विवेचनाओं को प्रस्तुत किया गया है। यह प्रस्तुतिकरण उत्तरों से ज्यादा प्रश्न उठाता है तथा पाठकों को आमंत्रित करता है कि वे पुनर्विवेचना की इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाएं ताकि मानव समाज अपने सामने खड़ी चुनौतियों का सामना कर सके।

❖❖❖

1992 में दीनदयाल शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित संकलन में प्रसिद्ध इतिहासज्ञ प्रोफेसर देवेंद्र स्वरूप द्वारा लिखित आमुख

एकात्म मानव-भारतीय अवधारणा

– एम.एस. गोलवलकर 'गुरुजी'

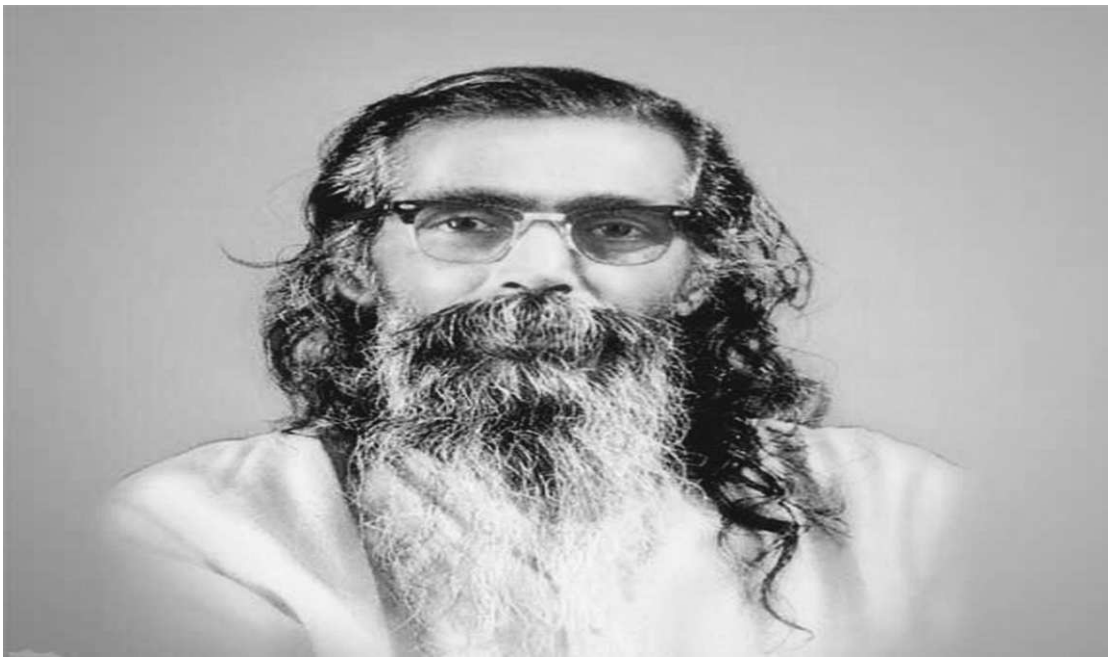

एक बार पुनः भारतीय जीवन मूल्यों के बारे में विचार करने का आज अवसर है। इसके कारण बड़े स्वाभाविक हैं। जब तक भारत एक पराधीन राष्ट्र था तब तक भारतीय मानस में प्रमुख विचार अपने देश, राष्ट्र व पहचान के बारे में था। ऐसा माना जाता था कि देश को स्वाधीन करवाने और उसके पुनर्निर्माण के लिए कुछ ऐसे अच्छे, गुणवान लोगों की आवश्यकता है जो किसी भी प्रकार के दागों से दूर हैं, आत्मत्याग की भावना से काम करते हैं तथा प्रतिबद्ध हैं। उन दिनों राजनीतिक दलों के कार्यकर्ता सादगी भरा जीवन जीते थे और बलिदान के लिए सदा तैयार रहते थे। इस परंपरा से हटने की उनमें से कोई स्वप्न में भी कल्पना नहीं करता था। ऐसा माना जाता था कि जब इतने उच्च चरित्र वाले लोगों के हाथों में देश की कमान होगी तो उसे संपन्नता के नए शिखरों तक पहुंचने से कोई नहीं रोक पाएगा। कहा जाता है कि मादक पदार्थों में सबसे नुकसानदेह नशा 'सत्ता' का होता है। कहा जा सकता है कि आज सार्वजनिक जीवन में सादगी, निस्वार्थ भाव से काम करना तथा त्याग की भावना से काम करने जैसे गुणों का अभाव है। भ्रष्टाचार बड़े पैमाने पर फैला हुआ है। विशिष्ट उदाहरण न देते हुए भी इतना तो कहा जा

सकता है कि सार्वजनिक गतिविधियों में सक्रिय बहुत से लोग ऐसे हैं जिनका आचार-व्यवहार मान्यता प्राप्त मानकों के आस-पास भी नहीं हैं।

पिछले कुछ वर्षों से कहा जा रहा है कि हमारे देश में चरित्र का संकट है। पर चरित्र-निर्माण का काम कोई गंभीरता से स्वयं पर लेने को तैयार नहीं है। हम उम्मीद करते हैं कि आम आदमी अच्छे चरित्र के हों, उनमें भरपूर गुण हों और वे आत्मत्याग की भावना से परिपूर्ण हों। इसीलिए छोटे मोटे अपराधों को भी हमारे यहां दंड संहिता के अंतर्गत दंडनीय बनाया गया था। पर उच्च स्तर पर हो रहे भ्रष्टाचार के बड़े मामलों को लेकर कोई चिंतित दिखाई नहीं देता है। वाकई यह विरोधाभास है।

आम आदमी अपनी रोजमर्रा की गतिविधियां पूरी कर सके और उससे परिवार व समाज का ठीक से पालन-पोषण हो जाए इसके लिए आवश्यक है कि प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति को सुनिश्चित किया जाए।

भौतिक संपन्नता का आरंभ समाज में सबसे निचले पायदान पर पहुंच चुके वर्ग से होना चाहिए। समाज में निम्न स्तर पर पहुंच चुके वर्ग की मूलभूत आवश्यकताएं पूरी करने के बाद ही उच्च वर्ग की ओर ध्यान देना चाहिए। इसके लिए अगर ऊपर बैठे लोगों को अपनी सुख-सुविधा में थोड़ी कमी करनी पड़ती है तो बेहिचक उन्हें यह करना चाहिए। सामान्य जन के कल्याण के लिए उन्हें उपभोग पर इस अंकुश को सहर्ष ही स्वीकार करना चाहिए। लेकिन चरित्र निर्माण के मामले में यह क्रम उलटा हो जाता है। हमारे लिए आवश्यक है कि सर्वोच्च स्तर पर ऐसे लोग हों जो आत्म नियंत्रण, सादगी और सद्व्यवहार के जीते-जागते आदर्श हों, तभी ये आवश्यक गुण नीचे तक पहुंच पाएंगे। पर ऐसा देखा गया है कि उच्च स्तरों पर रहने वाले तो भोग-विलास में लीन हैं और निचले स्तरों पर रह रहे आम लोगों से ठोस चरित्र व भरपूर आत्म नियंत्रण की अपेक्षा करते हैं। जो होना चाहिए यह स्थिति उसके विपरीत है। इस प्रकार से समाज न तो प्रगति के पक्ष पर बढ़ पाएगा न ही टिकाऊ विकास कर पाएगा।

यह भी देखा गया है कि जब हम पराधीन थे, तो उस समय राष्ट्रीय स्वाभिमान के कारण हम अपने जीवन को परंपराओं के अनुरूप ढालने का प्रयास कर रहे थे। उस समय की परिस्थितियों से उपजी मजबूरी के कारण हम विदेशियों के संपर्क में आए और इसका हमारे मानस पर जो परिणाम हुआ वह विदेशी शासन के विरुद्ध तीखी प्रतिक्रिया के रूप में सामने आया। पर विदेशी शासन समाप्त होते ही उस प्रेरणा का भी लोप हो गया, जिसने हमें विदेशी प्रभाव से दूर रखा था। हमारी पूरी जीवनशैली ही बदल गई। मैं समझता हूं कि आज के जमाने में एक दूसरे से संपर्क होने पर 'लेन-देन' की प्रक्रिया स्वाभाविक है, पर यहां तो एक ही दिशा में सारा प्रवाह था। हम सिर्फ 'लेने' की स्थिति में हैं। हमारे पास सब कुछ अंधाधुंध चला आ रहा है, चयन का विकल्प ही नहीं है। अगर हमने अंग्रेजों की देश भक्ति, काम के प्रति प्रतिबद्धता, कर्तव्य को लेकर सजगता जैसे गुणों की नकल की होती तो कोई आपत्ति नहीं थी। पर हमने उनसे सिर्फ चमक-दमक भरी जीवनशैली उधार ले ली और बात यहां तक जा पहुंची कि हमें अपनी हर

चीज बुरी लगने लगी। यह रूपांतरण हमारी जीवन-शैली, चरित्र-निर्माण व कर्तव्य पालन की भावना के लिए नुकसानदेह है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि हमें अपनी पहचान के बारे में याद करवाया जाए।

पर आत्मचेतना की इस भावना को जगाना आसान नहीं है। इसके रास्ते में कई बाधाएं हैं। एक बाधा के मूल में तो पिछले कुछ सालों हमारी शिक्षा प्रणाली है। वह चालाक अंग्रेज जिसने यह शिक्षा प्रणाली स्थापित की थी, कहा करता था, ''यहां भारत में आपको जल्द ही अश्वेत अंग्रेज मिलेंगे।''

हममें से अधिकतर आज इसी मापदंड पर खरे उतरते हैं। एक बड़ा वर्ग ऐसा है जिसे हर 'भारतीय' चीज से घृणा है। अगर आज हम कहें कि भारत में जीवन जीने के महान सिद्धांत हैं तो शिक्षित वर्ग, जो अपनी प्रगति के बारे में ही सोचता है, इस पर विश्वास करने को तैयार नहीं है। हमें ईश्वर को धन्यवाद देना चाहिए कि कुछ अवसरों पर कम से कम हमारे नेता हमारे राष्ट्रीय जीवन को सदियों पुराना तो कहते हैं। पर ये केवल खोखले शब्द हैं। इन विचारों को लोगों के सामने लाने या अपने जीवन में समाहित कर लोगों के सामने रखने की न तो इच्छा है न ईमानदारी। इसलिए ये केवल खोखले शब्द हैं, मुखौटा हैं।

पश्चिम के प्रभाव में आज यह कहना फैशनेबुल हो गया है, ''मैं ईश्वर या धर्म में विश्वास नहीं करता हूं। इन चीज़ों में आस्था होने का कोई मतलब नहीं है।'' हमारे जीवन तंत्र के आधारभूत अवयवों को अस्वीकार कर देना भी सामान्य हो गया है। इसलिए यह विचार करना आवश्यक हो गया है कि जिन अंग्रेजों के प्रभाव से ऐसा हो रहा है क्या वास्तव में उनके पास कोई श्रेष्ठ दर्शन है जो सबके लिए उपलब्ध है।

दार्शनिक संदर्भों में देखा जाए तो आजकल साम्यवाद की बहुत बात होती है। आइये देखते हैं कि हमारे लिए इसका क्या मतलब है। इसने कुछ सिद्धांत गढ़े हैं। यह एक विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था के लिए विचारों की भी बात करता है और बड़ी धूमधाम के साथ इन विचारों का प्रसार भी किया गया है। वे आनंद को बराबर बांटने वाली व्यवस्था के बारे में बात करते हैं। पश्चिम के गैर साम्यवादी देशों में इस प्रकार के दर्शन की चर्चा कोई नहीं करता है। केवल फ्रेंच क्रांति को इस मामले में अपवाद कहा जा सकता है क्योंकि उसमें लोकतंत्र, समानता और बंधुता की बात कहते हुए इन्हीं सिद्धांतों पर वहां की आर्थिक, राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्था बनाने की बात की गई थी। पर यह कहना कि सभी बंधु समान हैं, हमारे अनुभव से अलग है। कोई दो व्यक्ति एक जैसा व्यक्तित्व नहीं रखते हैं; यहां तक कि जुड़वां भी बिल्कुल एक जैसे नहीं होते हैं। यह सच है कि उनकी शारीरिक आवश्यकताएं एक जैसी हो सकती हैं। पर बुद्धि, शारीरिक व मानसिक गुणों को एक जैसा मानना वास्तविकता से मुंह मोड़ने जैसा होगा। इसीलिए उनके दर्शन में कुछ कमियां हैं।

समानता के सिद्धांत से प्रेरित साम्यवादी ऐसी व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं जहां समानता हो। इस संदर्भ में यहां यह प्रश्न पूछना प्रासंगिक होगा कि क्या मानव जीवन इसी

संसार तक सीमित है। क्या मानव को केवल रोटी, कपड़ा, मकान और चित्त को भली लगने वाली चीज़ें ही चाहिए? क्या इन वस्तुओं का उत्पादन और उपभोग ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है? पश्चिम के साम्यवादी और गैर साम्यवादी देशों में केवल शब्दों का हेर-फेर है, बाकी कोई अंतर नहीं है। दोनों का मानना है कि जीवन केवल सांसारिक पदार्थ से जुड़ा है। आज जीवन में पूरा बल 'अर्थ' व 'काम' पर है। संपदा प्राप्त करने के बाद उसे बचाना और बढ़ाना आवश्यक है, क्योंकि इच्छाएं कभी पूरी नहीं की जा सकती हैं।

जैसा कि हम जानते हैं कि आज दुनिया में संपदा पैदा करने की गतिविधियों की कोई कमी नहीं है। संपदा का संग्रहण और उसे बचा कर रखना आवश्यक है क्योंकि इच्छाएं एक बार उपभोग करने के बाद भी कभी तृप्त नहीं होती हैं। इसीलिए कहा गया हैः 'न जातु कामः कामानुपभोगेन शाम्यति'। जब आग में लकड़ी फेंकोगे तो आग भड़केगी। इसी प्रकार इच्छाओं की पूर्ति होने के बाद वे पुनः ज्यादा शक्ति के साथ वापसी करती हैं।

यह हमारा रोजमर्रा का अनुभव है कि विभिन्न सुखों को भोगने की शारीरिक क्षमता न होने के बावजूद उनके प्रति आकर्षण कभी कम नहीं होता है। इसलिए कहा गया है, ''हम क्या करेंगे जब हम वृद्ध हो जाएंगे जबकि हमारी इच्छाएं युवा ही रहेंगी-'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः'। किसी भी तृष्णा की संपूर्ण संतुष्टि नहीं हो सकती है। इसलिए इन तृष्णाओं की पूर्ति के लिए हम अधिक से अधिक संसाधनों का संग्रहण करते हैं और जब वे पर्याप्त नहीं होते तो दूसरों के संसाधनों को भी हड़पने लगते हैं। विश्व में आज हम साम्राज्यवाद का जो स्वरूप देखते हैं वह व्यक्ति की निरंकुश वासनाओं का ही परिणाम है। यह प्रवृत्ति दूसरे देशों पर बलपूर्वक कब्जा करने की इच्छा को जन्म देती है। इस प्रकार के विश्व में शांति की संभावना नगण्य है। यह अवश्यम्भावी है कि मानव के चित्त में जो उथल-पुथल मची है वह उसके बाहरी क्रियाकलापों में प्रकट होगी। यह विश्व में संघर्ष के कारणों में से एक है। यह कभी नहीं हुआ कि सभी इच्छाओं को तृप्त करके शांति प्राप्त की जा सके या सुख की चाह पर विराम लग सके।

गीता के सोलहवें अध्याय में दो प्रकार के व्यक्तियों का वर्णन है-दैवीय व आसुरी। हम देखते हैं कि विश्व में आज लोग लालच के कारण एक दूसरे पर आक्रमण कर रहे हैं; राष्ट्र एक दूसरे पर हमला कर संपदा हड़पने या अपना प्रभुत्व दूसरे पर स्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं। यह आसुरी प्रवृत्ति है। ''मैने आज एक को मारा, कल मैं दूसरे को मारूंगा, अब मैने एक की संपदा हथिया ली है, कल मैं किसी दूसरे को उसी संपदा से वंचित कर दूंगा। मैं महान हूं। मैं समाजसेवी हूं। मैं बलिदान देता हूं। कोई मेरे जैसा नहीं है।'' आज भी 'अर्थ' व 'काम' को बहुत अधिक महत्व देने के कारण, लोग अहंकार भाव से दावा करते हैं कि वे समाजवादी, साम्यवादी, लोकतंत्रवादी आदि हैं।

मानव की प्रकृति में हम गीता के सोलहवें अध्याय में दी गई दैवीय व आसुरी प्रवृत्तियों को प्रत्यक्ष देखते हैं। हम पश्चिम में कोई दिव्य शक्ति या दिव्य गुण नहीं देखते हैं। अब हमें इसी प्रकार के विश्व में

रास्ता बनाना होगा। विभिन्न लोगों ने विभिन्न रास्ते खोजने का प्रयास किया है। लोगों ने अपने पंथ अथवा संप्रदाय के अनुरूप अपने जीवन को ढालने का प्रयास किया। परंतु इससे उन्हें संतुष्टि नहीं मिली क्योंकि उन पंथों या संप्रदायों में मूलभूत सिद्धांतों व दर्शन का अभाव था। वे कहते हैं, ''केवल एक ईश्वर है और उसका एक संदेशवाहक है। संदेशवाहक में श्रद्धा रखिए और भगवान की श्रद्धाभाव से भक्ति करिए तो इससे सारे पापों से मुक्ति मिल जाएगी। पर कोई व्यक्ति जो पूरी तरह से 'अर्थ' व 'काम' में लिप्त है और ईश्वर में भरोसा नहीं करता, वह कैसे क्षमाशील होगा। इसके बावजूद उसे श्रद्धा रखने के लिए कहा जाता है। सामान्य तौर पर एक बुद्धिमान व्यक्ति के लिए इस प्रकार श्रद्धा रखना संभव नहीं है। पहले आप उसे बौद्धिक रूप से संतुष्ट करिए, इसके बाद ही वह श्रद्धा रख पाएगा। ''आपकी सभी बौद्धिक क्रियाएं अपने अंतिम बिंदु तक पहुंच चुकी हैं। अब बुद्धि इससे आगे नहीं जा सकती है।'' आपको यह रास्ता स्वीकार करना होगा। व्यक्ति वही स्वीकार करता है जो उसकी बुद्धि की कसौटी पर खरा उतरता है। अगर आप आरंभ से बुद्धिमान व्यक्ति को श्रद्धा रखने के लिए कहेंगे तो उसे यह स्वीकार्य नहीं होगा। श्रद्धा तभी आ सकती है जब बुद्धि पूरी तरह से इस बात से संतुष्ट हो चुकी हो कि अब इससे आगे वह नहीं ले जा सकती है।

हम देखते हैं कि पश्चिम से बहुत से लोग भारत आकर धर्मांतरण कर रहे हैं। उनके अपने देशों में उनके चर्च खाली हैं और बहुत कम लोग वहां जाते हैं। उनके भीतर वे कोई भावनाएं नहीं जगा पा रहे हैं। लोगों की श्रद्धा उनमें अब नहीं रही। वे प्रेरित महसूस नहीं करते। हमें उन्हें कोई विधि बतानी होगी जिससे वे 'अर्थ' व 'काम' आधारित आसुरी प्रवृत्तियों से छुटकारा पा सकें। आईए देखते हैं कि क्या हमारी राष्ट्रीय व सामाजिक परंपराएं ये रास्ता दिखा सकती हैं। मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है कि ये परंपराएं ऐसा करने में सक्षम हैं। हमारे ऋषियों व मनीषियों ने इस पर विस्तार से चिंतन-मनन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि केवल अर्थ और काम पर आधारित जीवन आसुरी है और इसलिए जीवन जीने का यह ढंग नहीं होना चाहिए। इनसे जुड़ी इच्छाएं कुछ हद तक तो हमारे मन में विराजमान रहेंगी। पर ऐसे तरीकों को ढूंढ़ने की आवश्यकता है जिससे इन पर अंकुश लगाकर इन्हें आसुरी बनने से रोका जा सके। इसलिए हमें बताया गया है कि इच्छाओं को तृप्त करने से वे कभी समाप्त नहीं होती और दूसरा, भौतिक पदार्थों से आनंद व संतोष मिलने की उम्मीद करना मृगतृष्णा की तरह है क्योंकि वे किसी भी प्रकार का स्थायी सुख देने में सक्षम नहीं हैं। आनंद तो व्यक्ति के भीतर होता है। यह बाहरी नहीं होता है। हम अपनी अज्ञानता के चलते आनंद को बाहरी वस्तुओं से जोड़ देते हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि बाहरी पदार्थ एक बूंद भर सुख का अहसास आपको देती हैं जबकि आनंद का समुद्र आपके भीतर है।

मानव की परिणति इस सच्चिदानंद को प्राप्त करना है जो उसके भीतर है। यह वो आधारभूत सिद्धांत है जिसकी स्थापना हमारे मनीषियों ने की है। जो अपने को सांसारिक बंधनों से मुक्त कर लेता है, जो बाहरी आकर्षणों से आकर्षित नहीं होता, वही इस सच्चिदानंद को प्राप्त कर सकता है। वही मुक्त आत्मा

है। मानव मात्र का परम लक्ष्य यही है। पर जब तक वह इस लक्ष्य तक नहीं पहुंचता तब तक उसे इस संसार में सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति हेतु कुछ कार्य करने होंगे। लेकिन हमें विभिन्न प्रकार से नियंत्रण व संतुलन कर यह सुनिश्चित करना होगा कि वह इन क्रियाकलापों को करते हुए शालीनता व सभ्यता की सीमा न लांघे।

इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए हमें धर्म के पथ पर चलने के लिए कहा गया है। धर्म की जो परिभाषा सबसे अधिक स्वीकृत है उसके अनुसार जिस प्रकार एक व्यक्ति को आनंद की अनुभूति के लिए मानसिक शांति व एकाग्रता की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार एक सुरक्षित जीवन जीने के लिए समाज में भी एक व्यवस्था की आवश्यकता होती है। अगर कोई समाज सुसंगठित व आपस में जुड़ा हुआ है तथा विभिन्न प्रकार के लोगों को व्यक्तिगत कार्य करते हुए भी पूरे समाज के लिए संपन्नता, सुरक्षा व एक उच्चतर जीवन जीने की दिशा में स्वाभाविक सहयोग की दृष्टि से काम करने की प्रेरणा देता है तो यही 'धर्म' है। समाज को बनाए रखने के लिए उपयुक्त परिस्थितियों का निर्माण करना धर्म के विभिन्न कार्यों में से एक है। धर्म का दूसरा काम है व्यक्ति को धर्म के अनुसार आचरण करने की प्रेरणा देना। हमारे शास्त्रों के अनुसार : 'वेदों का पालन करना, हमारी शास्त्रीय परंपराओं का पालन करते हुए कार्य करना, पवित्र विचारों को अपने में पल्लवित करते हुए अपने अंदर सदाचार विकसित करना 'धर्म' है।' शाश्वत सत्य व आत्मा की अनुभूति के लिए जो भी आवश्यक है वह करना धर्म है।

इसे प्राप्त करने के लिए हमें अपने रोजमर्रा के जीवन में कुछ नैतिक गुणों का पालन करने के लिए कहा गया है। हमारे शास्त्रों में इन नैतिक गुणों के बारे में विस्तार से जानकारी दी गई है। हमें सदाचार के लिए 10 ईश्वरीय गुणों को अपने अंदर स्थापित करने की बात कही गई है।

भगवद्गीता भी हमें बताती है कि कैसे हम इन गुणों को प्राप्त कर सकते हैं। हमें उन्हें पढ़ना चाहिए और उन पर मनन करना चाहिए। हमें आत्मावलोकन करना चाहिए कि क्या ये गुण हममें पर्याप्त मात्रा में हैं और अगर हमारे में कोई कमी है तो उसे दूर करने का प्रयास करें। आइये हम सब बुराईयों को छोड़ दें। आईए हम अपनी बुद्धि को अनुशासित करें। हममें से हर एक को इसी प्रकार से व्यवस्थित जीवन जीने के लिए कहा गया है।

धर्म का एक प्रभाव यह भी है कि वह एक संतुलित व स्वस्थ मानसिक अवस्था का विकास करता है। इसके लिए वह भावनाओं व बुरी प्रवृत्तियों को अनुशासित करता है। इसी धर्म को अपने जीवन का आधार मानकर 'अर्थ' और 'काम' को इसके अनुरूप अनुशासित करना तथा जीवन में सभी अच्छे गुणों का प्रकटीकरण व अंतिम पुरूषार्थ के रूप में मोक्ष के लिए सतत् प्रयास करना-यही जीवन का संपूर्ण चित्र है। कम शब्दों में कहा जाए तो यही एकात्म मानव का स्वरूप है। इस कार्य को बिना रूके लगातार करने की आवश्यकता है।

आज के टकराव भरे युग में बंधुत्व की भावना का विलोप हो गया है। इस चिंताजनक स्थिति को

बदलने के लिए तथा विश्व में शांति के लिए हमें चार पक्षों पर आधारित पुरूषार्थ अपनाने की आवश्यकता है। इसका कोई और विकल्प नहीं है। यह हमारा दायित्व है कि हम अपने व्यवहार और उदाहरण से संपूर्ण मानव समाज को शाश्वत सत्य के बारे में शिक्षित करें।

यह अत्यंत आवश्यक है। 'अर्थ' व 'काम' के पीछे बिना किसी अंकुश के भागने की पश्चिम की जीवन शैली को अपनाने का कोई लाभ नहीं है। हमें इस प्रवृत्ति को अनुशासित करने के तरीके खोजने होंगे ताकि चार गुणों से युक्त पुरूषार्थ पर आधारित एक व्यवस्थित समाज की स्थापना की जा सके जहां सभी के भीतर से सर्वश्रेष्ठ को उभारा जा सके। विश्व कल्याण का यही एक मात्र उपाय है।

साम्यवादियों का कहना है कि उन्हीं के पास एक वैश्विक दर्शन है, जिसके आधार पर वे 'सर्वहारा की एकता' की बात करते हैं। भारतीय दर्शन काम करने वालों तथा काम न करने वालों में भेद-भाव नहीं करता है। वह प्रत्येक व्यक्ति को चार गुणों वाले पुरुषार्थ के माध्यम से एकात्म मानव बनने का आह्वान करता है। इसीलिए हम कहते हैं कि हमारे परंपरागत जीवन मूल्यों और संस्कृति में बिना किसी भेदभाव के पूरी मानवता के कल्याण की क्षमता है।

इस समय सबसे अधिक आवश्यकता इस क्षमता को अपने विकसित करने की तथा हममें से हरएक को विश्व कल्याण के लिए तैयार करने की है ताकि हम एक सुसंगठित व व्यवस्थित समाज को स्थापित करने के पवित्र कार्य का माध्यम बन सकें। इस समाज में व्यक्ति सत्यवादी तथा आत्म विश्वासी होंगे। वे चार गुणों वाले पुरूषार्थ का पालन करेंगे।

आपके विचार कितने ही महान हों, उनकी घोषणा कर देने मात्र से कोई उनका पालन नहीं करता है। एक ऐसा विश्व जो सत्ता के लोभ व भौतिक सुखों की तलाश के कारण नवीय मूल्यों के प्रति संवेदनहीन है, ऐसे विश्व को अपने महान सिद्धांतों की जानकारी देने का कोई लाभ नहीं होगा। उन्हें सहमत करने के लिए हमें बल प्रयोग की अनुमति भी लेनी पड़ सकती है ताकि उनकी पाशविक प्रवृत्तियों को नियंत्रित किया जा सके। आज हम व्यक्ति में पाशविक प्रवृत्तियों को हावी होते देख रहे हैं। व्यक्ति एक पालतू पशु से अधिक कुछ नहीं है। केवल वही दूसरों को अपनी आत्मा की शक्ति के आधार पर आकर्षित कर पाएगा जिसने अपनी इंद्रियों पर नियंत्रण कर लिया है और जिसने आत्मानुभूति प्राप्त कर ली है और जो गुणी है। हमें ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करना चाहिए; हमारे विचार में हमारा अंतिम लक्ष्य सही है कि हम समाज को इस प्रकार संगठित कर उसे शक्तिशाली बनाएं कि व आनंदित हो पर भोगवादी न हो, वह संपन्न हो पर दिशाहीन न हो।

आईये इस प्रकार की श्रेष्ठ विचारधारा से प्रेरणा लेकर पश्चिम की नकल करने के चक्कर में आसुरी प्रवृत्तियों को समाहित कर रहे लोगों को इससे बचने के लिए कहें। इसके साथ ही उन्हें अपनी ईश्वरीय प्रवृत्ति को विकसित करने के लिए भी कहें। जो भी अपनी योग्यता व क्षमता के अनुरूप स्वयं को इस

ध्येय के लिए समर्पित करता है वही मानवता का सच्चा सेवक है और अपने देश के लिए महान कार्य कर रहा है। एकात्म मानवदर्शन का निरूपण करने वाले पंडित दीनदयाल उपाध्याय एक महान चिंतक व दार्शनिक थे। उन्होंने हमें स्पष्ट दिखाया कि एकात्म मानव कैसा होता है। ऐसे एकात्म मानव का निर्माण ही उनके जीवन का ध्येय था।

❖❖❖

दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर में 22 दिसंबर, 1972 को श्री गुरुजी के संबोधन पर आधारित

एकात्म मानवदर्शन-एक अध्ययन

– दत्तोपंत ठेंगड़ी

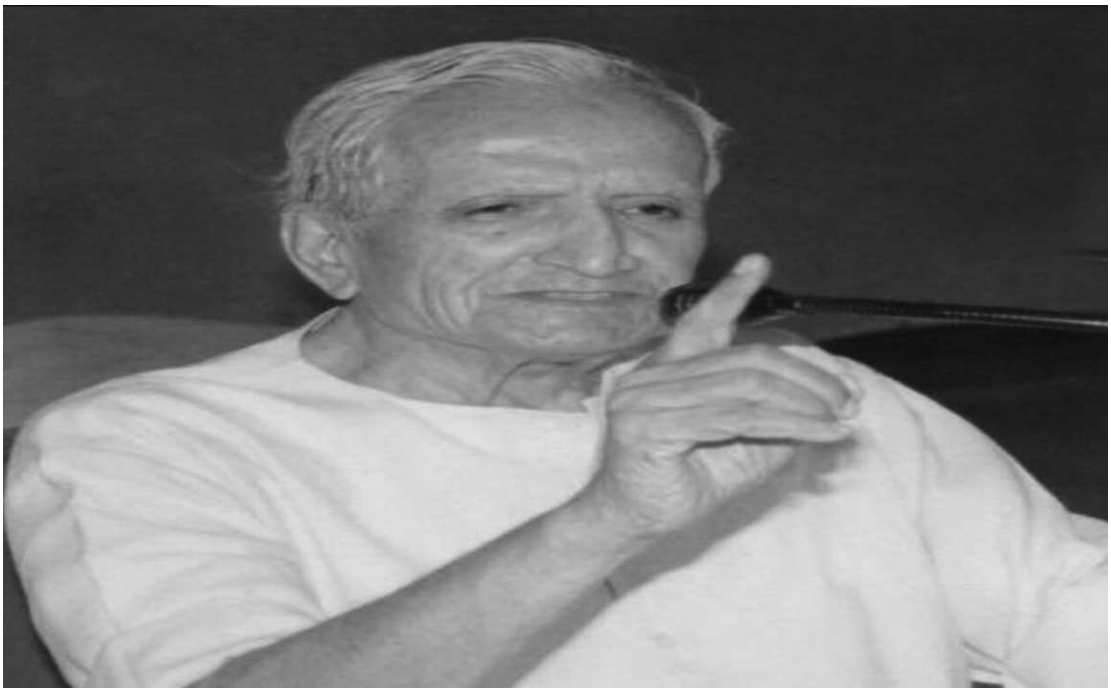

मानवता को पंडितजी का सबसे अमूल्य योगदान एकात्म मानवदर्शन का निरूपण था। महत्वपूर्ण राजनीतिक गतिविधियों से जुड़े लोगों को यह गलतफहमी हो सकती है कि पंडितजी ने एकात्म मानवदर्शन एक नया "वाद" प्रस्तुत किया था, जिसकी स्थापना दूसरे सभी "वादों" को समाप्त करने के लिए तथा एक नए "वाद" की स्थापना के लिए की गई थी। यह तो सभी भली भांति जानते हैं कि नए "वाद" अथवा राजनीतिक विचार की रचना करने वाले सभी लोग उसके मालिक होने का दावा करते हैं। पश्चिम में यह परम्परा ज्यादा व्यापक है। किसी भी मौजूदा विचार से थोड़ा-सा भी अंतर होने से उस अंतर को समाहित करने वाले विचार को नई विचारधारा के रूप में स्थापित करने का अधिकार लोगों को मिल जाता है। लेकिन पंडितजी के मस्तिष्क में कभी ऐसा विचार नहीं आया। संस्कृति के सच्चे पक्षधर होने के कारण उनमें संकीर्णता नहीं थी। वह गीता में भगवान कृष्ण के उस वचन पर विश्वास करते थे, जिसमें उन्होंने कहा था कि सच्चा ज्ञान शाश्वत है। विभिन्न परिस्थितियों के कारण प्रकट रूप में उस ज्ञान

के स्वरूप में कुछ अंतर आ सकता है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि यह नए ज्ञान का सृजन है। पंडितजी ने इस शाश्वत सत्य की अपनी रचनात्मक क्षमता और सकारात्मक दृष्टि के कारण समसामयिक संदर्भों में पुर्नव्याख्या की है। इससे साफ हो जाता है कि एकात्म मानवदर्शन के विचार के पीछे "वादों" को उस क्षमता से लैस करने की जरूरत थी, जिससे वे उनके सामने आ रही चुनौतियों का सामना कर सकें। समाज में मौजूद विचारधाराओं व "वादों" के खिलाफ वह नहीं थे। अपने विचार रखते हुए इन्हें पूरी तरह नकार कर कटुता को बढ़ावा देना तो उनकी सोच में दूर-दूर तक नहीं था।

यह "वाद" क्यों अथवा क्यों नहीं

पंडितजी सब प्रकार के "वादों" के खिलाफ थे। उनका मानना था कि जो शाश्वत है, वही बदलाव का सामना कर सकता है और उसका किसी "वाद" के खांचे में स्थापित होना संभव नहीं है। अन्य शब्दों में कोई "वाद" ऐसा नहीं है, जो सभी देशों, काल व परिस्थितियों के लिए ठीक हो। लेकिन आज के समय में लोग बिना किसी "वाद" के सोच ही नहीं सकते हैं।

दार्शनिक नहीं ऋषि

लगातार बहस करना और विवादास्पद विषयों पर चर्चा करना दार्शनिकों का काम है। उस दृष्टि से पंडितजी दर्शनशास्त्री नहीं थे। उन्हें दर्शनशास्त्री कहना उनके कद को छोटा करेगा। वह भारतीय संत परंपरा का हिस्सा थे, उन्हें ऋषि कहना ज्यादा उचित होगा। इसलिए उन्होंने जो भी सोच और कहा उसे उनका दर्शन कहा जा सकता है। इस प्रकार का दर्शन हमारे लिए नया नहीं है, वह हमारी भूमि पर हमेशा फलता-फूलता रहा है।

हमें एकात्म मानवदर्शन की अवधारणा की क्यों आवश्यकता है? जबकि कई ऐसे "वाद" और विचारों का जन्म हुआ, जिन्हें पश्चिम में प्रगतिशील माना जाता है। हमारे कई लोग यह भी सोचते हैं कि जब पश्चिम में कई "वाद" मौजूद हैं, तो उन्हीं को उधार लेकर क्यों न अपनी समस्याओं का समाधान कर लिया जाए, हमें अपने दिमाग पर जोर डालने की क्या आवश्यकता है। यह भी सत्य है कि पश्चिम के सभी विचारों को नकार देना भी ठीक नहीं है। इसलिए बेहतर होगा कि हम पहले पश्चिम में पिछले तीन से चार शताब्दियों में पैदा हुई विभिन्न विचारधाराओं का अवलोकन कर लें।

पश्चिमी विचार

सबसे पहले "पंथ", धर्म की बात करते हैं। यह कहा जा सकता है कि जब धर्म को लेकर सारा नाटक यूरोप में चल रहा था, वहां पूरी व्यवस्था केंद्रीकृत थी। पोप केंद्रीय बिंदु था और पूरा ईसाई जगत उसी के इर्द-गिर्द घूम रहा था। दो विद्रोह ऐसे हुए जिन्होंने पोप की सत्ता को चुनौती दी। धर्म के दूसरे चरण में यह धारणा प्रबलता से उभरी कि ईश्वर और भक्तों के बीच पोप के रूप में बिचौलिये की आवश्यकता नहीं है। इसी से प्रोटेस्टेंट जैसे पंथों का उदय हुआ। इसके बाद यह बात आई कि धर्म से

संबंधित विषयों में काम करने वालों को राज्य के काम-काज में दखल नहीं देना चाहिए।

इस प्रकार राष्ट्रवाद की अवधारणा उभरी। तीसरे चरण में धर्म पर हमला हुआ और उसे आम लोगों के लिए अफीम का दर्जा दे दिया गया। कहा जाने लगा कि मानवीय समझ से परे किसी भी शक्ति की परिकल्पना करना सत्य से परे और काल्पनिक है। दुनिया का आरंभ, मध्यांतर और अंत केवल पदार्थ से जुड़ा है। धर्म एक मायावी अवधारणा है, जो वास्तविकता से परे हैं। चूंकि, प्रकृति का उद्गम पदार्थ से माना गया इसलिए मस्तिष्क को भी इसी के ऊपर निर्मित अधिरचना (सुपर स्ट्रक्चर) माना गया। अन्य शब्दों में रिलीजन, संस्कृति, नैतिकता का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। बल्कि, वे सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों का प्रतिबिंब मात्र थे। इस प्रकार तीसरे चरण में पदार्थ सब कुछ हो गया और धर्म को पूरी तरह नकार दिया गया।

अनीश्वरवाद का विरोध

विकास के अगले चरण में यूरोप में भौतिकतावादी अनीश्वरवाद के खिलाफ प्रतिक्रिया हुई। विद्वानों और विचारकों को इस बात का अहसास होना आरंभ हुआ कि धर्म व चर्च के पतन को लेकर मार्क्स ने जो भी विचार रखे वे उस समय की परिस्थितियों में भले ही कितने प्रासंगिक हों लेकिन पूरी दुनिया पर उन्हें शाश्वत सत्य के रूप में नहीं लागू किया सकता है। इसके बजाए अब दुनिया के विभिन्न देशों में विभिन्न कालखंडों में धर्म की स्थिति का पुनर्मूल्यांकन किया जाने लगा।

विचारकों ने कहना आरंभ किया कि धर्म को भले ही मानव जीवन का मूल न माना जाए लेकिन यह स्वीकार करना होगा कि उसका अपना एक महत्व है। यह ठीक नहीं होगा कि धर्म अफीम है, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिबिंब मात्र है।

मार्क्सवादी सोच में परिवर्तन

इन विचारों को बल मिलने लगा। कट्टर मार्क्सवादी जो भौतिकतावाद के समर्थक में ईश्वर को नकार चुके थे और जिन्होंने धर्म को अफीम कहकर उसकी कड़ी आलोचना की थी, उन्हें भी मार्क्स पर एक अधकचरे भौतिकतावादी होने का शक होने लगा। मार्क्स द्वारा प्रेस की स्वतंत्रता को लेकर 1842 में दी गई अवधारणा तथा 1844 में आर्थिक व सामाजिक विषयों पर उनके द्वारा प्रकाशित पांडुलिपियों को आधार बनाकर मार्क्सवादी यह घोषणाएं करने में जुट गए कि मार्क्स केवल भौतिकतावादी विचारक नहीं थे। उन्होंने ये विचार सामने रखा कि जिस प्रकार भौतिकतावादी वस्तुएं विचार को प्रभावित करती हैं, उसी प्रकार विचार का प्रभाव भी इन वस्तुओं पर होता है। इसी प्रकार एक ओर अगर सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियां धर्म, संस्कृति व नैतिकता के स्वरूप को प्रभावित करती हैं तो इन परिस्थितियों पर भी धर्म, संस्कृति व नैतिकता का प्रभाव पड़ता है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि ये दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

यूरोपीय विचार की चार शताब्दियां

यूरोप की चार शताब्दियों का इतिहास बताता है कि शुरूआती दौर में व्यक्ति प्राथमिक इकाई था। लेकिन, जब पर्दा उठता है तो स्वतंत्र व्यक्ति कहीं नजर नहीं आता है। वह केवल पोप या राजा के हाथ की कठपुतली था। उसकी अपनी कोई स्वतंत्र इच्छा नहीं थी। अगले चरण में, हम देखते हैं कि शोषण करने वालों के खिलाफ प्रतिक्रिया होती है। व्यक्तिवाद का उभार होता है। इससे पोप व राजशाही के खिलाफ खुला विद्रोह हुआ, जिससे राजशाही व पोप की सत्ता समाप्त हो गई। इसके बाद यह विचार और मजबूत हुआ कि स्वतंत्रता पर कोई अंकुश नहीं होना चाहिए। संसद जैसी संस्थाएं व अन्य लोकतांत्रिक व्यवस्थाएं अस्तित्व में आई, जिन्होंने व्यक्तिगत स्वतंत्रता को संरक्षण दिया। समय के साथ-साथ व्यक्तिगत स्वतंत्रता से आगे बढ़कर शोषण से मुक्ति की बात होने लगी। इस बीच लोकतांत्रिक संस्थाएं मजबूत द्वारा कमजोर के शोषण का माध्यम बन गईं। उनके माध्यम से अमीर-गरीब का तथा अधिक बुद्धिमान लोग कम बुद्धिमान लोगों का शोषण करने लगे। यूरोप में दो वर्गों का उदय हुआ। अल्पसंख्यक वर्ग उन लोगों का था, जो शोषण कर रहे थे और बहुसंख्यक वर्ग शोषितों का था, जो किसी भी प्रकार के शोषण के खिलाफ थे। वे शोषण की आजादी के खिलाफ थे। और जो शोषण की आजादी चाहते थे, वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता को समाप्त करने के पक्षधर थे। अन्य शब्दों में वैयक्तिकता को समाप्त करने की मांग उठ रही थी। इसके लिए एक तानाशाही व्यवस्था की आवश्यकता थी और वह क्या हो सकती थी?

वैयक्तिक स्वतंत्रता तथा शोषण से मुक्ति की आड़ में तानाशाही व्यवस्था को स्थापित करने की मंशा का भारी विरोध हुआ। इसके लिए एक खूनी क्रांति की आवश्यकता बताई गई, क्योंकि लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं को शोषण का अंत करने के लिए अक्षम घोषित कर दिया गया। इस प्रकार से एक खूनी क्रांति कर सर्वहारा की तानाशाही का विचार प्रचारित किया गया। इसी प्रकार की एक खूनी क्रांति रूस में हुई। लेकिन अनुभव से यही सामने आया कि उससे सर्वहारा की नहीं, बल्कि एक विशिष्ट समूह की तानाशाही स्थापित हो गई। लोगों ने इसे यह सोच कर बरदाश्त किया कि यह एक अस्थायी स्थिति है और जब स्थितियां बदल जाएंगी, तब वंचितों को सत्ता मिल जाएगी। लेकिन उनकी आशाएं झूठी साबित हुई। उन्हें यह अहसास होने लगा कि अब एक व्यक्ति या समूह की तानाशाही बनी रहेगी। इसीलिए हम इस व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह की स्थिति देखते हैं, क्योंकि उसके अंतर्गत लोग कराह रहे हैं।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए आग्रह

ऐसा लगता है कि कम्युनिस्ट राज्य के खिलाफ असंतोष बढ़ रहा है और व्यक्ति की स्वतंत्रता को पुनरू स्थापित करने के प्रयास आरंभ हो गए हैं। जिन देशों में कम्युनिस्टों का प्रत्यक्ष शासन नहीं है लेकिन कम्युनिस्ट पार्टियां सक्रिय हैं, वहां इन पार्टियों में इस बात को लेकर जोरदार बहस होती रही है कि लोकतांत्रिक संस्थाओं व एजेंसियों का उपयोग शोषण समाप्त करने के लिए क्यों नहीं किया जा सकता।

ऐसे नेताओं का एक प्रभावशाली वर्ग अब कहने लगा है कि हो सकता है कि खूनी क्रांति का विचार मार्क्स के समय में आवश्यक हो, लेकिन बदले हुए हालात में संसदीय संस्थाओं का भी सर्वहारा की तानाशाही स्थापित करने के लिए उपयोग किया जा सकता है। दूसरी ओर ऐसे देश भी हैं, जहां कम्युनिस्ट अपने पैर नहीं जमा पाए थे। यहां संसदीय लोकतंत्र तथा अन्य लोकतांत्रिक संस्थाओं का इस आधार पर स्वागत किया गया था कि वे राजशाही का बेहतर विकल्प हैं तथा लोगों को स्वतंत्रता का अधिकार दिलवाने के लिए उपयुक्त माध्यम भी। लेकिन इन देशों में लोग इन संस्थाओं पर विश्वास खो रहे हैं। ऐसे लोगों का एक वर्ग संपूर्ण स्वतंत्रता में भरोसा रखता है । वह किसी भी ऐसे संयमित बंधन को मानने को तैयार नहीं है, जो पश्चिमी लोकतंत्र व्यक्ति के लिए आवश्यक मानते हैं। इस वर्ग के लिए स्वतंत्रता व लाइसेंस में कोई अंतर नहीं है। पश्चिमी दुनिया के हिप्पी इसी वर्ग से जुड़े हैं। वे न केवल लोकतांत्रिक संस्थाओं के खिलाफ हैं बल्कि किसी भी प्रकार की व्यवस्था को नकारते हैं। कुल मिलाकर पिछली तीन-चार शताब्दियों में पश्चिम में यही हो रहा है, हर चीज की केंद्रीय धुरी व्यक्ति है।

अब व्यक्ति के बाद हम परिवार नामक संस्था और व्यवस्था की बात करेंगे जो सदियों से समाज का हिस्सा रहा है। हिंदू शास्त्रों, कन्फ्यूशियसवाद, इस्लाम व ईसाइयत सभी ने माना कि इसके बिना काम नहीं चल सकता है। लेकिन पश्चिम में इस पर भी दो कारणों से हमला हुआ। कम्युनिस्टों ने इसे कृत्रिम व्यवस्था बताया। उन्होंने कहा कि भला समाज व व्यक्ति के बीच परिवार को क्यों रहने दिया जाए? इसलिए परिवारों को तोड़ कर उनकी जगह कम्यून बसाओ। परिवार की खिलाफत करने वालों के पास दूसरा कारण परिवार में व्याप्त अनुशासन है। परिवार नामक संस्था से असहमत लोग इसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन मानते हैं। इसलिए, परिवार नामक व्यवस्था को नष्ट कर देना चाहिए, युवाओं को विवाह के बाद अपने माता-पिता को छोड़ देना चाहिए। जितना छोटा परिवार होगा, उतनी अधिक स्वतंत्रता मिलेगी। ये दोनों विचार जल्द ही खोखले साबित हुए। सोवियत रूस में कम्यून का प्रयोग असफल हुआ और इसकी प्रतिक्रिया के रूप में पारिवारिक जीवन में रहने की आकांक्षा प्रबल हुई। कम्युनिस्ट शासन के दौरान भी अभिभावकों और पितृत्व को कानूनी पहचान देने की मांग इतनी प्रबल थी कि शासन को इसे स्वीकार करना पड़ा। इसी प्रकार अमेरिका व अन्य पश्चिमी देशों में हिप्पी समूहों की सोच के खिलाफ जाने-माने विचारकों ने आवाज उठाई और कहा कि संयुक्त परिवार की संस्था को पुनरू स्थापित करना चाहिए। क्योंकि इसके बिना समाज में स्थायित्व नहीं आ पाएगा। अमेरिका में भी अब इन विचारों की व्यापक स्वीकार्यता है।

राष्ट्रवाद

परिवार के बाद अगली इकाई है राष्ट्र, समाज अथवा राष्ट्रीय समाज। ऐसा लगता है कि यूरोप में पोप के बहुत ज्यादा प्रभाव के कारण राष्ट्र अथवा राष्ट्रवाद को लेकर वैसी चेतना विकसित नहीं हो पाई।

लेकिन पोप के धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप तथा साम्राज्यवाद की आक्रामकता की प्रतिक्रिया में इसका ज्यादा विकास हुआ। इस संदर्भ में, देखा जाए तो यूरोप का राष्ट्रवाद प्रतिक्रियावादी था, जिसने इस मत को मजबूत किया कि अगर राष्ट्रवाद और पोप की सत्ता एक साथ नहीं चल सकते हैं तो राष्ट्रवाद तथा अंतर्राष्ट्रीयवाद भी एक दूसरे की विरोधी अवधारणा हैं। यूरोप के हर देश में एक प्रतिक्रियावादी तथा आक्रामक राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। इस अतिवादी विचार की प्रतिक्रिया के रूप में साम्यवादी विचारधारा का उदय हुआ। यह भी एक अतिवादी विचारधारा थी। साम्यवाद का मानना था कि धर्म, राष्ट्र व राष्ट्रवाद अप्रासंगिक हो चुके हैं और केवल अंतर्राष्ट्रीयवाद ही प्रासंगिक है। जब 1914 में प्रथम विश्वयुद्ध में कई देशों के कामगारों ने अपने देशों की सरकारों का समर्थन किया, तो लेनिन ने इसकी कड़ी आलोचना की। उसका सुझाव था कि जब कामगारों को अपने देश से धोखा कर अंतर्राष्ट्रीयतावाद का समर्थन करना चाहिए था।

कुछ समय में ही साम्यवादियों ने कई देशों में अपनी सरकार बना ली। लेकिन इस प्रक्रिया में अंतर्राष्ट्रीयवाद की चमक धूमिल पड़ने लगी। यहां तक कि मॉरिस हिंडोज ने अपनी पुस्तक "मदर रशिया" में राष्ट्रवाद के पक्ष में जोरदार पैरवी की। इस संदर्भ में, इस पुस्तक के दो अध्याय अत्यंत महत्वपूर्ण हैं "रिडिस्कवरी ऑफ दी पास्ट" तथा "रशिया फॉर रशियन्स"। इसके अलावा, इस समय दो बड़ी अंतर्राष्ट्रीय शक्तियां चीन व रूस किस प्रकार टकराव की मुद्रा में है, इसके बारे में ज्यादा कहने की भी जरूरत नहीं है।

प्रगति बाधित

राष्ट्रवाद व अंतर्राष्ट्रीयवाद में इस मौजूदा टकराव ने मानव समाज के बारे में पश्चिम को समग्र सोच विकसित नहीं करने दी। इसके पीछे कारण यह है कि पश्चिमी विचार मानता है कि इस सृष्टि की केंद्रीय धुरी मानव प्रजाति है और उसका सारा विचार इसी दिशा में है।

हम पश्चिम में चल रहे इस वैचारिक टकराव में किसी के पक्ष में सही या गलत का निर्णय न दें। लेकिन इतना तो तय है कि जब भी किसी देश में पश्चिम से कोई विचार आयात किया गया तो उसे प्रगतिशील बताया गया और बाकी सब विचारों को प्रतिक्रियावादी कहा गया। इसके बावजूद, इन तथाकथित प्रगतिशील विचारधाराओं में से किसी का भी अस्तित्व नहीं बचा। वे अतिवाद के पैमाने पर एक कोने से दूसरे कोने तक घड़ी के पेंडुलम की तरह झूलती रहीं। इससे साफ है कि पश्चिमी विचार में अभी परिपक्वता व स्थायित्व नहीं आया है।

प्रतिक्रिया का परिणाम

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि पश्चिमी विचार सकारात्मक न होकर प्रतिक्रिया के तौर पर उपजा। इसे इस तरह समझा जा सकता है :-मान लीजिए किसी देश में कोई विशिष्ट परिस्थिति है, जिससे

कोई विचार उपजना स्वाभाविक है। जब परिस्थिति बदलेगी तो उसमें बदलाव भी होगा। इसलिए पश्चिम की पूरी सोच प्रतिक्रिया पर आधारित है। हम देखते हैं कि दुनिया के इस हिस्से में विचारधाराओं का गंभीर टकराव है। हम इसे पश्चिम की दूसरी खासियत मान सकते हैं।

तीसरी खासियत यह है कि पश्चिम का कोई भी विचार शाश्वत नहीं है। पश्चिमी विचार समग्र न होकर खंडित है। चौथी खासियत है समय समय पर आए विभिन्न विचारों को संश्लेषित न कर पाना, जिसके कारण वे अलग-अलग तथा सामंजस्य विहीन हैं। फ्रेंच क्रांति इसका सटीक उदाहरण है।

जीवन मूल्य

समानता के लिए अधिकतम व न्यूनतम आय के बीच के अंतर को कम करने के प्रयासों पर जोर दिया जाता है (हम भी यह चाहते हैं)। इसके बाद यह तर्क दिया जा सकता है कि इस बीच अपना विकास करने की किसी की भी प्रेरणा क्षीण हो जाएगी। अगर जीवन मूल्य विशुद्ध रूप से आर्थिक आधार पर ही टिके हैं तो व्यक्ति यह भी सोच सकता है कि वह कड़ी मेहनत क्यों करे। अगर मेहनत कर कोई आइन्स्टाइन या राधाकृष्णन बनता है और समानता के सिद्धांत के कारण उसे 2000 रूपए से ज्यादा नहीं मिलेंगे, उसके उत्साह पर पानी फिर जाएगा।

दूसरी ओर अगर वह निठल्ला बैठा रहे और चपरासी बन जाए तो भी उसे 1000 रूपए से कम नहीं मिलेंगे। ऐसे में भला कोई क्यों कर आइन्स्टाइन या राधाकृष्णन बनना चाहेगा।

अगर प्रेरणा का स्त्रोत विशुद्ध रूप से भौतिक है, तो अपने को बेहतर बनाने या कोई नया काम करने इच्छाशक्ति समाप्त हो जाएगी, और अगर इसे भौतिक लाभ से ही प्रेरित करना है तो समानता के लक्ष्य को तिलांजलि देनी होगी। हमारे देश से जो प्रतिभा पलायन हो रहा है उसकी जड़ उन जीवन मूल्यों में है, जो विशुद्ध भौतिकतावादी हैं। इसका असर इस प्रकार से होता है कि अगर अपने देश में भौतिक प्रगति संभव नहीं है, तो इसकी तलाश में दूसरे देश जाया जाए।

इस बीमार और निराशावादी स्थिति को बदलने के लिए हमें कुछ अलग मूल्यों पर आधारित जीवन व्यवस्था चाहिए। इस व्यवस्था में वैश्विक प्रवृत्ति वाले भौतिक तथा गैर-भौतिक मूल्य होने चाहिए। मैं जानबूझ कर यहां "आध्यात्मिक" प्रवृत्ति का उल्लेख नहीं कर रहा हूं। किसी भी व्यक्ति को भौतिक लक्ष्यों के बराबर ही सामाजिक प्रतिष्ठा जैसे लक्ष्य भी प्रेरित करते हैं। प्राचीन भारत ने ऐसी ही व्यवस्था का सृजन किया था। इस व्यवस्था के अंतर्गत सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त तथा भौतिक लाभ प्राप्त करने के बीच विपरीत अनुपात था। अर्थात् अगर ज्यादा सामाजिक प्रतिष्ठा चाहिए तो कम से कम भौतिक लाभ लेना होगा। अगर आप समाज से अधिकतम लाभ उठाना चाहते हैं, तो उसी अनुपात में आपको सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी। इस प्रकार मानव को प्रेरित करने वाले इन दोनों कारकों के बीच एक संतुलन स्थापित किया गया था।

पश्चिम में संतुलन का अभाव

पश्चिम में सामाजिक प्रतिष्ठा और भौतिक लाभ के बीच संतुलन का अभाव है। साम्यवादी क्रांति के बाद शुरूआती दिनों में लोगों से जबरन काम करवाया जाता था। और आज वहां न्यूनतम व अधिकतम आय में 1 से 80 के अनुपात में अंतर है। इससे पता चलता है कि जिस समानता की वे कसमें खाते थे, वह आज कहीं नहीं है। यहां तक कि समाज में वर्गों के अस्तित्व को भी स्वीकार कर लिया गया है। युगोस्लाविया के पूर्व प्रधानमंत्री जिलास ने अपनी पुस्तक "द न्यू क्लास" में इस असमानता को स्वीकारा है। यही नहीं एक खास वर्ग को सारी सुविधाएं भी मुहैया करवाई जाती हैं। जब रूस से अंतरिक्ष में पहला स्पूतनिक छोड़ा था तो खुश्चेव ने दावा किया था कि यह साम्यवाद की जीत है। पश्चिम के विख्यात दर्शनशास्त्री बर्टेंड रसेल ने इस पर तुरंत प्रतिक्रिया देते हुए कहा था, "यह साम्यवाद की जीत नहीं हार थी, वैज्ञानिकों के एक खास वर्ग को सारी सुविधाएं दी गईं ताकि वे स्पूतनिक बना सकें।" मैं भी इसे साम्यवाद की हार ही मानता हूं क्योंकि वे जीवन के भौतिकतावादी रवैये का सामंजस्य समानता के साथ नहीं बैठा पाए। रूस, युगोस्लाविया आदि सहित सभी साम्यवादी देशों के लिए यह सच है।

मुद्दे की बात यह है कि जो कमियां लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में हैं, वही साम्यवादी देशों में भी हैं। अन्य शब्दों में पश्चिमी विचारधाराएं शाश्वत व अंतिम सत्य नहीं हैं। उनकी सोच विखंडित है इसलिए उनकी विचारधाराएं सकारात्मक नहीं प्रतिक्रियात्मक है। उनमें समाज व समय काल से जुड़े लक्ष्यों को समायोजित करने की क्षमता नहीं है।

अंधानुकरण नहीं

इस संदर्भ में, हमें सोचना होगा कि क्या हम पश्चिम का अंधानुकरण करने की स्थिति में हैं? स्वामी विवेकानंद से एक बार पश्चिमी विचारकों ने कहा था, "हम अध्यात्म के संबंध में आपके विचार मान लेंगे आप हमारी समाजवादी विचारधारा मान लो। आप अर्थशास्त्र के क्षेत्र में हमारी बात मान लें और हम अध्यात्म के क्षेत्र में आपकी बात मान लेंगे।" इस पर स्वामी जी ने उत्तर दिया, "बंधु आप ठीक हैं, लेकिन आपकी विचारधारा अभी प्रयोग के चरण में है और हमारा राष्ट्र बहुत पुराना है। हम कट्टरवादी नहीं हैं। लेकिन आपकी विचारधारा स्वीकार करने से पहले हमें देखना होगा कि इसमें कितना स्थायित्व है। हम वह प्रमाण देखना चाहेंगे जो यह सिद्ध कर सके कि इस विचारधारा ने किसी समाज को 500 वर्ष तक बनाए रखा है। हम ऐसी कोई विचारधारा स्वीकार नहीं कर सकते हैं जो अभी प्रयोगात्मक दौर में है।"

साम्यवाद-सकारात्मक व नकारात्मक पक्ष

पश्चिम में साम्यवाद को इन दिनों सबसे प्रगतिशील विचारधारा माना जाता है। स्वामीजी के कथन के संदर्भ में इसकी समीक्षा करते हैं। रूसी क्रांति के पचास साल पूरे होते-होते साम्यवाद में दरारें दिखने लगी थीं। विभिन्न खेमों में साम्यवाद की परिभाषा को लेकर ही विवाद छिड़ा हुआ है। रूस चीन को

पथभ्रष्ट बता रहा है और चीन रूस को। नम्बूदरिपाद की नजर में डांगे पथभ्रष्ट हैं और डांगे की नजर में नम्बूदरिपाद। दोनों इस बात लेकिन सहमत हैं कि चारू मजूमदार का विचारधारा से कोई लेना-देना नहीं। जबकि, मजूमदार मानते हैं कि ये दोनों अपने रास्ते से भटक गए मार्क्सवादी हैं। अगर, हम विभिन्न साम्यवादी खेमों द्वारा एक दूसरे लेकिन लगाए आरोपों को ही लें लें तो पूरा साम्यवाद पथभ्रष्ट नजर आएगा। साम्यवाद में ऐसी एक भी चीज नहीं है, जिसमें गलती न पाई गई हो। कोई तार्किक व्यक्ति इस स्थिति को स्वीकार नहीं कर सकता। अगर, 50 साल के कम समय के भीतर इतनी संभ्रम की स्थिति पैदा हो गई है तो स्वामीजी के शब्दों में, "क्या गारंटी है कि ये विचारधारा अगले 500 साल तक हमारे समाज को टिकाए रखेगी?"

जीवन जीने का भारतीय ढंग

अब हम पश्चिम के विचार की समीक्षा करने के लिए तैयार हैं। इसी तरह पश्चिम भी हमारे विचार की समीक्षा के लिए तैयार है। हमारे सामाजिक आर्थिक ढांचे के बारे में उनके विचार हमसे बिल्कुल विपरीत हैं। उन्हें हमारे यहां हर तरफ अराजकता दिखती है। एक-एक करके अलग-अलग क्षेत्रों की बात करते हैं। पश्चिम की नजर में हमारे यहां धर्म के क्षेत्र में पूरी तरह अराजकता है। उनकी नजर में भारत में कोई एक मत या सम्प्रदाय नहीं है। यहां आस्तिक भी हैं और नास्तिक भी, द्वैत को मानने वाले भी हैं और अद्वैत को मानने वाले अनुयायी भी हैं। कोई मूर्ति पूजन करता है, तो कोई निराकार की भक्ति करता है और केवल अपना ही रास्ता ठीक मानता है। आस्तिकों में भी कोई एक भगवान नहीं है। यहां भगवानों की कमी नहीं, जितने भक्त उतने ही भगवान भी हैं। कहा जाता है कि अपने यहां 33 करोड़ देवी-देवता हैं। हर व्यक्ति अपने मानस, शरीर व आत्मा की आवश्यकता के अनुरूप अपने लिए इष्ट देवता चुन सकता है। इस प्रकार रास्तों का अलग-अलग होना स्वाभाविक है। इस प्रकार की स्थिति पश्चिम में अकल्पनीय है। इसके दो कारण हैं–एक, पश्चिम की सोच खांचों में बंटी है। दूसरा, पश्चिम का विचार सबको साथ लेकर नहीं चलता है, उसकी सोच है "मैं और केवल मेरा रास्ता ही ठीक है"। उन्हें भारत विविधताओं व विराधाभासों का देश लगता है और यह उनकी समझ से बाहर है। इसी प्रकार उनकी नजर में परिवार, राष्ट्र, समाज, अंतर राष्ट्रवाद के संदर्भ में व्यक्ति की भूमिका को लेकर काफी आंतरिक विरोधाभास हैं।

दरअसल, व्यक्ति को विकास का पूरा अवसर मिलना चाहिए और उसे अधिकतम प्रसन्नता प्राप्त करने का अधिकार है। इसी के अनुकूल सामाजिक व आर्थिक ढांचे की रचना करनी चाहिए। व्यक्ति के साथ हमने परिवार को भी महत्व दिया है। हमारे यहां माता-पिता को भगवान माना गया है (मातृ देवो भव, पितृ देवो भव)। हमारे यहां कभी नहीं कहा गया कि अपनी वैयक्तिकता के लिए विवाह के बाद माता-पिता को छोड़ दो। यही नहीं व्यक्ति व परिवार दोनों की भूमिका अपने यहां तय की गई है। एक

ओर परिवार के लिए किसी भी व्यक्ति का बलिदान दिया जा सकता है दूसरी ओर यह कहा गया है कि अपने लिए पूरे संसार को त्याग दो (आत्मर्थे पृथ्वी त्यजैत)। पश्चिम की विचारधारा से प्रभावित लोगों को ये विरोधाभासी विचार लग सकते हैं। लेकिन हमें पता है कि ऐसा नहीं है।

व्यक्ति और समाज

व्यक्ति और राष्ट्र-समाज के बीच संबंधों को भी इसी तरह परिभाषित किया गया है। पश्चिम में इस बात को लेकर बड़ा विवाद है कि व्यक्ति की सीमा कहां समाप्त होती है और समाज की सीमा कहां आरंभ होती है। अगर व्यक्ति का अधिकार क्षेत्र बढ़ता है तो समाज का अधिकार क्षेत्र कम होता है और अगर समाज का अधिकर क्षेत्र बढ़ता है तो व्यक्ति के अधिकारों में कमी आती है। इसलिए पश्चिम में व्यक्ति और समाज के बीच खींचतान है। लेकिन भारत में दोनों का अपना-अपना स्थान है। अगर व्यक्ति के संतोष के लिए उसे पूरे अधिकार हैं तो साथ ही उससे सामाजिक अनुशासन में भी रहने की अपेक्षा की जाती है। व्यक्ति से यह अपेक्षा है कि अपनी प्रसन्नता का ध्यान रखते हुए समाज के हित के लिए भी समर्पण करे। अंततः सबसे महत्वपूर्ण है उसका स्वयं को स्वतःस्फूर्त ही समाज के चरणों में अर्पित करना। इसलिए हम मान सकते हैं कि पश्चिम को अचंभा होगा कि अपने यहां किस प्रकार व्यक्तिगत स्वतंत्रता व सामाजिक अनुशासन का संतुलन बना रहता है।

राष्ट्रवाद व अंतर्राष्ट्रीयवाद

व्यक्ति व समाज के बारे में जो कहा गया है वही राष्ट्रवाद व अंतर्राष्ट्रीयवाद के बारे में भी सत्य है। पश्चिम में राष्ट्रवाद प्रतिक्रिया में उपजा है इसलिए दो देशों के राष्ट्रवाद व अंतर्राष्ट्रीयवाद में विरोधाभास दिखेगा। हमारे यहां एक राष्ट्रीय प्रार्थना है, "मैं एक अच्छे राष्ट्र में पैदा हुआ हूं, मुझे आनंद और वैभव दो(प्रदुर भुवन सुराष्ट्रे अस्मिन कृतिम रिद्धिम ददातु मे)।" विश्वकल्याण के लिए अपने यहां और कई ऐसी प्रार्थनाएं हैं।

मुझे याद आता है कि विश्व हिंदू परिषद के एक कार्यक्रम (विश्व हिंदू सम्मेलन) में यह प्रश्न आया था कि हिंदू को कैसे परिभाषित किया जाए? वास्तव में, हिंदू का मतलब राष्ट्रवाद, अंतर्राष्ट्रीयवाद या इससे भी आगे जा कर हो सकता है। जब विश्व असभ्य था उस समय विश्व सभ्यता की पहचान हिंदू राष्ट्रवाद के साथ होती थी। लेकिन उस स्थिति में भी भारत ने किसी राष्ट्र का शोषण करने की सोच नहीं रखी। हमारा लक्ष्य था "कृण्वंतों विश्वमार्यम"। अर्थात् हम आर्य हैं और हम पूरे विश्व को आर्य बनाएंगे यानी कि हम सुसंस्कृत है और हम अपनी संस्कृति और मूल्य सबके साथ साझा करेंगे। यह विचार हमारे सकारात्मक राष्ट्रवाद का आधार है। जो टकराव के बजाए अंतर्राष्ट्रीयवाद की ओर हमें बढ़ाता है। हम इस विचार को स्वीकार नहीं करते हैं कि राष्ट्रवादी व्यक्ति अंतर्राष्ट्रीयवादी नहीं हो सकता और

अंतर्राष्ट्रीयवादी, राष्ट्रवादी नहीं हो सकता है। पश्चिम को अचंभा होता है कि भला एक ही समय में हम अंतर्राष्ट्रीयवादी व राष्ट्रवादी दोनों कैसे हो सकते हैं। लेकिन हमें इसमें कोई विरोधाभास नहीं लगता है।

मानवता से आगे

इसके बाद जो है वह पश्चिम की परिकल्पना से भी परे है। वे ज्यादा से ज्यादा मानवता या अंतर्राष्ट्रीयवाद के बारे में सोच सकते हैं, इससे आगे नहीं। लेकिन हमारा विचार इससे कहीं आगे बढ़ चुका है और समग्र जीवन के बारे में सोचता है। केवल भारत ने मानवीय जीवन के अतिरिक्त भी जीवन को स्वीकारा है। हिंदुओं में कुछ लोग मछलियों, चींटियों व गायों को आटा तथा चीनी खिलाते हैं। क्यों? क्योंकि उनका मानना है कि सभी जीवों का जीवन अपने जीवन जैसा है। यही नहीं हम जड़ वस्तुओं को भी सर्वशक्तिमान की कृति का अंग मानते हैं और पत्थरों तक की पूजा करते हैं, क्योंकि इसमें उन्हें सृष्टि के सर्जक की छवि दिखती है। हमारे यहां लोगों ने अपने से सवाल पूछे "मानव क्या है?" दूसरा "जीवन क्या है?" "यह जड़, चेतन, संवेदनशील, संवेदनहीन के समागम से बनी सृष्टि क्या है?" उन्हें अहसास हुआ कि यह सभी सर्जना एक है। लेकिन उन्होंने यह ज्ञान भी प्राप्त किया कि एकात्मता व एकरूपता में अंतर है। हमने कभी सभी को एकरूप होने के लिए नहीं कहा, हमने हमेशा एकात्मता पर अधिक बल दिया, जिसका आभास हमें इस वाक्य से होता है-"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अर्थात सारा विश्व एक है। हमारे धर्म तथा राष्ट्र में पूरी सृष्टि को बनाए रखने की क्षमता है। कई सिद्धांत शाश्वत होते हैं। इन्हीं शाश्वत सिद्धांतों के बल पर हमारे धर्म ने सर्वश्रेष्ठ विचार उत्पन्न किए हैं, जो किसी भी परिस्थिति में उपयोगी व प्रासंगिक हैं।

कई बार हम "कर्म" की बात करते हैं और कई बार "संन्यास" की। एक तरफ हम "मोक्ष" प्राप्त करने की बात करते हैं तथा दूसरी ओर कहते हैं "सब व्यर्थ है"। कई बार हम कहते हैं "धर्मस्यमूलम अर्थम्" (धर्म के मूल में धन है)। लेकिन ये सारी बातें एक ही व्यवस्था का अंग हैं। सामान्य तौर पर लेकिन देखने वालों को यह अस्पष्ट स्थिति लग सकती है। स्वामी विवेकानंद के शब्दों पर भरोसा करते हुए कहा जा सकता है कि हमारे धर्म में समाज को बनाए रखने की क्षमता है, और वह सैंकड़ों सालों से यह कर रहा है। यह ठीक है कि पिछले 1200-1300 सालों में हमने अपेक्षित सामाजिक परिवर्तनों की ओर ध्यान नहीं दिया। यहां मैं सावधान कर देना चाहता हूं कि "परिवर्तन" से डरने की आवश्यकता नहीं है। धर्म व दर्शन की अनुमति से परिवर्तन तो हमेशा से होते रहे हैं।

हमारे यहां कहा गया है-तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः नैको मुनि र्यस्य वचः प्रमाणम्। जीवन जीने के वास्तविक मार्ग के निर्धारण के लिए कोई सुस्थापित तर्क नहीं है, श्रुतियां (शास्त्र एवं अन्य स्रोत) भी भिन्न-भिन्न बातें करती हैं। ऐसा कोई ऋषि (चिंतक/विचारक) नहीं है, जिसके वचन प्रमाण कहे जा सकें। महाभारत धर्म-युधिष्ठिर सवार। वेदों, स्मृतियों आदि सभी में अंतर हैं, किसी भी मुनि की कही बात

को अंतिम शब्द नहीं मान लेना चाहिए। दुर्भाग्यवश, इन परिवर्तनों को करने के लिए जैसी शांतिपूर्ण स्थितियां चाहिए थीं, वे हमें पिछले 1200 से 1300 वर्षों में नहीं मिलीं। जिससे व्यवस्था में कुछ विसंगतियां आ गईं। इसलिए कुछ शल्य क्रिया तो चाहिए। लेकिन, गांधी जी के शब्दों को याद रखें, "बीमार अंग पर शल्य क्रिया करें, लेकिन मरीज की जान न जाए, यह भी ध्यान रखें।" कमी को दूर करें लेकिन इस व्यवस्था को बनाए रखें। हमारा समाज पिछली कई शताब्दियों से अपने को बनाए रखने में सफल रहा है। हमारे यहां हमेशा शाश्वत सिद्धांत तथा विचार व परिवर्तन साथ-साथ चले हैं।

अब सवाल उठता है कि क्या हम पश्चिम की विचारधाराओं को केवल इसलिए प्रगतिशील, आधुनिक और बेहतर मान लें क्योंकि वे नई हैं। उचित यह होगा कि दोनों में तुलनात्मक अध्ययन हो तथा जो बेहतर हो हम उसे अपना लें। तुलना से पता चलता है कि हमारा सनातन धर्म पश्चिमी विचार से श्रेष्ठ है। इसके कई आयाम हैं लेकिन आज के संदर्भ में पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने इसे "एकात्म मानवदर्शन" का नाम दिया है।

आधुनिक धर्म

दोनों तस्वीरों के बीच का अंतर अब और ज्यादा स्पष्ट हो गया होगा। हमारे धर्म के मुख्य सिद्धांतों को आज के संदर्भ में स्वर्गीय पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने "एकात्म मानवदर्शन " का नाम दिया है। इसमें और सनातन धर्म के स्वरूप में कोई विशेष अंतर नहीं। यही वह स्वरूप है जो चिरकाल से मानव मात्र के लिए आनंद और संपन्नता सुनिश्चित करता है।

स्पष्ट दिशा

अब हमें यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि इस देश में सोचने का हमारा ढंग अतुलनीय है। कारण यह है कि भारतीय दर्शन की अवधरणाओं तथा गैर भारतीय दर्शन के विचारकों में आमूल-चूल अंतर है। पंडितजी ने स्पष्ट किया था कि पश्चिम ने विभिन्न बिंदुओं, संस्थाओं व अवधारणाओं के बारे में खंडित तरीके से सोचा है। उन्होंने व्यक्ति, परिवार, समाज व मानवता को दूसरे से स्वतंत्र इकाई माना है। व्यक्ति की बात करते हुए वे समाज के बाकी अंगों को भूल गए। परिवार, समाज और मानवता पर भी इसी ढंग से पश्चिम ने विचार किया। उनकी सोच का यही तरीका है, वे एक बारे में एक तत्व पर ही ध्यान केंद्रित करते हैं। उनके यहां कई पंथ व संप्रदाय हैं। सबमें एक बात समान है, हर एक का मानना है कि वे ठीक हैं और बाकी सब गलत हैं। हम अपने यहां देखें तो यहां भी कई पंथ हैं। सबका मानना है, "मेरा रास्ता ठीक है लेकिन तुम्हारा रास्ता भी ठीक है"। पश्चिम का तत्वज्ञान कहता है, "केवल मेरे धर्म से ईश्वर तक पहुंचोगे", भारतीय दर्शन कहता है, "तुम्हारे धर्म के माध्यम से भी ईश्वर तक पहुंचा जा सकता है।" सामाजिक-आर्थिक विषयों पर भी उनकी यही सोच है। वे एक इकाई पर ध्यान केंद्रित करते हैं, उनका मानना है कि इस इकाई का दूसरी किसी इकाई से कोई संबंध नहीं है। और अधिक स्पष्ट कि उनकी

व्यवस्था के केंद्र में व्यक्ति है। इसके आस पास वृत्त हैं जो परिवार, समाज, मानवता के प्रतीक हैं। यह वृत्ताकार व्यवस्था है जिसके केंद्र में व्यक्ति है। बाकी के वृत्त केंद्र को चारों ओर से घेरे हुए हैं पर उनका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

इसके विपरीत हमारी प्राचीन व्यवस्था कुंडली के आकार की है और इसका लगातार विस्तार हो रहा है। इसकी शुरूआत होती है व्यक्ति से, लेकिन अपने विस्तार में यह व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र, राष्ट्र से मानवता तथा अंततः मानवता से सृष्टि तक पहुंचती है। ऐसा करते हुए इसका संबंध केंद्रीय धुरी अर्थात् "व्यक्ति" से बना रहता है।

अंतर

दोनों व्यवस्थाओं में अंतर ध्यान देने लायक है। हमने व्यक्ति, परिवार, समुदाय, समाज, राष्ट्र और मानवता पर ध्यान दिया, उन्होंने भी इसी पर ध्यान दिया। लेकिन जैसा दोनों में व्यापक अंतर है। इसका कारण यह है कि पश्चिम ने इन सभी को स्वतंत्र इकाई माना, जिनका आपस में कोई संबंध नहीं है लेकिन हमने ऐसा नहीं माना। इसलिए उनका विचार अनन्य रहा।

हमारी व्यवस्था में एक इकाई दूसरे से उत्पन्न होकर विस्तार लेते हुए अगली इकाई तक पहुंचती है। इससे एक ऐसी कुंडलिनी का स्वरूप उभरता है, जिसका विस्तार असीमित है और जिसमें कोई आंतरिक विरोध नहीं है। व्यक्ति का परिवार से टकराव नहीं है और परिवार का समाज से विरोधाभास नहीं है।

टकराव की बात तो छोड़िए, हमने तो एक कदम आगे जाकर इन इकाईयों को एक दूसरे का पूरक माना है। एक बच्चा अपने अलावा कुछ ज्यादा नहीं जानता है। उसकी दुनिया खुद तक सीमित होती है। जब वह बड़ा होता है तो अपने भाई, बहनों, तथा आस-पास के सदस्यों के प्रति उसकी जागरूकता बढ़ती है। लेकिन परिवार के प्रति सजगता बढ़ने से उसके "मैं" का अस्तित्व समाप्त नहीं होता है। उसके लिए "मैं" व "परिवार" दोनों ही वास्तविकता हैं। वह अपनी बुद्धि को विकसित करता है और कुछ करने की क्षमता पैदा करता है। फिर अपनी सोच व स्वभाव वाले लोगों के समुदाय में शामिल होकर उसका अविभाज्य अंग बन जाता है। शनैः-शनैः वह अपनी पहचान और विकसित करता है और राष्ट्र के साथ भी इसी प्रकार एकात्म हो जाता है। और अंततः संन्यास की स्थिति आती है, जहां उसे अनुभव होता है कि सारी सृष्टि एक है और वह उसी सृष्टि का एक सदस्य है। हमारे विचार में यह उच्चतम उपलब्धि है।

इसलिए एक शिशु की "मैं" से संन्यास तक चेतना जगत में यह लंबी यात्रा है। हम देखते हैं कि जैसे जैसे उसकी चेतना विकसित होती है, उसका जुड़ाव पुरानी पहचान, भले ही वह वास्तविकता हो, से कमजोर होने लगता है। एक बड़ी पहचान से उसका जुड़ाव ज्यादा मजबूती से होने लगता है। अंतिम सोपान तक अर्थात "पूरा विश्व ब्रह्म है" पर तब पहुंचते हैं, जब पूरे भौतिक विश्व का त्याग कर देते हैं।

कोई अराजकता नहीं

अन्य शब्दों में सारी इकाईयां अथवा संस्थाएं जीवन की वास्तविकता हैं। जैसे जैसे हमारी चेतना का विकास होता है, हमारी दृष्टि भी व्यापक होती है। चूंकि, सभी वास्तविक हैं, इसलिए किसी का किसी से कोई विरोधाभास नहीं है। किसी को छोड़ने या हटाने की आवश्यकता नहीं है। यह बीज की तरह है, बीज से पौधा निकलता है, पौधा वृक्ष बनता है और फिर वृक्ष पर फल-फूल लगते हैं। बीज, पौधा, फूल, फल सब अलग-अलग दिखते हैं । किसी का सतही तौर पर किसी से संबंध नहीं दिखता, देखने वाले को लग सकता है कि प्रकृति में अराजकता है। लेकिन क्या वाकई ऐसा है? वास्तविकता यह है कि ये सब क्रमिक विकास की प्रक्रिया का हिस्सा है। बीज और वृक्ष में कोई विरोधाभास नहीं है। सबसे छोटी व सबसे बड़ी इकाई का अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी है। लेकिन, वे एक वृहद समग्र का अविभाज्य अंग भी हैं। भारतीय विचार का संदर्भ यही है।

एकात्म जीवन क्यों?

हमने सबसे छोटी इकाई "व्यक्ति" पर बल दिया है। हमने एक ऐसे व्यक्ति की परिकल्पना की है जो इतना संगठित व एकात्म है, जिसकी कल्पना भी पश्चिम नहीं कर सकता है। पश्चिम में भौतिक प्रगति पर बल दिया जाता है। जैसा कि हम जानते हैं, अमेरिका को सबसे संपन्न देश माना जाता है। लेकिन वहां लोग खुश क्यों नहीं हैं? उनका जीवन टकराव, तनाव, अपराध की उच्च दर, आत्महत्याओं आदि के बोझ तले दबा हुआ है। वहां रक्तचाप, हृदय रोग तथा आपराधिक प्रवृत्तियों में तेजी से वृद्धि हो रही है। पूरी दुनिया को खरीदने की ताकत रखने वाला देश मानसिक शांति नहीं खरीद पाया। इसलिए, हमें रूककर सोचना पड़ता है, "आखिर हमारा ध्येय क्या है?" वास्तविक व स्थायी आनंद। यूरोप ने अंधाधुंध चीजें हासिल कीं, लेकिन वह भी सुख की तलाश में भटक रहा है।

यीशु ने ठीक ही कहा था कि भले ही किसी को पूरी दुनिया हासिल हो जाए, लेकिन अगर उसने अपनी आत्मा खो दी तो उससे बड़ा पराजित कोई नहीं है। पश्चिम चांद पर तो पहुंच गया लेकिन अपनी खुशी खो बैठा। दूसरी ओर हमारी सबसे छोटी इकाई-व्यक्ति-अधिक संगठित व एकात्म है। वह दो पाटों के बीच फंसा हुआ नहीं है। एक अमेरिकी मनोवैज्ञानिक ने कहा है, "हमारी सड़कों पर उन लोगों की भीड़ है जो अकेले हैं।" जब वो इतने अकेले होंगे तो समाज के किस काम के रहेंगे। ऐसे व्यक्ति व समाज में कोई सामंजस्य नहीं होता। इस समस्या के मूल में पश्चिम की वह अवधारणा है, जिसके अनुसार व्यक्ति केवल भौतिक व आर्थिक इकाई है। उनका मानना है कि व्यक्ति को धन व भौतिक सुख दे दो तो उसे आनंद व संतोष मिल जाएगा। लेकिन ये अपेक्षा पूरी नहीं हो पाती है। यही कारण है कि उच्चतम जीवन स्तर प्राप्त करने के बाद भी लोग सुखी नहीं होते। इसका कारण यह है कि वे जीवन के विभिन्न आयामों को समग्रता से न सोच कर, मानव को केवल एक आर्थिक जीव भर मान लेते हैं।

सीमित

हम मानते हैं कि मानव एक आर्थिक इकाई भी है। उसकी भोजन, निद्रा (आहार, निद्रा, भय, मैथुनम् च),भय व यौन संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति होना आवश्यक है। लेकिन इतना काफी नहीं है और हम इस पर ही नहीं रूके। हमने इससे आगे जाकर माना कि व्यक्ति आर्थिक इकाई होने के साथ भौतिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक इकाई भी है। जैसा कि वैयक्तिकता के कई आयाम होते हैं। इसलिए अगर मानव की प्रकृति के सभी आयामों की ओर ध्यान नहीं दिया जाएगा तो उसे कभी स्थायी आनंद नहीं मिलेगा। अपनी समग्र सोच में हमने मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति पर भी बल दिया। इस पर उचित अंकुश रखने की बात भी कही। यह कहना ठीक नहीं है कि केवल फ्रायड ने सेक्स की ओर सबसे पहले गंभीरता से ध्यान दिया। इस देश में इस विषय की ओर पूरी गंभीरता से ध्यान दिया गया था। गीता के तीसरे अध्याय में 42वें श्लोक में कहा गया है-

इंद्रियाणि पराण्याहुः इंद्रियेभ्यः परं मनः द्य मनसस्तु परा बुद्धिः यो बुद्धेः परतस्तु सः।।

इसका अर्थ है इंद्रियों के परे मन है, मन के परे बुद्धि है और बुद्धि के भी परे आत्मा है। कुछ विद्वानों ने इस श्लोक में "सः" को काम अर्थात यौन इच्छा से जोड़ा है। अगर इसे भी मान लिया जाए तो भी यहां यौन संबंधों को असंयमित होने की अनुमति नहीं दी गई है। भगवान श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं, "मैं "काम" हूं।" लेकिन साथ ही वे यह भी कहते हैं कि "मैं काम हूं, पर इसकी इच्छाओं की पूर्ति के लिए धर्म का उल्लंघन नहीं होना चाहिए।"

धर्म आधारित जीवन

सेक्स की तरह ही धन का भी जीवन में अपना एक स्थान है। सभी के लिए भौतिक आवश्यकताओं की आपूर्ति सुनिश्चित होनी चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि व्यक्ति दिन-रात पेट भरने की चिंता में ही लगा रहे। उसके पास इतना समय होना चाहिए कि वह अपनी साहित्यिक, कलात्मक व सांस्कृतिक अभिरूचियों को पूरा कर सके और अगर वह चाहे तो ईश्वर की साधना भी कर सके। इसलिए धन व सेक्स की चिंता करते हुए भी यह सजगता रखने की बात भी कही गई है कि एक सीमा के बाद उसकी इच्छा में मानव लिप्त न हो, अन्यथा व्यक्ति व समाज दोनों का पतन तय है। प्राचीन काल से ही हमारे ऋषि पतन के संभावित कारणों को लेकर सजग थे।

उन्होंने एक ऐसे दर्शन को स्थापित किया, जिसमें कुछ शाश्वत नियम थे और कुछ सार्वभौमिक नियम। उन्होंने इन नियमों को "धर्म" में समाहित किया जिससे व्यक्ति का अधिकतम विकास हो सके और समाज का पराभव भी न हो। उन्होंने धन व सेक्स को भी धर्म व मोक्ष के बीच रखकर संतुलन स्थापित किया। इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष का एक चतुष्कोणीय दर्शन उभरा। इस व्यवस्था में व्यक्ति को अपने जीवन के लक्ष्यों को प्राप्त की अधिकतम स्वतंत्रता मिली। साथ ही वैयक्तिकता बरकरार

रखते हुए उसे भौतिक, मानसिक, बौद्धिक व आध्यात्मिक क्षमताओं को विकसित करने के लिए आदर्श भी मिले।

क्या है एकात्म मानवदर्शन

जब तक व्यक्ति और वैयक्तिकता के विभिन्न तत्वों को संगठित नहीं किया जाएगा, तब तक संगठित समाज का लक्ष्य दूर की कौड़ी ही रहेगा। वास्तव में, यह संगठित स्थिति हमारा आरंभिक बिंदु है जहां से हम व्यक्ति, परिवार, राष्ट्र, मानवता, संपूर्ण सृष्टि जड़ व चेतन की ओर बढ़ेंगे। और यही एकात्म मानवदर्शन है। न केवल यह विभिन्न इकाईयों के बीच के विरोधाभासों को समाप्त कर देता है, बल्कि यह भी स्थापित करता है कि एक का उद्भव दूसरे से है। विकास की इस प्रक्रिया में छोटी इकाई स्वायत्त होते हुए भी अंततः बड़ी इकाई का ही हिस्सा बन जाती है। जहां तक मानव समाज का प्रश्न है, तो उसके लिए क्रम इस प्रकार हो सकता है व्यक्ति से परिवार, परिवार से राष्ट्र व राष्ट्र राज्य और राष्ट्र से विश्व। विचार के क्षेत्र में इस प्रक्रिया के लिए उच्चतम गंतव्य अद्वैत का होगा।

एकात्म मानवदर्शन का लक्ष्य

एकात्म मानवदर्शन जिस प्रकार से राज्य व सरकार को परिभाषित करता है, वह साम्यवादी परिकल्पनाओं से बिल्कुल अलग है। उनकी दुनिया एक केंद्र पर आधारित है। वह एक सूत्रीय है। जबकि, हमारी दुनिया बहुकेंद्रित व बहुसूत्रीय है। उनके यहां कड़ाई से एकरूपता का पालन करवाया जाएगा। हमारे यहां ऐसी कोई एकरूपता नहीं दिखेगी। प्रत्येक राष्ट्र को अपनी संभावनाओं के अनुसार विकसित करने की स्वतंत्रता होगी। जिस प्रकार एक व्यक्ति अपनी मर्जी से समाज का हिस्सा बनता है, ठीक उसी तरह सभी देश स्वतःस्फूर्त ही स्वयं को एक वैश्विक सरकार का हिस्सा मानेंगे। हम मानव समाज के साथ एकात्म होंगे और प्रगति के जो भी फल होंगे वे पूरी मानवीयता के चरणों में समर्पित होंगे। इस प्रकार से सभी राष्ट्र संप्रभु रहते हुए भी सहयोग की भावना से एक दूसरे के सथ गुंथे रहेंगे। साथ रहने की इस प्रतिबद्धता का उद्‌गम वैश्विकता की भावना से होगा।

पंडित दीनदयाल जी की परिकल्पना पर आधारित विश्व सरकार का यही स्वरूप होगा और विचार के क्षेत्र में इसका स्वाभाविक विकास अद्वैत के रूप में सामने आएगा। अगर हम उनके आदर्शों व सिद्धांतों पर बने रहेंगे, तो हम उस संभ्रम की स्थिति को दूर कर स्पष्टता दे पाएंगे जिससे वर्तमान पीढ़ी जूझ रही है।

❖❖❖

दीनदयाल उपाध्याय सनातन धर्म विद्यालय, कानपुर में 22 दिसंबर, 1972 को श्री गुरुजी के संबोधन पर आधारित

सामाजिक पुनर्रचना और प्रकृति की प्रतिष्ठा

– नानाजी देशमुख

सर्वशक्तिमान् भगवान ने ब्रह्माण्ड का निर्माण किया है। उसमें अनेक ग्रह तथा असंख्य तत्व विद्यमान हैं। अपनी पृथ्वी, जिस पर हम लोग अनन्त काल से रह रहे हैं, उन्हीं में से एक है। विश्व में स्थित सभी तत्व गतिशील हैं, फिर भी वे एक-दूसरे से टकराते नहीं। कारण, प्रकृति की रचना परस्पर पूरकता के आधार पर हुई है। सृष्टि में जन्म पाने वाले मानवेतर प्राणियों में नवरचना करने की शक्ति नहीं है। वे स्वभावतः प्रकृति द्वारा निर्धारित जीवनक्रम से नियन्त्रित हैं। किन्तु मानव प्राणी अपवाद है। वह विशेष बुद्धि प्राप्त प्राणी है। अपनी बुद्धिजन्य कल्पनाशक्ति तथा कर्म शक्ति के सहारे वह अपनी सुख-सुविधाओं के लिए स्वेच्छा से नवरचना करने की क्षमता रखता है।

वासना-प्रधानता के दुष्परिणाम

मानव प्राणी की वासनाएं अन्य प्राणियों के समान सीमित नहीं हैं। वे असीमित हैं। परिणामतः अपनी

वासनाओं की तृप्ति के लिए वह ईश्वर प्रदत्त बुद्धि एवं अपनी कार्यकुशलता के द्वारा प्रकृति का दुरूपयोग कर नैसर्गिक संतुलन बिगाड़ सकता है। परस्पर पूरकता की प्राकृतिक संरचना में बाधा उपस्थित कर सकता है। अन्य प्राणियों एवं जीव-जन्तुओं के अस्तित्व के लिए संकट का कारण बन सकता है। अन्ततोगत्वा स्वयं के भी विनाश की स्थिति पैदा कर सकता है। आधुनिक वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति इसी दिशा में गतिशील है। ब्राजील के रियो डी जिनेरियो नामक खूबसूरत शहर में हुआ अंतरराष्ट्रीय पृथ्वी सम्मेलन इसी दिशा के दुष्परिणामों से मुक्ति पाने की चाह से आयोजित किया गया था।

हिन्दू मनीषियों ने हजारों साल पूर्व उपर्युक्त सम्भावनाओं की कल्पना की थी। उसी कल्पना में से हिन्दू जीवन-दर्शन प्रस्फुटित हुआ था। परस्पर पूरकता के प्रकृति प्रदत्त सिद्धान्त के सुदृढ़ आधार पर उन्होंने मानव जीवन रचना (समाज रचना) खड़ी की थी। काल की कसौटी पर वह जीवन रचना सनातन अर्थात् शाश्वत सिद्ध हो रही है।

उपभोगवृति की व्यापकता तथा विषमता का दानव

उपभोग के लिए शोषण की प्रवृति प्राकृतिक संसाधनों तक ही सीमित नहीं रही। समर्थ लोग बहुसंख्य मानवों का निःसंकोच शोषण करने लगे। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की जंगली जीवन-प्रणाली प्रगति की परिचायक बनी। दूसरों के शोषण पर अपने सुखोपभोग का आनन्द लेने वाले व्यक्तियों, परिवारों एवं देशों को उन्नत मानने की अमानवीय कुप्रथा प्रतिष्ठा पाने लगी। परिणामतः महत्वकांक्षाओं की देवता बनी-कांचन, कांता तथा सत्ता की त्रिमूर्ति। निरन्तर बढ़ रही विषमता की विश्वव्यापी विभीषिका इसी भोगप्रवण जीवन रचना का दुष्परिणाम है। अतः बहुसंख्यक अभावग्रस्त मानवों के अन्तःकरणों में विद्रोह की अग्नि धधक रही है। संसार-भर में पनप रहा दुर्दम्य आतंकवाद, हिंसाचार एवं बलात्कार विषमतापूर्ण सभ्यता का दुष्परिणाम है। विषमतापूर्ण अमानवीय जीवन रचना के चलते किसी का भी शासन, किसी भी देश में शान्ति एवं व्यवस्था बनाए रखने में असमर्थ हो रहा है और होता रहेगा।

यह संसारव्यापी दुर्दशा हिन्दू जीवन-दर्शन के लिए चुनौती है। इस चुनौती को स्वीकार करना भारत की हर संतान का आद्य कर्तव्य है। इस प्रलयंकारी संकट का निवारण करना केवल भारत के लिए ही संभव है। कारण 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का उद्घोष मानव मात्र के हित के लिए अपने ही देश की देन है।

हिन्दू जीवन-दर्शन ने ही 'वसुधैव कुटुम्बकम' की भावना को मानव जीवन का लक्ष्य बनाया था। तदनुसार ही सामाजिक जीवन रचना खड़ी की थी। मानव की अंतर्निहित संवेदनशीलता इस रचना की आधारशिला थी। मानव अन्य प्राणियों जैसा यथास्थितिवादी नहीं है। विकासशीलता उसकी विशेषता एवं निरन्तर प्रगति उसका स्वभाव है। वासना एवं संवेदना-ये दोनों उसकी जन्मजात प्रवृतियां हैं। वासना उसे शारीरिक सुखोपभोग तक सीमित रहने के लिए प्रवृत करती है। इसी प्रवृति के प्रभाव में आने वाला व्यक्ति स्वकेन्द्रित अर्थात् व्यक्तिनिष्ठ बनता है। किन्तु संवेदना का प्रभाव पूर्णतः भिन्न होता है। संवेदना व्यक्ति

में अन्यों के प्रति सहानुभूति जगाती है। दूसरों के दुःखों का अनुभव कराती है। दुःखियों की सेवा कर उनका दुख दूर करने की प्रेरणा देती है। इस परोपकारी कार्य के लिए अपनी वासनाओं पर संयम रखने की क्षमता प्रदान करती है। मानव में मानवीयता अर्थात सामाजिकता की भावना पनपती है। प्राणीमात्र में ही नहीं वरन् सृष्टि में अस्तित्व पाने वाली हर वस्तु में अपना प्रतिबिम्ब देखने की दृष्टि प्रदान करती है।

प्रत्येक व्यक्ति में उपर्युक्त दोनों प्रवृतियां विद्यमान होने के कारण उसमें अंतर्द्वन्द चलता है। वस्तुतः मानव के अस्तित्व तथा कृतृत्व के लिए इन दोनों प्रवृतियों का एक सा महत्व है। अतः इन दोनों मूलभूत प्रवृतियों में समुचित संतुलन बनाए रखना मानव मात्र के विकास के लिए नितांत आवश्यक है। यह संतुलन बनाए रखने की विधि का ही नाम है-'संस्कृति'। सौभाग्य से भारत की संतान को यह संस्कृति विरासत में मिली है। उसी के आधार पर हम समाज की युगानुकूल पुनर्रचना कर पृथ्वी के अस्तित्व के लिए उपस्थित संकट का निवारण कर सकते हैं।

अपने समाज में युगानुकूल सामाजिक पुनर्रचना की प्रक्रिया सदियों से बन्द पड़ी है। वस्तुतः यह प्रक्रिया ही समाज को सनातनत्व प्रदान करती है। किन्तु अनेक शताब्दियों से तात्कालिक संकटों तथा समस्याओं के निराकरण में ही सबकी शक्ति लगती रही है और लग रही है। उससे केवल अल्पकालीन राहत प्राप्त होना संभव है। सामाजिक अर्थात् राष्ट्रीय जीवन को अधिकाधिक अस्त-व्यस्त एवं शोचनीय बनने से बचाना संभव नहीं है। वर्तमान दुर्दशा इसी प्रतिक्रियात्मक कार्यशैली का परिणाम है।

अनेक विचारकों एवं मनीषियों ने अपने अनुभवों के आधार पर सचेत किया है कि तकनीकी का प्रभाव संस्कृति पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। वैज्ञानिक या तकनीकी प्रगति संसार के किसी भी देश में हो, वह संसार के सभी देशों में फैलती है। आधुनिक संचार साधनों ने उपर्युक्त गति को और भी बढ़ा दिया है। परिणामस्वरूप लोगों के रहन-सहन, बोल-चाल, खान-पान आदि व्यवहार प्रभावित हुए हैं। अपने परम्परागत जीवनमूल्य केवल, उपदेश देने भर के लिए ही बचे हैं। उनका नूतन संतान के जीवन को संस्कारित करना असंभव हो रहा है। इसी कारण व्यक्तिगत, पारिवारिक, व्यावसायिक तथा सामाजिक जीवन की निरन्तर अवनति हो रही है। इसका एकमेव उपाय है-परम्परागत स्थायी जीवनमूल्यों पर आधारित युगानुकूल सामाजिक पुनर्रचना करना। इसी हेतु से प्रभु राम की तपोभूमि चित्रकूट में अपना समाज शिल्पी शिविर आयोजित हुआ है।

सर्वसाधारण लोगों की धारणा है कि व्यक्ति की प्रमुख प्रेरणा है उसकी शारीरिक वासनाओं की तृप्ति। किन्तु यह धारणा पूर्ण सत्य पर आधारित नहीं है। क्या मानव शारीरिक सुखोपभोग के आवश्यक साधन उपलब्ध होने भर से संतोष पा सकता है? कदापि नहीं। हर व्यक्ति चाहता है कि अन्य लोग उसे प्यार करें। उसे वे अच्छा कहें। उसे प्रतिष्ठा प्रदान करें। यह इच्छा क्यों होती है? यह तो शारीरिक भूख नहीं है। यदि मानव का व्यक्तित्व पशु समान शारीरिक सुखोपभोग तक सीमित होता, तो यह चाह मानव मन में कदापि न उठती। यह चाह इस बात का संकेत है कि मानव में ऐसा कोई विशेष तत्व है जो उसे

शारीरिक सुखानन्द तक सीमित रहने नहीं देता। इसी तत्व का नाम है 'आत्मा'। यह तत्व हर एक मानव में विद्यमान है। वह पढ़ा हो या अनपढ़, धनी हो या दरिद्र, सुसंस्कृत हो या अनाड़ी, महिला हो या पुरुष, भारतीय हो या अफ्रीकी, गोरा हो या काला, पाश्चात्य हो या पौर्वात्य, हिन्दू हो या मुसलमान, ईसाई हो या पारसी, सभी में यह चाह समान रूप से अनुभव करने को मिलती है। इसी कारण एक दूसरे के साथ तादाम्य होने की उत्कंठा मानव मन में उदय पाती है। यही चाह उसे शारीरिक आवेगों से केवल ऊपर उठने की ही प्रेरणा नहीं देती, अपितु जिस किसी से तादाम्य की अनुभूति होती है। उसके लाभ के लिए सर्वस्व का बलिदान तक करने की तत्परता प्रदान करती है।

भारत में साधकों, तपस्वियों तथा भक्तों की अनन्तकाल से चली आ रही अखण्ड साधना की परम्परा मानव में अन्तर्निहित आध्यात्मिक तत्व की ही परिचायक है। यह हिन्दू संस्कृति की विशेष खोज है। अपनी सामाजिक जीवन रचना इसी खोज के आधार पर खड़ी की गयी थी। किन्तु काल के प्रवाह में तथा दुनिया में फैली चकाचौंध के प्रभाव में इसकी उपेक्षा होने लगी है। आजादी पाने के बाद से तो मानव जीवन के इस जीवनदायी पहलू को अव्यावहारिक एवं निरर्थक मानने की प्रवृति अधिक प्रबल हुई है। सुख-सुविधाओं के नए-नए साधन उपलब्ध हुए हैं। जीवनयापन के माध्यमों में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है। यातायात के विशेष गतिशील साधनों के कारण व्यापार ने विश्वव्यापी रूप धारण किया है। औद्योगिक सभ्यता ने पुरातन जीवन प्रणाली को एक दम बदल दिया है। इस स्थिति में अपनी परम्परागत संयुक्त परिवार पद्धति अव्यावहारिक सिद्ध हो रही है। ऐसी अवस्था में उत्पन्न परिस्थिति को समझकर हम अपने व्यक्तिगत, पारिवारिक, व्यावसायिक एवं सामाजिक जीवन की पुनर्रचना नहीं करेंगे तो अपने परम्परागत जीवनमूल्य, वे चाहे जितने श्रेष्ठ हों, टिकना संभव नहीं होगा।

अपने समाज के रचनाकार केवल कल्पना जगत में विचरण करने वाले कल्पक मात्र नहीं थे। उन मूलगामी मनीषियों ने मानव जीवन के सभी पहलुओं का साक्षात्कार किया था। मानव के लैंगिक आवेग को भी उदात्तता एवं सार्थकता प्रदान कर उसे सनातनत्व के साथ जोड़ने की अनोखी प्रथा उन्होंने प्रचलित की थी। नित्य नूतनतापूर्ण संस्कृति का अविष्कार कर उन्होंने सामाजिक जीवन को स्वस्थ एवं स्थायी रूप प्रदान किया था। मानव मन की सर्वव्यापी शक्ति को अनुभव कर उसे व्यावहारिक जीवन में उतारने के लिए जहां 'वसुधैव कुटुंबकम' का लक्ष्य निर्धारित किया था, उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उन्होंने मानव-सुलभ कौटुम्बिक जीवन का माध्यम प्रस्तुत किया था। इस प्रकार व्यक्ति और विश्व को परस्पर सम्बन्धित करने की विधि प्रस्तुत की थी।

कौटुम्बिक जीवन के मूल घटक हैं-महिला एवं पुरूष। कुटुम्ब में ही नूतन संतान जन्म पाती है। परिणामस्वरूप समाज के सनातनत्व के दायित्व का वहन कुटुम्ब के द्वारा किया जाता है। कुटुम्ब सामाजिक जीवन की आधारभूत इकाई है। मानव के सर्वांगीण विकास का कुटुम्ब ही प्राथमिक संस्कार

केन्द्र है। 'वसुधैव कुटुम्बकम' तथा 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की भावना का उदगम-स्थान भी कुटुम्ब ही है। कौटुम्बिक महत्ता की यह पुरातनतम धरोहर काल के प्रवाह में लुप्त हो गई है। जिस उददेश्य से कुटुम्ब व्यवस्था का शुभारम्भ हुआ था, उसी आधार पर कुटुम्ब संस्था की पुर्नप्रतिष्ठा किए बिना, युगानुकूल सामाजिक पुनर्रचना संभव नहीं हो सकती।

कुटुम्ब के जो मूल घटक हैं (महिला एवं पुरूष), वे दोनों सामाजिक जीवन के भी अभिन्न अंग हैं। अर्थात कुटुम्ब और समाज एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। दोनों का जीवन एक-दूसरे पर निर्भर है। परस्पर पूरक बनकर ही दोनों प्रगति कर सकते हैं। लम्बे काल से अपने देश में यह परस्परपूरकता लुप्त हो गई है। कुटुम्ब एवं समाज एक दूसरे से असंबद्ध हुए हैं। व्यक्ति अपने कुटुम्ब तक और कुटुम्ब अपनी संतान तक सीमित हुआ है। कुटुम्बीय घटकों की आबादी के निवासियों से (शहरों में अपने मोहल्लों के निवासियों से तथा ग्रामों में अपने ग्रामवासियों से) आत्मीयता के एवं परस्परपूरकता के व्यावहारिक सम्बन्ध बचे नहीं हैं। इस कारण 'वसुधैव कुटुम्बकम' या 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' के परम्परागत मानवीय जीवन की महत्ता से हम पीढ़ी दर पीढ़ी अधिकाधिक वंचित होते जा रहे हैं। जिस हेतु से कुटुम्ब व्यवस्था का निर्माण हुआ था, वह व्यावहारिक जीवन से गायब है। लोगों का समाज के नाते जीना अवरूद्ध हुआ है। सामाजिक पुनर्रचना का कार्य अपनाने वालों को कौटुम्बिक अवधारणा के मूलभूत तत्वों को फिर से व्यावहारिक रूप प्रदान करने की दिशा में गतिमान होना होगा। कुटुम्ब ही समाज की आधारभूत इकाई है। इसकी पुनर्प्रतिष्ठा किए बिना सामाजिक पुनर्रचना एवं राष्ट्रोन्नति संभव नहीं हो सकती।

वस्तुतः महिला एवं पुरूष परस्पर पूरक तत्व हैं। एक के बिना दूसरा अधूरा है। इन दोनों तत्वों का परस्पर तादात्म्य ही सृष्टि की धारणा का मूल है। अतः सभी दृष्टियों से दोनों में समान स्तर की स्थिति निर्माण करना सामाजिक पुनर्रचना का प्राथमिक कार्य है। उपर्युक्त व्यवहार की परम्परा सदियों से टूट चुकी है। इस कारण यह कार्य सम्पन्न करना कठिन है। किन्तु इसके बिना अपने परम्परागत जीवन के स्थायी मूल्यों के आधार पर सामाजिक पुनर्रचना के अनिवार्य कार्य को व्यावहारिक रूप प्रदान करना संभव नहीं होगा।

गर्भावस्था में भी संस्कार क्षमता

मानव कुटुम्ब में ही जन्म पाता है। जन्म पाने के पूर्व शिशु नौ महीने अपनी मां के गर्भ में रहता है। यह प्रकृति की अपरिवर्तनीय रचना है। गर्भकालीन अवस्था में भी गर्भ अपने विकास के साथ-साथ संस्कार ग्रहण करता है। अतः गर्भावस्था में मां के मस्तिष्क में जो वैचारिक प्रक्रिया चलती है, भावनाओं की तरंगें उठती हैं, सुखदायी या दुःखदायी अनुभूतियां होती हैं, या गर्भस्थ शिशु के भविष्य की सम्भावनाएं उसकी कल्पनाओं में तैरती हैं, उन सबका परिणाम गर्भ पर अनिवार्य रूप से होता है। इस तथ्य को आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है। अतः देश और समाज का तथा विश्व और मानव मात्र

का जो भविष्य हम बनाना चाहते हैं, उसकी एवं उसे कार्यान्वित करने की विधियों से गर्भ धारण करने वाली महिला परिचित होनी चाहिए। देश के युवक-युवतियों को, जो कौटुम्बिक जीवन में पदार्पण करने की आयु प्राप्त करने जा रहे हैं, मातृत्व एवं पितृत्व का समुचित दायित्व निभाने की जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। सामाजिक पुनर्रचना के कार्य का यह अति महत्वपूर्ण पहलू है। इस दिशा में आवश्यक कार्यक्रमों को न अपनाया गया तो अपने पूर्वजों ने मानव के लैंगिक आवेग को मानवीय विकास की दृष्टि से जो उदात्तता एवं सार्थकता प्रदान की थी, वह निरर्थक सिद्ध होगी और उसके अपराधी हम होंगे।

गृहस्थाश्रम का स्वाभाविक दायित्व है, परिवारजनों के उदर-भरण की व्यवस्था करना। प्राण को अन्नमय कहा गया है। यह सत्य है। शरीर के स्वास्थ्यपूर्ण अस्तित्व के बिना व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक या राष्ट्रीय कर्तव्य सम्पन्न करना संभव नहीं होता। 'शरीरमाद्यं खलुधर्मसाधनम' का अपने पूर्वजों का संदेश यथार्थ है। इसके लिए अर्थार्जन अवश्यम्भावी है।

मानव प्राणी अकेला नहीं रहता। वह परिवारों में जन्म पाता है। परिवार के बिना जीना, पलना, बढ़ना और समर्थ बनना संभव नहीं होता। उसी प्रकार परिवार भी अकेला नहीं रहता। संसार में एक परिवार की आबादी कहीं भी नहीं मिलती। छोटे से छोटा ग्राम अनेक परिवार मिलकर बसा हुआ होता है। बड़े-बड़े शहरों में परिवार मोहल्लों के रूप में सामूहिक जीवन का ही अभ्यस्त रहता है। बिना परस्पर पूरकता के सामूहिक रूप से रहना संतोषप्रद और सुखावह नहीं होता। अर्थार्जन की विधि भी इसी अनिवार्य तत्व के आधार पर विकसित हुई थी। जीवन में अर्थार्जन की महत्ता बढ़ती जा रही है। कारण, अर्थ ही माध्यम बना है, जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति का।

इस अर्थार्जन के विकासक्रम को समझ लेना सामाजिक पुनर्रचना करने में सहायक सिद्ध होगा। मनुष्य जिस किसी आबादी में रहता है, उस आबादी के निवासियों की अनेक प्रकार की आवश्यकताएं होती हैं। उनकी पूर्ति करने की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे सभी नागरिक सन्तोष पा सकें। इसी आधार पर प्राचीन पद्धति प्रचलित रही है। इस पद्धति में हर एक परिवार आबादी के निवासियों की कम से कम एक आवश्यकता पूर्ण करने का दायित्व निभाया करता था। यह कार्य करने में केवल उदर-भरण की प्रेरणा नहीं होती थी, अपितु समाज-सेवा की भावना अधिक महत्व रखती थी।

कबीर कपड़ा बुनते समय मन में सोचा करते थे कि ताने का या बाने का कोई धागा कमजोर न रहे। मुझे भगवान की संतान के लिए कपड़ा बुनना है, अतः मेरे कपड़े में कोई दोष नहीं रहना चाहिए। इसी प्रकार गोरा कुम्हार मटके बनाने के लिए माटी तैयार करते समय सोचा करता था। समाज भी अपनी आवश्यकता पूर्ण करने वालों को परिवार चलाने में किसी प्रकार की कमी रहने नहीं देता था। पूरी आबादी में परस्परपूरकता का ध्यान रखते हुए सुखानन्द और आत्मीयता के साथ सभी निवासी रहा करते थे। इस युग में, जबकि विज्ञान एवं तकनीकी का विस्मयकारी विकास हुआ है, पुरानी प्रथा जिस रूप में थी उसी रूप में चलाना संभव नहीं है। किन्तु, अपना-अपना जीवनक्रम चलाते समय समाज-सेवा की जो भावना

प्रचलित थी, वह भावना वर्तमान काल में भी उतनी ही व्यावहारिक हो सकती है। व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाये तो किसी को भी धनार्जन करना तभी संभव होता है, जब वह समाज की कोई न कोई आवश्यकता पूर्ण करता है। लोगों की छोटी या बड़ी आवश्यकता पूर्ण न करने वाले काम से अर्थार्जन संभव नहीं होता। समाज की कोई न कोई आवश्यकता पूर्ण कर धनार्जन संभव है। अतः केवल धनार्जन की दृष्टि न रखकर सेवा की दृष्टि से काम किया जाये तो अधिक मुनाफा कमाने की लालच से वस्तुओं में मिलावट करने की या उत्पादन को उचित स्तर का न बनाने की असामाजिक वृत्ति का निवारण किया जा सकता है। इसी से समाज में परस्पर विश्वास बढ़ेगा, स्नेह पनपेगा तथा सहयोग संभव होगा। ये तीन बातें सामाजिक स्वास्थ्य एवं उन्नति के लिए नितान्त आवश्यक हैं। सामाजिक पुनर्रचना करते समय इस पहलू को प्रचलित करना होगा।

दुर्भाग्य से अपने समाज में, विशेषतः शिक्षित वर्ग में नौकरी करने की वृति अधिक प्रबल है। यह वृत्ति राष्ट्र नव-निर्माण में सहायक नहीं होती। देश के सभी युवकों को सरकारी या गैरसरकारी नौकरियां उपलब्ध कराना संभव नहीं हो सकता। वैसे भी नौकरी करने वालों को आदेशों का पालन करना होता है। उनमें अपनी प्रतिभा का उपयोग करने की सम्भावना कम रहती है। इस कारण देश में उपलब्ध प्रतिभा व्यर्थ सिद्ध हो रही है। नौकरी करने वाला व्यक्ति काम के प्रति दायित्व की भावना कम अनुभव करता है। उसकी नजर प्रतिमाह मिलने वाले वेतन पर ही रहती है। उसमें काम के प्रति निष्ठा कम देखने को मिलती है। कारण, उसमें दायित्वबोध लगभग शून्य रहता है। नव स्वतन्त्र देश के लिए यह वृत्ति घातक है।

नयी पीढ़ी में अपनी आजीविका के लिए नौकरी को माध्यम बनाकर राष्ट्र जीवन की युगानुकूल नवरचना संभव नहीं हो सकती। अपने देश में प्राकृतिक संसाधनों की कमी नहीं है। उपलब्ध प्राकृतिक संपदा का पूर्ण उपयोग किया जाए तो अपना देश संसार में समृद्धि की दृष्टि से भी अन्य किसी भी देश से पीछे नहीं रह सकता। आधुनिक विज्ञान एवं तकनीकी क्षमता से युक्त युवक-युवतियों की अपने देश में कमी नहीं है। यदि प्राकृतिक संसाधनों एवं तकनीकी दृष्टि से सक्षम युवक-युवतियों को एक दूसरे से आबद्ध किया जाय तो समाज का कोई भी वर्ग आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा नहीं रह सकता। हर एक सक्षम व्यक्ति उत्पादक बनेगा, स्वावलम्बन एवं स्वाभिमान के साथ राष्ट्र की समृद्धि बढ़ाने में योगदान करेगा। साथ ही, देश के युवा वर्ग की नौकरी करने के लिए जो दौड़ लगी हुई है वह भी घटेगी।

किन्तु, आजादी के बाद इस दिशा में आवश्यक पहल नहीं की गई। योजना आयोग इस दिशा में कदम बढ़ा नहीं पाया। महात्मा गांधी ने ग्राम स्वराज की आवश्यकता प्रतिपादित की थी। अपने देश के सर्वांगीण विकास के लिए गांधी जी का चिन्तन व्यावहारिक था। उस चिंतन को स्वीकार कर तदनुसार योजनाबद्ध काम करने से ही देश में व्याप्त आर्थिक असंतुलन, भयानक विषमता तथा बेहिसाब बढ़ी बेकारी मिट सकती है।

विज्ञान की व्यापकता-तकनीकी की स्थानीयता

गांव-गांव में उपलब्ध प्रतिभा तथा प्राकृतिक संपदा का पूर्ण लाभ उठाने की दृष्टि से निम्नांकित योजना लाभदायी सिद्ध होगी। विकसित देशों में उपलब्ध तकनीकी विद्या की वर्तमान युग में अवहेलना करना उचित नहीं है। किन्तु वह तकनीकी विद्या उसी प्रकार हम अपने देश में चलाने लग जायें, तो वह पग-पग पर खटकने वाली विषमता को बढ़ाने का ही काम करेगी। वस्तुतः तकनीकी विद्या समाज के विकास का साधन है। समाज तकनीकी विद्या के लिए नहीं है। यह बात दृष्टि से ओझल हो गयी है। तकनीकी समाज के हित के लिए है। एक और बात महत्वपूर्ण है।

विज्ञान, विश्व के स्तर पर मानव मात्र के लिए हितावह होता है। कारण, विज्ञान का काम प्रकृति के रहस्यों को खोजना तथा इस खोज के द्वारा मानव को प्रगति की दिशा में गतिशील बनाना है। किन्तु तकनीकी की विशेषता भिन्न है। तकनीकी प्राकृतिक कच्चे माल को मानव के लिए अधिक उपयोगी बनाने का माध्यम है। प्राकृतिक संपदा जगह-जगह पर भिन्न-भिन्न होती है। उस संपदा को मानव के लिए अधिक उपयोगी बनाने का काम, जहां जो सम्पदा उपलब्ध है, वहीं यह काम किया जाना सब दृष्टियों से उपयोगी होता है। इस कारण तकनीकी विद्या स्थानीय आधार पर ही आविष्कारित तथा विकसित होनी चाहिए। इस बात को ध्यान में रखकर भारत ने आर्थिक क्षेत्र में कार्य किया होता तो उससे केवल गांधी जी का मन्तव्य ही पूर्ण नहीं होता, अपितु देश के हर अंचल का सन्तुलित विकास होकर सबकी समृद्धि का मार्ग प्रशस्त होता। साथ ही साथ देश में व्याप्त बेरोजगारी का दानव दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक भयावह रूप धारण न करता।

आर्थिक विकास के लिए स्थानीय आधार पर उपलब्ध कच्चे माल को आधार बनाकर स्थानीय इकाई को गठित किया जाना चाहिए। इस इकाई में कौन-कौन सा कच्चा माल कितना-कितना उपलब्ध है, इसकी ठीक जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। जिस इकाई में उत्पादन की दृष्टि से कच्चे माल की उपलब्धता कम है तो उस एक काम के लिए इस इकाई के क्षेत्र का आवश्यकतानुसार विस्तार करना चाहिए।

इस प्रकार की प्रत्येक इकाई में कृषिजन्य, वनजन्य, भूगर्भजन्य तथा पशुजन्य कच्चा माल उपलब्ध हो सकता है। संभव है, कहीं-कहीं भूगर्भजन्य अथवा वनजन्य कच्चा माल उपलब्ध न हो, किन्तु कृषिजन्य एवं पशुजन्य कच्चा माल, सभी जगहों पर कम अधिक मात्रा में उपलब्ध होता है। उस कच्चे माल को तैयार माल के रूप में परिवर्तित करने का कार्य स्थानीय आधार पर ही किया जाना चाहिए। इस कार्य के लिए स्थानीय आधार पर परम्परागत तकनीकी कला उपलब्ध रहती है। अत्याधुनिक तकनीकी देश में या विदेशों में उपयोग में आ रही हो, और उसका अध्ययन कर स्थानीय आधार पर बेरोजगारी न बढ़ाते हुए तैयार माल का स्तर बढ़ाने की दृष्टि से उसका उपयोग करना यदि लाभदायी हो सकता हो, तो उस तकनीकी को अपनाने के लिए स्थानीय युवक-युवतियों को आवश्यक प्रशिक्षण देने की व्यवस्था

करनी होगी। इससे स्थानीय आधार पर तैयार होने वाले माल की गुणवत्ता उसी स्तर की संभव हो सकेगी, जो गुणवत्ता बड़े-बड़े कारखानों में उत्पादित तैयार माल की होती है।

आधुनिक युग में कच्चे माल को सैकड़ों और हजारों किलोमीटर दूर ले जाकर उसे तैयार माल का रूप प्रदान किया जाता है। इस कारण तैयार माल बनाने में अनावश्यक व्यय बढ़ता है। उस व्यय का प्रमुख कारण होता है यातायात पर आने वाला खर्च। स्थानीय कच्चे माल को दूर ले जाकर तैयार माल के रूप में परिवर्तित करने की प्रक्रिया अपनायी गयी और वह तैयार माल स्थानीय लोगों के उपयोग के लिए वापिस लाया गया, तो स्थानीय लोगों को बहुत बड़ी मंहगाई का भुगतान करना पड़ता है। आर्थिक व्यवस्था की दृष्टि से यह पद्धति अनेक दृष्टियों से घाटे की है। फिर भी इसी गलत रास्ते पर आर्थिक विकास के नाम पर विषमता बढ़ाने का तथा गरीबों को अधिकाधिक त्रस्त करने का काम हो रहा है।

आर्थिक स्वावलम्बन

सामाजिक पुनर्रचना में आर्थिक पुनर्रचना महत्व का स्थान रखती है। आर्थिक रचना समाज के प्रत्येक परिवार के लिए सहायक एवं सामाजिक दृष्टि से संतुलित हो इस रूप में विकसित करनी होगी। उसके लिए निम्नलिखित कदम उठाए जाने चाहिएः-

1. क्षेत्रीय इकाई को आधार बनाना।
2. क्षेत्र विशेष में कृषिजन्य, वनजन्य, भूगर्भजन्य तथा पशुजन्य उपलब्ध कच्चे माल का सर्वेक्षण करना अर्थात निश्चित किए गए क्षेत्र में ऊपर उल्लिखित चारों प्रकार के कच्चे माल वर्ष में कितनी-कितनी मात्रा में उपलब्ध होते हैं, इसकी जानकारी करना।
3. चुने हुए क्षेत्र में परम्परागत रीति से जिन कच्चे मालों का उत्पादन हो रहा है, उनका उत्पादन अधिकतम करने की दिशा में उपयुक्त प्रयास करना।
4. परिस्थिति का अध्ययन कर क्षेत्र में और कौन-कौन से कच्चे माल का उत्पादन किया जाना संभव है, इसकी आवश्यक जाँच करना। नये उत्पादन के लिए प्रथम प्रयोगात्मक प्रयास करना। प्रयोग सफल होने पर नये कच्चे माल का अपने क्षेत्र में व्यापक स्तर पर उत्पादन बढ़ाने की व्यवस्था करना। क्षेत्र को अधिक समृद्ध बनाने की यह विधि है।
5. उत्पादित कच्चे माल को उत्तम प्रकार के तैयार माल के रूप में परिवर्तित करना। तैयार माल की गुणवत्ता बढ़ाकर बाजार की प्रतिस्पर्धा में टिकने लायक उत्पादन के उद्देश्य से तकनीकी का विकास करने के लिए स्थानीय लोगों को प्रोत्साहित करना। प्रोत्साहन के साथ उसके लिए आवश्यक उपकरण उपलब्ध कराना।
6. उपर्युक्त विधि को पूर्ण सफल करने की दृष्टि से स्थानीय युवक-युवतियों को समुचित प्रशिक्षण देने की व्यवस्था करना, जिससे क्षेत्रीय प्रतिभाओं का पूरा विकास हो सके।

7. स्थानीय निवासियों की आवश्यकताएं पूर्ण करके जो तैयार माल बचेगा, उसे क्षेत्र के बाहर बेचने का समुचित प्रबन्ध करना।

8. क्षेत्रीय आबादी की आवश्यकताएं अनेक प्रकार की होती हैं। संभवतः क्षेत्रीय आधार पर प्राप्त कच्चे माल से उत्पादित वस्तुओं से स्थानीय निवासियों की सभी आवश्यकताएं पूर्ण न हों। उन आवश्यकताओं को पूर्ण करने की जिम्मेदारी समाज की है। वर्तमान स्थिति में इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए क्षेत्र के बाहर से कौन-कौन सी वस्तुएं मंगानी पड़ती है तथा बाहर से आने वाली वस्तुओं में से प्रत्येक वस्तु की मात्रा कितनी होती है, इसकी ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करना।

9. आयातित वस्तुओं में से कौन-कौन सी वस्तुएं, कच्चा माल बाहर से मंगाकर स्थानीय आधार पर तैयार वस्तुओं के रूप में परिवर्तित करना संभव है, यह देखना होगा। साथ ही कीमत और गुणवत्ता की दृष्टि से ये वस्तुएं आयातित वस्तुओं से कम अच्छी न हों तथा उनकी लागत भी अधिक न हों। इन दोनों कसौटियों पर जिन-जिन वस्तुओं का निर्माण स्थानीय आधार पर संभव है, उनका स्थानीय लोगों द्वारा उत्पादन करवाना।

10. जिन आयातित वस्तुओं का स्थानीय आधार पर लाभकारी उत्पादन संभव नहीं है, उन वस्तुओं के लिए अपने क्षेत्र से साल में कितनी धनराशि क्षेत्र से बाहर जाती है, इसकी जानकारी संग्रहित करना।

11. आर्थिक स्वावलम्बन एवं संतुलन बनाए रखने के लिए जितनी धनराशि आयातित वस्तुओं को मंगाने में खर्च हो रही है उससे अधिक धनराशि का माल स्थानीय आधार पर उत्पादन कर (स्थानीय आवश्यकता के अतिरिक्त) बाहर बेचने का प्रयास प्रारम्भ करना और धीरे-धीरे इस लक्ष्य को सिद्ध करना।

12. उपर्युक्त कार्य के लिए जहां क्षेत्रीय आधार पर उत्पादित वस्तुओं की गुणवत्ता बढ़ाने का ध्यान रखना होगा, वहां क्षेत्र के बाहर अपने उत्पादित माल के विपणन की समुचित व्यवस्था करनी होगी। उपर्युक्त योजना के माध्यम से जहां क्षेत्रीय स्तर पर स्वावलम्बन की स्थिति निर्माण होगी वहां आबादी के सभी समर्थ निवासियों को अर्थार्जन की सुविधा उपलब्ध होगी। समाज में फैली आर्थिक विषमता घटने लगेगी तथा देश में समान रूप से आर्थिक विकास संभव होगा। आर्थिक विकेन्द्रीकरण का भी वह मार्ग प्रशस्त होगा जिसके लिए गांधी जी और दीनदयाल जी प्रेरित किया करते थे।

भारत को कृषि प्रधान देश कहा जा रहा है। किन्तु, अंग्रेजों के आने के पूर्व अपनी आबादी के निवासियों की आवश्यकताएं पूर्ण करने की दृष्टि से हरेक ग्राम में स्थानीय आधार पर लगभग सभी प्रकार के उद्योग चला करते थे। ये उद्योग कुटीर उद्योग के रूप में विकसित हुए थे। खेती के लिए जितने भी उपकरण आवश्यक हुआ करते थे, उनका उत्पादन बढ़ई या लुहारों के द्वारा गांवों में ही सम्पन्न होता था।

इसी प्रकार चर्मकार, तेली, बुनकर, सुनार, ठठेरा, कुम्भकार आदि उद्योग साधारणतः हर ग्राम में थे। भारत की प्रत्येक आबादी औद्योगिक केन्द्र के रूप में विकसित थी। कई स्थानों का उत्पादन तो सारे संसार में विख्यात था। इन कुटीर उद्योगों का उत्पादन केवल कृषि आधारित था, यह कहना तथ्यपूर्ण नहीं है। अपनी आबादी की सभी आवश्यकताएं स्थानीय आधार पर पूर्ण करने की व्यवस्था थी।

इसी को गांधी जी ने ग्राम स्वराज कहा था। अंग्रेजों ने योजनाबद्ध रीति से उन उद्योगों का उन्मूलन किया था। ब्रिटेन में उत्पादित माल को खपाने के लिए अंग्रेजों ने यह षडयन्त्र रचा था। पुरातन काल में उद्योगों एवं व्यापार के आधार पर जातियां बनीं थी। यह कार्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता चला आ रहा था। बचपन से नूतन संतान को अपने उद्योगों का घर में ही प्रशिक्षण प्राप्त होता था। इस कारण किसी के लिए बेकार रहने की गुंजाइश नहीं थी। उसी जाति की बेटी, बहू बनकर घर आती थी। वह भी उसी उद्योग में प्रशिक्षित होती थी। परिवार में सभी महिला-पुरूष पारिवारिक उद्योग में संलग्न हुआ करते थे।

पश्चिम में हुई औद्योगिक क्रान्ति के बाद उद्योगों का यह रूप बदल गया। विकसित तकनीकी एवं आधुनिक शिक्षा ने परम्परागत व्यवसाय एवं उद्योगों की दिशा में परिवर्तन किया है। परिवार की संतान अपने पारिवारिक उद्योगों में ही संलग्न रहे, यह संभव नहीं रहा। जिस आधार पर जातियां विकसित हुई थीं, वह आधार मिट गया है। अब तो रोटी-बेटी का व्यवहार भी जाति की सीमा लांघ रहा है। जाति प्रथा अप्रासंगिक हो गयी है। जाति केवल नाम मात्र के लिए बची थी किन्तु राजनेतागण जातियों को अपनी सत्ता की आकांक्षाएं पूर्ण करने का माध्यम बनाकर उन्हें कायम रखने का तथा परस्पर विद्वेष फैलाने का धंधा चलाए हुए हैं।

समयानुकूल परिवर्तन आवश्यक

इन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर सामाजिक व्यवस्था में उपयुक्त परिवर्तन करना आवश्यक है। तथाकथित प्रगतिवादी नेतागण जातियों की अप्रासंगिकता पर जोरदार भाषणबाजी करते रहे हैं। जाति-पांति तोड़क अभियान भी चलाते रहे हैं। किन्तु राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए वे ही लोग जो स्वयं को प्रगतिवादी कहलवाते हैं, जातियों के आधार पर आरक्षण की मांग कर जाति की कालबाह्य प्रथा को अपने राजनैतिक स्वार्थ के लिए स्थायित्व प्रदान करने में जुटे हैं।

इस विकट परिस्थिति में हमें सामाजिक पुनर्रचना का अति कठिन कार्य सम्पन्न करना है। उसके बिना अन्य उपायों से समाज एवं राष्ट्र का उत्थान संभव नहीं है। परम्परागत व्यवस्थाएं चाहे जितनी निरूपयोगी हो गयी हों, उनकी आलोचना करने मात्र से वे समाप्त होने वाली नहीं हैं। उन कालबाह्य व्यवस्थाओं के स्थान पर युगानुकूल उपयुक्त व्यवस्थाओं की स्थापना से ही उनका अन्त होगा। सामाजिक पुनर्रचना में संलग्न युवक-युवतियों को इस तथ्य को ध्यान में रखकर तदनुसार उपयुक्त नूतन व्यवस्थाएं निर्माण करनी होंगी।

प्रथमतः आधुनिक परिस्थिति को समझें। पिता के सब बच्चे परम्परागत व्यवसायों में लगा करते थे। वह नियम अब नहीं चल सकता। एक ही माता-पिता के चार बच्चे अलग-अलग व्यवसायों का चयन करते हैं। इसे आपत्तिजनक न माना जा रहा है, न माना जाना चाहिए। परिवर्तित परिस्थिति में यही संभव है। चिन्ता इस बात की है कि उनकी मानसिकता सामाजिक नहीं रही। प्रत्येक युवक या युवती अर्थार्जन के माध्यम का अपने लिए अधिकतम धन प्राप्ति का लक्ष्य रखकर चयन करती है। अपने अर्थार्जन के द्वारा अपनी आबादी की या समाज की कोई न कोई आवश्यकता पूर्ण करें यह भावना नहीं रही। इस कारण अव्यवस्था फैल रही है। अधिक धनार्जन का माध्यम दिखाई देने पर सभी उसी माध्यम में घुसने की होड़ लगाते हैं। परिणामस्वरूप कुछ ही काल में वह माध्यम फलदायी नहीं रहता। इस भेड़ियाधसान वृत्ति से सभी को नुकसान हो रहा है। यह अव्यवस्था सर्वसाधारण युवक-युवतियों के लिए परेशानी का कारण बनी हुई है किन्तु इसका निराकरण करना उनके वश में नहीं है।

कालबाह्य जातियों के स्थान पर व्यावसायिक संगठन बने हैं, किन्तु उनके मूल में जाति व्यवस्था का जो आदर्श था, वह नहीं रहा। इन व्यावसायिक संगठनों का यह ध्येय नहीं है कि वे अपने व्यवसाय द्वारा समाज की सेवा करें। इन संगठनों का हेतु है अपने लिए अधिकतम लाभ अर्जित करना। इस कारण ये संगठन सामाजिक उत्थान या राष्ट्र नवनिर्माण में कोई योगदान नहीं देते अपितु अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए सामाजिक उन्नति में बाधक बनते हैं।

संगठित मजदूरों ने अपनी आर्थिक स्थिति में बहुत सुधार कर लिया है तथा पर्याप्त सुविधाएं अर्जित कर ली हैं, किन्तु असंगठित मजदूरों की दुर्दशा की उन्हें कोई चिन्ता नहीं है। उत्पादन के साथ वितरण की व्यवस्था अनिवार्य रूप से जुड़ी रहती है। उसे व्यापार के नाम से जाना जाता है। इसके भी साधारणतः दो भाग किए जा सकते हैं। एक है थोक व्यापार, दूसरा है फुटकर व्यापार। उसी में जुड़ गया है आयात-निर्यात व्यापार। वर्तमान काल में उत्पादन एवं व्यापार का एकमेव लक्ष्य है अधिकतम कमाई करना। जिस समाज से वे धनार्जन करते हैं, उस समाज की सेवा एवं उन्नति में उनकी कोई रूचि नहीं रहती।

प्रकृति की प्रतिष्ठा कायम रखना

ग्रामीण जीवन में प्रकृति के साथ सदैव सान्निध्य बना रहता है। वहां सहज में ही अनुभव होता है कि मानव का अस्तित्व पूर्णतः प्रकृति पर निर्भर करता है। हिन्दू मनीषियों ने हजारों साल पहले इस तथ्य को अनुभव किया था। जिससे अपना जीवन चलता है, उसके प्रति हृदय में कृतज्ञता का भाव धारण करने वाली संस्कृति का (परिष्कृत जीवन व्यवहार का) उन्होंने आविष्कार किया था। धरती माता, गंगा माता, गौ माता आदि धारणाएं उसी में से प्रस्फुटित हुई थीं। हिन्दू संस्कृति की मानवमात्र के लिए अनमोल देन है। संस्कृति की उपयुक्त विशेषता के कारण ही हजारों साल जीवनयापन करने के बावजूद अपने समाज को प्राकृतिक संसाधनों का न अभाव अनुभव हुआ था, न प्रदूषण की विभीषिका कभी स्पर्श कर पाई थी।

हिन्दू समाज प्रकृति को मां मानकर मातृभक्त संतान के नाते प्राकृतिक संसाधनों से अपना पोषण कर लेता था। उपभोग की भावना से कभी भी उसने प्रकृति का शोषण नही किया। फलस्वरूप समाज का पोषण भी होता रहा तथा प्रकृति की समृद्धि भी बनी रही।

आधुनिक काल की उपभोग वृति के प्रभाव में आने के कारण कृतज्ञता की भावना लुप्त हो गयी। उपभोग के लालच का कोई अन्त नहीं होता। अतः प्रकृति की समृद्धि की अवहेलना कर उसका केवल शोषण मात्र होने लगा और दो-ढाई शतकों में ही प्रगति के नाम पर प्राकृतिक संसाधनों के अभाव एवं प्रदूषण के दानव ने मानव का जीवन दूभर कर दिया है। फसलों का बढ़ना जैविक प्रक्रिया है। अतः फसलों को उगाने में कृषि भूमि की उर्वरा शक्ति काम आती है। इस उर्वरा शक्ति को कायम रखने का काम रासायनिक खादों से सम्पन्न नहीं हो सकता। उसके लिए जैविक खाद की ही आवश्यकता होती है। वह खाद जानवरों के गोबर से तथा हरे पौधों से ही उपलब्ध होता है।

विदेशों में, विशेषतः पश्चिमी देशों में शहरी सभ्यता की प्रधानता है। आधुनिक तकनीकी का यह परिणाम है। वही सभ्यता भारत में बढ़ रही है। हमारी सरकारें इस दिशा को प्रोत्साहन दे रही है। शहरी आबादी में दूध की मांग निरन्तर बढ़ती जा रही है। सरकारी योजनाओं से हर जिले में सहकारी दुग्ध योजनाएं प्रारम्भ की गई हैं। ये दुग्ध सहकारी समितियां ग्राम-ग्राम से दूध खरीदकर शहरों की आवश्यकता पूर्ण करने में जुटी हैं। परिणामतः देहातों में बच्चों को भी दूध मिलना संभव नहीं रहा। नवजात देहाती बच्चे कुपोषण के शिकार हो रहे हैं। इस कुपोषण निवारण के लिए ईसाई मिशनरियों द्वारा पावडर मिल्क विदेशों से मंगाकर वितरण के काम को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। कितना विचित्र एवं हास्यास्पद प्रयास है यह।

आवश्यकता है हर छोटे बड़े किसान को एक या दो गायें पालने के लिए प्रोत्साहित करने की। उन गायों की नस्ल सुधार का कार्य चालू रखना होगा, जो सहज संभव है। इससे गांव की नयी पीढ़ी कुपोषण का शिकार नहीं बनेगी। सबके लिए दूध, दही, मटठा, मक्खन एवं घी उपलब्ध हो सकेगा। किसान के लिए आर्थिक आय का सहायक साधन उपलब्ध होगा। खेतों के लिए अपने ही घर के बैल उपलब्ध होंगे। खाद के लिए धन खर्च करने की आवश्यकता नहीं होगी। घर की ही खाद आवश्यक मात्रा में उपलब्ध होगी। खेती की उपजाऊ शक्ति बनी रहेगी। गोबर गैस के द्वारा ईंधन की समस्या दूर हो सकेगी। हर गांव में इस प्रकार के उदाहरण प्रस्तुत कर किसानों में इस प्रथा को लोकप्रिय बनाना देश की समृद्धि का कारण बनेगा।

जहां-कहीं कृषि के अयोग्य भूमि उपलब्ध हो, वहां वृक्षारोपण का काम करवाना चाहिए। वृक्षारोपण करते समय ध्यान रखना चाहिए कि हमारी सभी आवश्कताएं पूर्ण हो सकें। वृक्षों के द्वारा हमारी तीन आवश्यकताएं पूर्ण होती हैं। पहली–विभिन्न प्रकार के फलों की प्राप्ति। हमें हर मौसम में कोई न कोई फल उपलब्ध होते रहेंगे। दूसरी-हमें इमारती लकड़ी भी आवश्यक होती है। वह दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक

महंगी होती जा रही है। इस समस्या को दूर किया जा सकता है—इमारती लकड़ी के वृक्षों को लगवाकर। इस कारण आवास निर्माण पर आने वाला व्यय घटाया जा सकेगा।

श्रद्धा का भाव ही जीवन को उदात्त बनाता है। साधारणतः हर आबादी में श्रद्धा का एकाध केन्द्र होता ही है। पूजा के स्थान ऐसे केन्द्र होते हैं। हर सप्ताह में कम से कम एक बार बच्चों को ऐसे स्थानों पर सामूहिक रूप से ले जाना चाहिए। वहां के परिसर को साफ-सुथरा रखने का काम स्वयं के साथ बच्चों से करवाना चाहिए। ऐसे कार्यक्रमों में आबादी के बड़े बालक-बालिकाओं को सम्मिलित करना आवश्यक है। पूजा का परिसर फूल-पत्तियों के पौधों से युक्त हो, इस दिशा में बच्चे तथा बालक-बालिकाएं संलग्न हो तो शेष निवासी भी सहज में ही सहयोग करेंगे।

इसके अतिरिक्त एक निश्चित दिन अर्थात् मंगल या गुरूवार को, या देवता का जो कोई विशेष दिन हो उस दिन सायंकाल सब बच्चे तथा बालक-बालिकाएं शुचिर्भूत होकर पूजा की सामग्री के साथ आराधना के लिए पहुंचें। उन्हें छोटे किन्तु अर्थपूर्ण मंत्र याद करवा कर रखने चाहिए। मंत्रोच्चार के साथ जब बच्चे पूजा करेंगे-सब बच्चे अपनी-अपनी आरती (मिट्टी के दीपक में ही क्यों न हो) नन्हें-नन्हे हाथों से करेंगे तो अनोखे धार्मिक संस्कार का पावन व मनोहारी दृश्य प्रस्तुत होगा। सहज में ही संस्कारक्षम वातावरण पूरी आबादी में फैलेगा। इससे सामाजिक समरसता का सुसंस्कार सभी पर होगा।

जाति व्यवस्था सामाजिक जीवन का कभी पोषक तत्व रहा है, किन्तु अब वह कालबाह्य हो गया है। वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति ने अनेक परम्परागत व्यवस्थाओं को अप्रासंगिक बना दिया है। जाति व्यवस्था उन्हीं में से एक है। अप्रासंगिक बनने के कारण वह धीरे-धीरे अपने आप अस्त हो रही थी। जिस पारिवारिक परम्परा की आधारशिला पर वह खड़ी हुई थी वह आधार ही मिट गया है। उसकी जगह सहज रूप में व्यावसायिक संगठन ले रहे थे। इस परिवर्तनशील काल में भारत के स्वातंत्रत्य प्राप्ति की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। भारत ने संविधान अपनाया जो ब्रिटिश शासन पद्धति की लगभग नकल मात्र है। विभाजन का विषैला घूंट पीकर देशवासियों को सदियों बाद सत्ता प्राप्त हुई थी। सत्ता का आकर्षण इतना अधिक था कि तथाकथित नेताओं ने सत्ता के मोहपाश में अपने परम्परागत जीवनमूल्यों को भुला दिया है। नव-स्वतन्त्र देश के नागरिकों को राष्ट्र पुनर्निर्माण में सक्रिय बनाने के स्थान पर समाज में व्याप्त कमजोरियों को, व्यक्तिगत सत्ता पाने की लालच में, बढ़ावा देना प्रारम्भ किया। जिस जाति प्रथा के उन्मूलन में वे संलग्न थे, उसी जातिवाद को खाद-पानी देने में वे जुट गये। परिणामस्वरूप जातिवाद का प्रेत भूत बनकर राजनेताओं के सर पर सवार है। सामाजिक समरसता में यह रोड़ा बना हुआ है।

रिसर्च एण्ड डेवलपमेंट पर दुनिया भर में बल दिया जा रहा है। बड़े-बड़े उद्योगों को, जो प्रतिवर्ष करोड़ों रूपयों का मुनाफा कमाते हैं, इस कार्य के लिए उन्हें सरकार द्वारा टैक्स में छूट दी जाती है। किन्तु गांवों में, जहां तीन-चौथाई आबादी रह रही है, खोज एवं विकास की प्रक्रिया देश आजाद हो जाने के बाद भी प्रारम्भ नहीं की गयी है।

ग्रामीण अंचल के लिए ''लैब टू लैण्ड'' का कार्यक्रम चलाया जाता है। बड़ी-बड़ी प्रयोगशालाओं में व्ययसाध्य खेती के प्रयोग किए जाते हैं। उनके निष्कर्ष खेतों में पहुंचाने का नाटक हो रहा है। उसके परिणाम क्या हैं? क्या गांवों से शहरों की ओर भागने की गति घटी है? यह पद्धति किसानों के लिए पूर्णतः अव्यावहारिक सिद्ध हो रही है।

देश में तीन-चौथाई से अधिक कृषक अलाभकर जोत वाले हैं। इनकी संख्या में सतत् वृद्धि हो रही है। बड़ी-बड़ी प्रयोगशालाओं में किए जाने वाले व्यय-साध्य प्रयोग इन गरीब किसानों के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होते। इस वस्तुस्थिति की शासकीय नेतृत्व को चिन्ता नहीं है। आवश्यकता है गांव-गांव में सर्वांगीण विकास के मार्ग खोज निकालने की। इसके बिना गांव में बिखरी पड़ी प्रतिभा काम में नहीं आएगी। स्वयं होकर अपना विकास करने की भावना अंकुरित नहीं होगी। आजादी पाने के बाद भी औरों पर व सरकार पर निर्भर रहने की, परमुखापेक्षी बने रहने की, गुलामी की आदत बनी रहेगी। अरबों रूपयों का विदेशी कर्ज लेकर भी स्वावलम्बन का सपना साकार होने के स्थान पर परावलम्बन के शिकंजे में ही जीवन जकड़ा रहेगा।

गांव की आवश्यकता पूर्ति गांव के आधार पर ही संभव है। आजादी को सार्थक बनाने का यही मार्ग है। अतः गांव-गांव में खोज और विकास के प्रयास समाज-शिल्पियों को प्रारम्भ करने होंगे। हर आबादी में सबके विश्वासपात्र, पक्षपात रहित अर्थात् सर्वमान्य व्यक्तियों की उपस्थिति के बिना देश में एकता एवं एकात्मता का विकास संभव नहीं है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में ऐसी कार्यपद्धति अपनाना, जो निष्पक्ष एवं सर्वमान्य व्यक्तियों के विकास में बाधक हो, राष्ट्र की अखण्डता तथा एकता एवं एकात्मता पर ही कुठाराघात है। अतः ऐसी विघटनात्मक पद्धतियों को देश से निकाल बाहर करना उज्ज्वल भविष्य निर्माण करने के लिए आवश्यक है।

❖❖❖

एकात्म मानवदर्शन की अवधारणाएं

– रंगा हरि

इससे पहले कि मैं अपने विषय में प्रवेश करूं, मैं आपको दो महत्वपूर्ण शब्द याद दिलाना चाहूंगा जो आमतौर पर अंग्रेजी में उपयोग किए जाते हैं। उपरोक्त मुख्य अवधारणाओं को समझने की कोशिश करने से पहले इन शब्दों को जानना महत्वपूर्ण है। पहला शब्द स्टैंडपॉइंट (मत) है। दूसरा शब्द है व्यूप्वाइंट (दृष्टिकोण)। जब हम किसी विषय को समझना चाहते हैं, तो इन दो बिंदुओं का पालन करना आवश्यक है। आपके पास खुद का एक स्टैंडप्वाइंट होना चाहिए जो आपके दृष्टिकोण को निर्धारित करता है। उदाहरण के लिए, यदि आप इंग्लैंड में रहते हैं, तो आपका स्टैंडप्वाइंट इंग्लैंड से है और यह आपके व्यूप्वाइंट को निर्धारित करता है। लिहाजा, इंग्लैंड में स्थित व्यक्ति के स्टैंडप्वाइंट के हिसाब से, खाड़ी देश पूर्व के पास हैं, भारत मध्य पूर्व है, और इंडोनेशिया सुदूर पूर्व है। लेकिन अगर आप का स्टैंडप्वाइंट इंग्लैंड से बदलकर भारत हो जाता है, तो उसके अनुसार इंडोनेशिया पूर्व के पास है, खाड़ी के देश पश्चिम के पास हैं। अतः स्टैंडप्वाइंट ही व्यूप्वाइंट को निर्धारित करता है। इसी तरह, अगर आप वास्तव

में एकात्म मानवदर्शन को समझना चाहते हैं, तो मुझे कोई संदेह नहीं है कि आपका स्टैंडप्वाइंट भारतीय होना चाहिए। यदि आपका स्टैंडप्वाइंट यूरोपीय है, तो संभावना है कि आप आगे की चर्चा में सभी अवधारणाओं को गलत समझ सकते हैं। इसलिए मैं आपसे अपने स्टैंडप्वाइंट को पूरी तरह से भारतीय बनाने का अनुरोध करता हूं। और यदि पश्चिमी सोच के कुछ मनोवैज्ञानिक प्रभाव आप पर हैं, तो आपको इनसे पूरी तरह छुटकारा पा लेना चाहिए। तो आइए, हम भारत के स्टैंडप्वाइंट से एकात्म मानवदर्शन और उस की प्रमुख संकल्पनाओं के बारे में एक दृष्टिकोण बनाने का प्रयास करते हैं।

एकात्मता

पहला विचार एकात्मता का है। किसी भी भारतीय के लिए यह स्वाभाविक विचार है। लेकिन अंग्रेजी पद्धति में शिक्षा प्राप्त करने के बाद हमारी अवधारणाएं बदल जाती हैं क्योंकि हम उन्हें उनके दृष्टिकोण से देखते हैं। लेकिन यह एक बड़ी गलती है और हमें इससे बचना है।

जब हम एकात्मता की बात करते हैं तो उसका अर्थ है कि पूरा ब्रह्माण्ड उस "पूर्ण" का है और वह एक है तथा एकात्म है। एक आत्मा पूरी सृष्टि, पूरे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। इसे ईसाई धर्मशास्त्रों की पृष्ठभमि में समझना होगा। ईसाई धर्मशास्त्रों के अनुसार केवल एक व्यक्ति में आत्मा है। और वह भी पुरूषों के लिए है, स्त्रियों में आत्मा नहीं होती है। जिन्हें हम निर्जीव मानते हैं, उनमें भी आत्मा नहीं होती है। पर हमारा मानना है कि पूरा विश्व एक ही आत्मचैतन्य से स्पंदित है। इसलिए हर व्यक्ति व वस्तु, जीव अथवा निर्जीव, चर-अचर, पुरूष, स्त्री, पशु, पौधे एवं सभी अन्य में उसी एक आत्मा अथवा परमात्मा की ऊर्जा है। जीवन की एकात्म प्रकृति की यही अवधारणा है। यही भाव भगवान श्रीकृष्ण व्यक्त करते हैं जब वह कहते हैं, "सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त आत्मा मैं ही हूं। आरंभ में मैं हूं, मध्य और अंत में भी मैं हूं। इसलिए पूरे विश्व में आत्मिक ऊर्जा रहित कोई स्थान नहीं है। एकात्मता की अवधारणा यही है। यह पूरा ब्रह्माण्ड अनवरत है और इसमें एक ही आत्मा का स्पंदन है।

भारतीय स्वाभाविक रूप से हर चीज को इसी ढंग से देखते हैं। आत्मा की उपस्थिति ही सबकुछ है। जीवित हो या निर्जीव, यह अवधारणा एक विशिष्ट प्रकार के संबंध को भी स्थापित करती है। दो भाई अगर एक पिता की संतान हैं तो उनमें भ्रातृत्व का भाव स्वाभाविक है। अगर इस जगत की रचनाकार वह आदि शक्ति है और हम सब को उसी से जीवन मिला है तो हम सभी भाई-बहन हुए। एकात्म भाव से सोचने वाले हिंदू के लिए इस प्रकार सभी बंधु भाई हैं। इसलिए एकात्म मानवदर्शन के दृष्टिकोण से हम जगत के मित्र नहीं हैं, बल्कि इस जगत में हम सभी में भ्रातृत्व का भाव है। इसलिए जगत के संदर्भ में मैत्री का भाव एकात्म मानवदर्शन नहीं है, बल्कि जगत के प्रति भ्रातृत्व का भाव एकात्म मानवदर्शन है। हमारे व्यवहार, साहित्य व दृष्टिकोण में यह सर्वत्र प्रतिबिम्बित होता है। भर्तृहरि नाम के एक कवि थे। "वैराग्य शतक" नामक अपने ग्रंथ में वह समस्त पदार्थ जगत से विदा लेते हुए पांच तत्वों को संबोधित

करते हुए कहते हैं, "हे पृथ्वी माता, पिता तुल्य वायु, मित्र तुल्य अग्नि, स्नेहमयी जल तथा भाई तुल्य विस्तार, मैं तुम सबसे अंतिम विदा लेता हूं। सभी को मेरा अंतिम प्रणाम। तो यह है भारतीय दृष्टिकोण। जब तक यह विश्वास आपके भीतर न हो कि संपूर्ण जगत में एक ही आत्मा का वास है, तब तक ये शब्द आपके हृदय में नहीं आ सकते हैं। इसीलिए हम कालिदास में देखते हैं कि जब शकुंतला, सिल्वान आश्रम को छोड़ रही होती है, तो वह मृग के सामने रो पड़ती है और उसे देखकर मृग के आंसू भी रूक नहीं पाते हैं और वह सृप से भी विदा लेती है। इस प्रकार आप सृप में भी जीवन देखते हैं और मृग में भी सहोदर या सहोदरी को देखते हैं। इसलिए हम कहते हैं कि यहां भ्रातृत्व का भाव है। एकात्म मानवदर्शन का मूल भाव यही है। वैदिक वाणी को याद किया जाए तो महानारायण उपनिषद में यही कहा गया था, "विश्वम भक्ति एकानीड़म", "संपूर्ण विश्व एक नीड़ बन जाता है और हम सभी उसके वासी।"

एकात्म मानव

दूसरी अवधारणा है एकात्म मानव की। एकात्म मानवदर्शन की दृष्टि से मानव क्या है? मानव को खुशी चाहिए। पर कौन है ये मानव और किसे प्रसन्नता चाहिए? आप मानव को आर्थिक, राजनीतिक अथवा यौन इच्छाओं की दृष्टि से टुकड़ों में बांट कर देखते हैं। पर वास्तव में मानव क्या अलग-अलग खांचों में बंटा हुआ है? नहीं, वह समग्र है। उसके भीतर, आत्मा है तथा उसके पास शरीर, मन व बौद्धिकता है। इन सबसे मिलकर एक संपूर्ण मानव बनता है। इसलिए इन सभी तत्वों को प्रसन्नता का अनुभव होना चाहिए तभी वह संपूर्ण प्रसन्नता होगी। यही बात तिरूवल्लुवर ने तिरूक्कुरल में भी कही है कि मानव की प्रसन्नता समग्र होती है और इसी समग्र प्रसन्नता को "आत्मानंद" कहा जाता है। आनंद का अर्थ संतोष या हर्ष नहीं है। आनंद संपूर्ण व समग्र है। समग्र मानव की अवधारणा को कठोपनिषद में बड़े सुंदर तरीके से परिभाषित किया गया है। इस संबंध में एक अच्छा उदाहरण दिया गया है। संपूर्ण मानव की तुलना एक गतिमान रथ से की गई है। ऐसे किसी भी रथ के छः तत्व होते हैं–1. स्वयं रथ, 2. रथ का स्वामी जो उसमें बैठा है, 3. रथ में उपस्थित सारथी, 4. सारथी द्वारा पकड़ी गई लगाम, 5. लगाम में कसे अश्व और 6. आस-पास की वस्तुएं व व्यक्ति जो दिखते हैं।

मानव से इसकी तुलना करें तो ऋषि का कहना है कि मानव का शरीर रथ है, आत्मा रथ की स्वामी है, बुद्धि सारथी है, मन एक लगाम है, इंद्रियां अश्व हैं तथा आस पास का परिदृश्य वस्तुगत संसार है। ये सब मिलकर मानव को भोक्ता बनाती हैं जो सब अनुभव करता है।

वही मानव है जो इस जगत में जीवन जी रहा है। वह संसारी है। इसलिए जब आप उसकी प्रसन्नता के बारे में सोचते हैं तो उसके, सारथी के, अश्वों के तथा अंततः विषयों के बारे में भी सोचना होगा। यही समग्र सोच है। हमारे उपनिषदों में एकात्म मानव की यही परिभाषा है इसीलिए दीनदयाल जी ने कहा कि मानव के आनंद के बारे में सोचना है तो इन सबके बारे में भी सोचना होगा। शारीरिक सुख की बात करें

तो अगर कोई फुटबॉल का खिलाड़ी फुटबॉल खेल रहा है, तो वह प्रसन्न होगा। पर ये केवल शारीरिक सुख है।

मान लीजिए कोई व्यक्ति किसी संगीत सभा में जाकर अपने अंर्तमन में इतना विलीन हो जाता है कि अपने आस-पास की सब चीजों के बारे में भूल जाता है, तो यह मानसिक सुख है। कोई शतरंज का खिलाड़ी है जो अपने शरीर के बारे में न सोचते हुए केवल बुद्धि का उपयोग कर जीत कर प्रसन्न होता है, तो वह बुद्धि का आनंद है। सामान्य मानव के रूप में हम भले ही आत्मा को लेकर चेतन न हों पर, कोई एक क्षण अनजाने ही आ जाता है जब हम परमानंद में होते हैं। यही वह क्षण होता है जब हम अपने सुख, अस्तित्व आदि के बारे में भूल कर परम आनंद की अनुभूति करते हैं। एक व्यक्ति अलग अलग स्तरों पर सुख की अनुभूति करता है। एकात्म मानवदर्शन के अलावा कौन सा ऐसा दर्शन है जो इन चार स्तरों पर सुख को स्वीकार करता है? पश्चिम के दर्शनशास्त्रियों की दृष्टि अधूरी है। इसलिए जब हम मानव के आनंद की बात करें तो इन चारों स्तरों के सुख की बात करनी होगी।

एकात्म मानवदर्शन में इनके लिए पूरा स्थान है। यह केवल मानवजाति के लिए सीमित नहीं है। पूरी सृष्टि इस परम शांति की हकदार है। आइये वेदों से मिले शांति मंत्र को देखते हैं। यह सबसे पहले समताप मंडल (स्ट्रेटोस्फीयर) की बात करते हुए "दौ" शांति की बात करता है अर्थात पूरे समताप मंडल में शांति होनी चाहिए। इसके बाद नीचे की कड़ियों की बात करते हुए "अंतरिक्षम शांति", "पृथ्वी शांति" का आह्वान है। इसके उपरांत जल की बात करते हुए "अपाशांति"–जल में रहने वाले सभी जीवों के लिए शांति, फिर सभी जीवित पौधों व जीवों की बात करते हुए "औषधेय शांति" तथा "वनस्पत्य शांति" की बात की गई है। वेदों में माश्वि अर्थ चारों दिशाएं। इन चारों दिशाओं में शांति की बात की गई है। शांति का अर्थ दो युद्धों के बीच का काल नहीं होना चाहिए। यह अपने आप में सृजन की समग्र अवस्था है। इसलिए "शांतिरेवा शांति" की बात की गई। वेदों में समताप मंडल से आरंभ होकर दस स्तरों पर शांति की बात की गई है। यह प्रार्थना ही एकात्म मानवदर्शन का मूल भाव है।

राष्ट्र व राज्य (नेशन)

अगला बिंदु जिसके बारे में मैं चर्चा करने चाहता हूं वह है राष्ट्र व राज्य (नेशन)। एकात्म मानवदर्शन के दृष्टिकोण से देखा जाए तो ये दोनों अलग-अलग अवधारणाएं हैं। वे समानार्थी नहीं हैं। अगर हम इन शब्दों के उद्गम को देखें तो "नेशन" शब्द की उत्पत्ति "नेटस" शब्द से हुई है। इसका अर्थ है आप कहां पैदा हुए हैं, एक प्रकार से यह भौगोलिकता से जुड़ा है। वास्तव में नेटिव, नेटस व नेशन एक दूसरे से जुड़े शब्द हैं। दूसरी ओर "राष्ट्र" का संबंध आप के जन्म अथवा जन्मस्थान से नहीं है। "राष्ट्र" का अर्थ है प्रबोधन करने वाला साधन। इसकी उत्पत्ति संस्कृत से हुई है। यह दो शब्दों से मिल कर बना है "रजते" तथा "ष्ट्र"।

"रजते" का अर्थ है प्रबोधन अथवा ज्ञान का आलोक तथा "ष्ट्र" का अर्थ है साधन। तो राष्ट्र वह साधन है जिससे आप मानव समाज को ज्ञान से आलोकित करते हैं। इसमें भूगोल अथवा जन्म कहां आते हैं? इस प्रकार राष्ट्र, नेशन से अलग है। राष्ट्र जीवन में वास्तविक प्रगति तथा प्रबोधन का माध्यम है जबकि नेशन का अर्थ है वह स्थान जहां आपका जन्म हुआ है। आप इन दोनों की तुलना नहीं कर सकते हैं।

यूरोप में "नेशनलिज्म" का विकास एक प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। चूंकि वे दूसरों की प्रभुसत्ता को स्वीकार नहीं करना चाहते थे और स्वयं को सुरक्षित रखना चाहते थे, इसलिए नेशनलिज्म के विचार ने जोर पकड़ा। इसी विचार के कारण वहां युद्ध व संघर्ष हुए, प्रतिद्वंद्विता रही, रणनीतियां बनाई गई तथा शोषण किया गया। ये सभी राजसी व तामसी प्रवृत्ति के गुण हैं। इसलिए इन राज्यों का जन्म राजसिक व तामसिक उर्जा से हुआ। लेकिन राष्ट्र का जन्म मानव मात्र के लिए सात्विक भाव से हुआ। राष्ट्र का जन्म ऋषियों की तपस्चर्या से हुआ है। राष्ट्र की परिभाषा जानने के लिए हमें पश्चिमी विद्व्रानों की पुस्तकों में जाने की आवश्यकता नहीं है, हमारे ऋषियों ने इसके बारे में विस्तार से जानकारी दी है।

अथर्ववेद में एक मंत्र में कहा गया है कि ऋषियों की तपस्चर्या से बालम, ओजस व राष्ट्रम का उद्भव हुआ। इन ऋषियों को "भद्रम इच्छन्तहा" कहा गया है। वे अपनी सुरक्षा, सम्मान आदि कुछ नहीं चाहते थे, उनका उद्देश्य था संपूर्ण मानव जाति की सुरक्षा व कल्याण। सही भद्रम इच्छन्तहा का अर्थ है। इसी के लिए उन्होंने तप किया। तप करते हुए उन्होंने मौसम में परिवर्तन, आयु में वृद्धि तथा ब्रह्चर्या जैसी चुनौतियों को स्वीकार किया और उस अंतिम लक्ष्य के लिए ध्यान किया। इसी मंत्र में बताया गया है कि इन तपस्वियों को पता था कि शाश्वत आनंद क्या है। इसके लिए उन्हें स्वरविदास कहा जाता था। वे सामान्य नहीं थे। उनके असामान्य गुणों ने उन्हें ऋषि बनाया। वे द्रष्टा थे इसलिए उनका कोई व्यक्तिगत लक्ष्य नहीं था। इन्हीं द्रष्टाओं की तपस्चर्या का परिणाम राष्ट्र के रूप में सामने आया। तो इस प्रकार यह चिरकाल से हमारा राष्ट्र है। राष्ट्र की भारतीय अवधारणा परमानंद के ज्ञाता इन ऋषियों के ध्यान व साधना का परिणाम थी।

जब हम राष्ट्र की अवधारणा के बारे में बात करते हैं, केरल के हमारे एक इतिहासकार ने कहा कि किसी वरनेकर ने "राष्ट्र" शब्द की ईजाद की थी और यह संस्कृत साहित्य में कहीं नहीं है। वास्तव में इन सज्जन को संभवतः संस्कृत साहित्य का ज्ञान नहीं हैं। ऋग्वेद व अथर्ववेद में कम से कम 200 संदर्भ "राष्ट्र" के संबंध में हैं। पंडित विश्वबंधु ने वेदों की निर्देशिका तैयार की है जिसमें ये संदर्भ दिए गए हैं। ये संदर्भ वेद में दिए गए हैं, रामायण या महाभारत में नहीं। संस्कृत भाषा में विभिन्न संदर्भों में इसके सात विविध स्वरूप दिए गए हैंः राष्ट्रम, राष्ट्रेना, राष्ट्रया, राष्ट्रत, राष्ट्रया। पर हमारे यहां अंग्रेजी भाषा में पारंगत बुद्धिजीवी कहते हैं कि यह राष्ट्रम केवल "नेशन" शब्द का अनुवाद मात्र है।

राजा व राज्य

जब आप रामायण व महाभारत पढ़ते हैं तो राष्ट्र व राज्य का अर्थ अलग है। बहुत से संस्कृत के पंडित कहते हैं कि राष्ट्र व राज्य का मतलब एक ही है। पर यह सही नहीं है। राष्ट्र तो मानव के प्रबोधन का साधन है, इसके लिए राज्य की आवश्यकता नहीं है। अगर यह साधन अपने आप में सर्वश्रेष्ठ व संपूर्ण है तो फिर अनुशासन के लिए किसी बाहरी हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। पर जब मानव स्वभाव गड़बड़ी करने लगा, तो उस समय एक व्यवस्था की आवश्यकता हुई, ऐसे में "राजा" का आगमन हुआ। राजा अपना काम राज्य में करता है। राजा का काम क्या है? जो प्रजा को खुश रखता है, वही राजा है। वह लोगों को खुश रखता है, ताकि राष्ट्र का उद्देश्य पूरा हो सके। राज्य व राष्ट्र अलग हैं और राज्य, राष्ट्र का अभिन्न अंग है।

इन दोनों शब्दों को रामायण व महाभारत में अलग-अलग अर्थों में प्रयोग किया गया है। समस्या यह है कि हम इन अवधारणाओं को एक गैर भारतीय भाषा के माध्यम से समझने का प्रयास करते हैं जिससे अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

इन शब्दों व अवधारणाओं को समझने के लिए हमें संस्कृत साहित्य की ओर वापिस जाना होगा। इस संबंध में मैं आपको दो उदाहरण देता हूं। जब श्री राम को वनवास पर भेजा गया तो कौशल्या रोते हुए दशरथ से कहती है, आपने राज्य के साथ राष्ट्र को भी बरबाद कर दिया -**"हतम् त्वया राज्यम् इदं सः राष्ट्रम"** वाल्मीकि रामायण (2-61-26)। इस श्लोक में राष्ट्र व राज्य, दोनों शब्द एक साथ आते हैं। अन्य उदाहरण महाभारत का है। अज्ञातवास के अंतिम दिनों में गायों को बचाने के लिए अर्जुन जब उत्तर कुमार की मदद के लिए युद्ध में उसका साथ देकर विजयी होकर लौटता है तो विराट नरेश छद्म वेश धारण किए, युधिष्ठिर से जुआ खेलने की इच्छा व्यक्त करता है। युधिष्ठिर विराट नरेश से कहता है, "हे राजन, यह खेल राज्य के लिए ठीक नहीं है और तुम्हें नष्ट कर देगा। क्या तुमने युधिष्ठिर के बारे में नहीं सुना, उसने यह खेल खेला था और उसने अपना राष्ट्र व राज्य दोनों बरबाद कर दिए।" युधिष्ठिर कहते हैं, **"सः राष्ट्रम सुमहत्स्वीतम राज्यम हरितवान सर्वम।"** इस एक श्लोक में राष्ट्र व राज्य दोनों शब्द एक साथ आते हैं।

सावित्री को जब सत्यवान का जीवन पुनः मिल जाता है तो उसे वरदान मिलता है कि जाकर अपने राज्य की पुनः प्राप्ति करो तथा अपने राष्ट्र में सुख से रहो। यहां भी एक ही श्लोक में राष्ट्र व राज्य शब्द एक साथ आते हैं। क्या हम भारतीयों को इन विषयों में गहरे से नहीं उतरना चाहिए? हमें संस्कृत साहित्य का अध्ययन अपने दृष्टिकोण से करना चाहिए जिससे राष्ट्र व राज्य के सही अर्थ पता लगे। ऐसी स्थिति नहीं होनी चाहिए कि राष्ट्र शब्द का अर्थ देखने के लिए हमें चैंबर्स शब्दकोष को खोलना पड़े। हमें राष्ट्र व राज्य को अपने साहित्य में जाकर समझना होगा।

चित्ति

जहां तक हमारा प्रश्न है तो हम मानते हैं कि राष्ट्र व राज्य में अंतर है। दीनदयाल जी राष्ट्र का एक स्वयंभू अस्तित्व मानते थे और उसकी आत्मा को उन्होंने "चित्ति" का नाम दिया। परम पूजनीय गुरुजी अपने भाषणों में राज्य की अस्मिता के बारे में अक्सर बात किया करते थे। दक्षिण भारत में गुरुजी अंग्रेजी में दो शब्दों का प्रयोग करते थे "नेशनल एंटिटी" व "नेशनल पर्सनेलिटी"। पहले का अर्थ है राज्य का अस्तित्व, यह एक देश के बाहरी अस्तित्व का प्रतीक है। "नेशनल पर्सनेलिटी" का अर्थ है "अस्मिता" जो कि राज्य के "होने" का प्रतीक है। अगर अस्तित्व में एक अलग व्यक्तित्व नहीं है तो उसे अस्मिता नहीं कह सकते हैं। हमारे ऋषियों ने भी कहा, "अहं अस्मि" अर्थात "मैं हूं"। यह "होना" ही एक देश की अस्मिता बनाता है। यह देश की चित्ति है। स्वामी विवेकानंद कहते थे कि हर देश के होने का कारण होता है कि उसे कोई लक्ष्य पूरा करना होता है। इस "कारण" को पूज्यनीय गुरुजी ने "अस्मिता" कहा और दीनयाल जी ने इसे देश की चित्ति कहा।

किसी देश को जाने बिना भी कई बार सामान्य व्यक्ति अपनी बात को सटीक ढंग से रख पाता है। मैं आपको चार उदाहरण देता हूं। हम ब्रिटिश शेर, जर्मन ईगल, रूसी भालू तथा चीनी ड्रैगन की बात करते हैं।

इसका मतलब क्या है? जब आप चीन के बारे में सोचते हैं तो ड्रैगन की प्रकृति मन में साकार हो उठती है और ब्रिटेन की बात करें तो शेर की प्रवृत्ति का विचार मन में स्वतः उठता है, जब आप भारत की बात करते हैं तो गाय की प्रवृत्ति व प्रकृति का भाव मन में आता है। ये सारे भाव किसी देश की चित्ति को प्रतिबिंबित करते हैं। स्वामी विवेकानंद का कहना है कि चित्त किसी भी देश का अभिन्न अंग है, आप उसे छोड़ नहीं सकते हैं। वह उदाहरण देते हैं कि यह ऐसा ही है, मानो किसी दैत्य को आप मार नहीं सकते, क्योंकि उसके प्राण किसी द्वीप पर बने सात मंजिला भवन में बंद तोते में बसे हैं। तोते को मार दीजिए तो दैत्य अपने आप मर जाएगा। यही हममें समानता है और एकात्म मानवदर्शन इसकी पहचान चित्ति के रूप में करता है।

जब हमने सर्वश्रेष्ठ खिलाड़ी के लिए पुरस्कार का नाम वीर अर्जुन पर रखा था तो वह हमारे देश की चित्ति का परिचायक था। जब अपने खेल प्रशिक्षकों के लिए द्रोणाचार्य पुरस्कार की स्थापना की तो वह हमारे देश की चित्ति का प्रतिफल था। तो इसलिए यह चित्त भीतर ही जन्मी इस देश की आत्मा है और इसकी झलक हमें देश के काम-काज में मिलती रहती है-भारतीय गणराज्य का उद्बोधन "सत्यमेव जयते", सर्वोच्च न्यायालय का आधार बना यह श्लोक "यतो धर्मा स्ततो जय", भारतीय संसद का "धर्म चक्र प्रवर्तनाय", भारतीय जीवन बीमा निगम का प्रेरणा मंत्र–**"योगक्षेमं वहाम्यहम्",** दूरदर्शन का **"सत्यम शिवम सुंदरम।"**

विराट

भौतिकी में, दो प्रकार की ऊर्जा होती है; गतिज ऊर्जा और स्थिर ऊर्जा। गतिज ऊर्जा में अधिक क्षमता है और स्थिर ऊर्जा स्थिर है। जब यह गतिजन्य हो जाती है तो गति पकड़ लेती है। इसी प्रकार चित्ति जब गतिजन्य हो जाती है तो देश के विराट में परिवर्तित हो जाती है। अतः इसे देश की प्राण शक्ति कहा जाता है। इसके बिना हम सक्रिय नहीं रह सकते हैं। किसी देश की प्रेरणा और गतिशीलता उस देश का विराट होती है। राष्ट्र शरीर में विद्यमान चैतन्य ही विराट है। चित्ति और विराट मिलकर एक राष्ट्र की जिजीविषा तय करते हैं एक देश को जीवित रहना चाहिए, उसे अंतिम समय तक संघर्ष करते रहना चाहिए, उसे मरना नहीं चाहिए। संघर्ष करने और जीने की इस प्रबल इच्छा को ही जिजीविषा कहा जाता है। हम विजय के लिए जीते हैं और विजयी होकर प्रगति के लिए कार्य करते हैं। चित्ति और विराट का यह भी एक कार्य है। वे दोनों एक साथ काम करते हैं। अगर किसी देश में से प्राणशक्ति चली गई और उसमें चित्ति है तो वह एक गुलाम देश है। जब विराट और प्राणशक्ति को गतिमान करने वाली चित्ति शरीर में होती है तो गति आ ही जाती है। इसे अंग्रेजी में "टाइम स्पिरिट आफ ए नेशन" भी कहा जाता है। यह जिजीविषा से पैदा होती है। मैं इस संबंध में एक उदाहरण देता हूं। जब हमारे देश पर मुस्लिम आक्रांताओं ने 1000 साल का शासन करना आरंभ किया तो चौदहवीं, पंद्रहवीं, सोलहवीं शताब्दी में भक्ति आंदोलन आरंभ हुआ। उस समय वाल्मीकि रामायण का प्रत्येक क्षेत्रीय व स्थानीय भाषा में अनुवाद हुआ। सबसे पहले इसका अनुवाद उत्तर में नहीं बल्कि कम्बन में दक्षिण में तमिल भाषा में किया। यह मूल पाठ का भावानुवाद था। इसके बाद 15वीं और 16वीं शताब्दी के बीच असम में माधव कांदाली से लेकर केरल में थुनचाट एज्जुझन तक ने इसका अनुवाद किया। क्या इन सब कवियों ने मिलकर कोई निर्णय किया था? क्या इसके लिए आम सहमति से कोई प्रस्ताव पारित हुआ था? नहीं। किसी ने प्रस्ताव पारित नहीं किया यह भारत की चित्ति का प्रभाव था। मुस्लिम आक्रमण राजनीतिक कम धार्मिक अधिक था। लेकिन जब यूरोपियनों ने भारत में घुसपैठ की तो यह हमला सांस्कृतिक, धार्मिक, शैक्षिक, राजनीतिक आदि सभी मोर्चों पर था। उस समय भक्ति आंदोलन इसकी काट नहीं कर सकता था। इसलिए 18वीं व 19वीं सदी में हिंदू पुनर्जागरण आंदोलन आरंभ हुआ। क्या इसे लेकर सुधारकों ने कोई प्रस्ताव पारित किया था? नहीं। पर देश की चित्ति ने तय किया कि इस हमले का प्रतिकार इसी तरह से किया जाएगा। हम अनुमान नहीं लगा सकते कि चित्ति कैसे काम करती है। पर वह चैतन्य भाव से काम करती है।

व्यष्टि व समष्टि

अब बात करते हैं "व्यष्टि" और "समष्टि" की। विस्तार में जाने से पहले हमें संस्कृत के दो शब्दों को ध्यान में रखना होगा जो सुनने में एक जैसे लगते हैं "समाज" व "समाजा"। समाज का अर्थ है जानवरों की तरह एक समूह में रहना। संस्कृत में समाज की परिभाषा है-"पशुनाम पशु समानाम,

मूर्खानाम, समूह समाज" अर्थात बिना बुद्धि के पशुओं व पशुओं जैसे रहने वाले लोग। लेकिन "समाजा" का अर्थ है-परिव्राजक की तरह आगे चलने वाला। जब मानव किसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर आगे बढ़ता है तो उसे "समाजा" कहा जाता है। संस्कृत में इसे इस प्रकार परिभाषित किया गया है–पशु भिन्नानाम, समापनाम, सभा सदानाम, समावेशा-समाज"। अर्थात एक लक्ष्य को निधारित कर आगे बढ़ने वाले मानवों का एक समूह।

कुल मिलाकर सृजन का अर्थ "समाज" से "समाजा" की यात्रा है। यही प्रगति है। जब एक झुंड एक समूह में तब्दील हो जाता है। समाज की सामूहिकता के कारण मिली बुद्धिमत्ता, स्वभाव व व्यवहार से वह मानव समाज का हिस्सा बन जाता है। उस समय वह व्यष्टि है। वह सोचता है कि मैं "संपूर्ण" का हिस्सा हूं और मैं दूसरों के लिए भी जीता हूं। आपका अस्तित्व स्वतंत्र नहीं है। मानव को दो ऐसे गुण मिले हैं जो पशुओं के पास नहीं हैं। एक है हंसना और दूसरा बोलना। आपको हंसने और बोलने के लिए सामने कोई चाहिए। अकेले ही कोई हंसता या बोलता नहीं है। इस प्रकार ईश्वर ने ये दोनों गुण मानव को समाज का अभिन्न अंग मानकर दिए है। वास्तव में मानव को व्यक्तिगत रूप से समाज के लिए ईश्वर ने बनाया है। तो इस प्रकार व्यष्टि को समष्टि में विकसित होना होगा। अगर ऐसा नहीं होता है तो आप ईश्वर द्वारा स्थापित उद्देश्य को पूरा नहीं कर रहे हैं। समष्टि पूरी सृष्टि है और व्यष्टि को अंततः समष्टि में विकसित होना है।

यहां पश्चिम से अलग दृष्टिकोण है। हमारे यहां अनवरत निरंतरता की अवधारणा है। जबकि पश्चिम में संकेंद्रित चक्र की अवधारणा है। वहां एक दूसरे के समानांतर वृत्त हैं पर केंद्र एक ही है। पर हमारे यहां संकेद्रीकरण न होकर एक घुमावदार प्रक्रिया है। वह केंद्र बिंदु से आरंभ होकर धीरे-धीरे विस्तृत अस्तित्व में परिवर्तित होती है और वृत्त को तोड़ती नहीं है। आपको पता नही चलता कि कहां व्यष्टि समाप्त हुई और समष्टि का आरंभ हुआ। यह अनवरत है, इसलिए वह प्रकृति में घुमावदार व लंबी है। तो इस प्रकार कुछ भी असंगत नहीं है। व्यक्ति का अस्तित्व उसके सामाजिक अस्तित्व से असंगत नहीं है; सामाजिक अस्तित्व, राष्ट्रीय अस्तित्व से असंगत नहीं है तथा राष्ट्रीय अस्तित्व, अंतरराष्ट्रीय अस्तित्व से असंगत नहीं है। इस प्रकार सभी स्तरों पर अस्तित्व अनवरत है। इसे ही व्यक्ति की चेतना का क्रमशः विस्तार कहते हैं। एक व्यक्ति से विकसित होकर विश्व मानव बनता है।

जब आप गांधी जी की आत्मकथा पढ़ते हैं तो उसमें उनके इंग्लैंड जाने का प्रकरण है। वह एक वैयक्तिक मानव थे जो आरंभ में कुछ अनैतिक कामों में भी लिप्त थे। पर बाद में उन्होंने अपने जीवन के साथ कुछ प्रयोग किए और अनुभव किया कि आरंभ में उन्होंने कुछ गलत कार्य किए, हालांकि उनके माता-पिता को इस बारे में पता नहीं था। उस समय वह एक व्यक्तिवादी मानव थे। बाद में भारत आकर वह सामाजिक कार्यों में जुड़ गए और सामाजिक व्यक्ति हो गए। बाल गंगाधर की रचनाओं को पढ़ने के बाद उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम के लिए स्वयं को समर्पित कर दिया और वह राष्ट्रीय मानव बन गए। बाद

में दुनिया के महान विचारकों ने उनके विचारों को स्वीकार किया और वह विश्व मानव के रूप में पहचाने जाने लगे। उनका शरीर वही था पर उन्होंने अपने को व्यक्तिवादी मानव से विश्व मानव में विकसित किया। यह नीचे से उपर जाने की सतत प्रक्रिया है। वास्तव में गीता में बताए गए विश्वरूप दर्शनम् का आंतरिक रहस्य यही है। जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण से अपना मौलिक रूप दिखाने को कहा तो श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा, अपनी वर्तमान चेतना के साथ तुम मेरा मौलिक रूप नहीं देख पाओगे; मैं तुम्हें एक विशिष्ट दृष्टि देता हूं। अर्जुन की व्यक्तिगत चेतना विश्व चेतना में परिवर्तित हो गई और उन्होंने श्रीकृष्ण में उस पूरे विश्व को देखा जो उनका मौलिक स्वरूप था। यह व्यक्तिगत चेतना के विश्व चेतना में विकसित होने के कारण हुआ।

हम जिस विचार की बात कर रहे हैं, यह उसके बारे में सत्य है। परिवर्तन सिर्फ शब्दावली का है। एक विशिष्ट समय पर व्यष्टि, समष्टि बन जाती है और समष्टि परमेष्टि और अंततः वह सृष्टि बन जाती है। इस प्रकार हर चीज का अंतर्संबंध है। जब हम वैदिक प्रार्थना में शांति की बात करते हैं तो पूरी सृष्टि की बात करते हैं। अंतर केवल चरणों का है, मूल भाव का नहीं।

धर्म

इन सभी पर उस परम शक्ति का नियंत्रण है जिसे हम "धर्म" कहते हैं। धर्म का अर्थ "रिलीजन" नहीं है। यह एक शाश्वत नियम है, यह प्रेरणा देने वाली शक्ति है। इसका स्वरूप कैसे बनता है? बृहदारण्यकोपनिषद में वे कहते हैं, वह परम आदिकालीन शक्ति अपना कई गुणा विस्तार-बहुस्याम– करना चाहती थी। इस प्रकार उनकी संख्या में वृद्धि हुई। इन "कईयों" को एक साथ जोड़कर रखने के लिए आदि शक्ति ने "धर्म" का निरूपण किया। इस प्रकार धर्म वह शक्ति है जो सबको जोड़कर एक साथ बनाए रखती है। सूर्य, चंद्रमा, पृथ्वी, मानव को वह अविभाज्य तथा असीमित शक्ति एक साथ बांधे रखती है। अगर एक चुंबक को कई टुकड़ों में तोड़ दें तो हर टुकड़ा चुंबक बन जाता है और प्रत्येक में दक्षिण व उत्तर ध्रुव का निर्माण होता है। उसकी शक्ति का अंत नहीं होता है। इसी प्रकार उस "एकमेव स्त्रोत" की शक्ति भी समाप्त नहीं होती है, वह सबमें प्रवेश कर जाती है। इसे ही धर्म कहते हैं। यह अग्नि में अग्नि धर्म बन कर और वायु में वायु धर्म बनकर उपस्थित है। वेदों में इसे ऋतम कहा गया है। पर बाद में दैनिक जीवन में धर्म केवल मानव के लिए था, बाकियों के लिए "ऋतम" था। दोनों का मतलब एक ही है। इसलिए जब धर्म का शासन होता है तो किसी बाहरी तत्व की आवश्यकता नहीं पड़ती है और इसे ही धर्मराज कहा जाता है। धर्मराज परम राज है।

धर्म कैसे राज करता है? यहां कोई बाहरी शक्ति नहीं चाहिए। हर व्यष्टि अपने आप में पूरी तरह से विकसित है और वह समष्टि के एक लघु अंग की तरह व्यवहार करता है। यही बात समष्टि व सृष्टि पर भी लागू होती है। यहां किसी मानव चालित व्यवस्था की आवश्यता नहीं होती है। ऐसे ही राज के बारे में भीष्म

ने युधिष्ठिर से कहा, "ऐसे युग में कोई राजा नहीं था, इसलिए कोई प्रजा नहीं थी। न कोई दंड देने वाला था न दंड पाने वाला क्योंकि कोई नियमों का उल्लंघन करने वाला नहीं था। प्रत्येक व्यक्ति स्वयंचालित, सुसंस्कृत और एक विराट व्यक्तित्व का अंग था। वह वैश्विक नैतिकता के नियमों के आधार पर, जिसे हम धर्म कहते हैं, पूरे विश्व के साथ समन्वय में जीवन जीता था।

ऐसे राज्य का वर्णन छांदोग्य उपनिषद् में भी किया गया है। इस राज्य में सुवर्ग अर्थात सुसंस्कृत नागरिकों का वास है। उस राज्य का राजा प्रश्न करने वाले ऋषि को बताता है, "हे महान आत्मा, मैं आपसे निवेदन करना चाहता हूं कि मेरे राज्य में कोई चोर, शोषक अथवा मद्यप नहीं है। कोई ऐसा नहीं है जिसको कर्तव्यबोध न हो। कोई ऐसा नहीं है जिसे परम ज्ञान न मिला हो। व्यभिचार यहां पूरी तरह से अनुपस्थित है।

यही है धर्मराज का स्वरूप। यह कोई जबरन लादा गया हिंदू धर्मतंत्र नहीं है जैसा कि अक्सर धर्मनिरपेक्षता का राग अलापने वाले बताते हैं।

मुझे लगता है कि यहां मुझे अपनी वाणी को विराम देना चाहिए। मैने एकात्म मानवदर्शन की कुछ मूल अवधारणाओं के बारे में चर्चा की है। मैं यह दावा नहीं कर रहा हूं कि मैं इन सभी विषयों के साथ पूर्ण न्याय कर पाया हूं। पर मेरा विनम्र निवेदन है कि हम सभी को मिलकर इस विषय को विकसित करने के प्रयास करने चाहिए ताकि हम राष्ट्र की इस नाव को भारत की चित्ति के साथ जोड़ सकें।

❖❖❖

1992 में दीनदयाल शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित संकलन में एकात्म मानवदर्शन के अप्रतिम व्याख्याता श्री रंगा हरि का मूल लेख

अटूट अबाध क्रमः एकात्म मानवदर्शन

– के.एस. सुदर्शन–तत्कालीन सह सरकार्यवाह, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

'स्व यं के जीवनयापन के लिए अर्जन करना प्रकृति है; अपने जीवनयापन के लिए दूसरों से छीनना विकृति है; लेकिन दूसरों के जीवनयापन के लिए स्वयं अर्जन करना संस्कृति है'-यह उक्ति दीनदयाल जी के विचारों के मूल भाव को व्यक्त करती है। लेकिन दूसरों के लिए कुछ करने की भावना दूसरों के साथ एकात्मता से ही पैदा हो सकती है। इस भाव की अनुपस्थिति में दूसरों के लिए कुछ करने की प्रेरणा का अभाव ही रहेगा।

पश्चिमी आत्म मुग्धता

हम सभी जानते हैं कि पश्चिम व अमेरिका के विचार में केवल अपनी पीढ़ी के लिए सोचने को स्वाभाविक माना जाता है। पश्चिम में व्यक्ति अगली पीढ़ी के प्रति अपना कोई कर्तव्य नहीं मानता है क्योंकि उससे पिछली पीढ़ी में भी यही भाव था। पश्चिमी अभिभावक संतान नहीं चाहते हैं, उनके लिए बच्चे एक ऐसे अनचाहे उत्पाद हैं, जो एक दूसरे के साथ आनंदपूर्वक समय बिताने के परिणामस्वरूप अनचाहे ही उत्पन्न होते हैं। इन अनचाहे उत्पादों के रूप में पैदा हुई संतानों की संतानें भी अनचाहे उत्पादों की भांति ही होती हैं। इसलिए यह स्वाभाविक है कि कोई भी पीढ़ी दूसरी पीढ़ी के लिए जिम्मेदारी का अनुभव नहीं करती है। मूल रूप से अहंकार-केंद्रित अमेरिकी जीवनशैली इसी विचार का परिणाम है,

जिसमें व्यक्ति को सिर्फ अपने भले की चिंता होती है। इसीलिए अमेरिकी व्यवस्था में कम आयु से ही पैसे को सफलता का पैमाना मानकर किसी व्यक्ति की योग्यता तय की जाती है। बच्चों से उम्मीद की जाती है कि 16 वर्ष की आयु के बाद आत्मनिर्भर हो जाएं, ताकि अपने अभिभावकों पर वे बोझ न बनें। इससे बच्चों और अभिभावकों के बीच स्नेह संबंध कमज़ोर हो जाते हैं और बहुत जल्द ही बच्चे अपने माता-पिता को छोड़कर अपने परिवार की शुरूआत करते हैं।

भारतीय विचार

इस प्रकार के विचार से हम अपरिचित रहे हैं। हमने जीवन को एक सतत क्रम माना है। हम अपनी पिछली तीन पीढ़ियों के लिए अपने को जिम्मेदार मानते हैं और हमारा विश्वास है कि हमारे क्रियाकलापों का प्रभाव अगली तीन पीढ़ियों पर पड़ेगा। इसलिए उनके प्रति हममें कर्तव्यबोध रहता है। इसलिए हम सात पीढ़ियों की चिंता करते हैं, तीन पिछली, तीन अगली और एक वर्तमान पीढ़ी। हम अपने पूर्वजों को श्रद्धा से याद करते हैं और आने वाली पीढ़ियों के कल्याण के लिए प्रार्थना करते हैं। जीवन अपनी संपूर्णता में एक अटूट निर्बाध क्रम है। हमारे अस्तित्व का कारण भूतकाल में तथा भविष्य में पड़ने वाले हमारे प्रभावों में है। इस बात का अहसास कि यह कारण हमारे जीवन को प्रभावित करता है हममें कर्तव्यबोध जगाता है। हम केवल एक परिवार का ही अंग नहीं हैं। एक समाज का हिस्सा होने के कारण हम मानतें हैं कि जिसने भी इसकी सेवा की है,वे हमारे पूर्वज हैं। इसीलिए हम अपने पूर्वजों की परंपरा में राम, कृष्ण व विक्रमादित्य को एक महत्वपूर्ण कड़ी मानते हैं। हमारे पूर्वजों की परंपरा पीढ़ी दर पीढ़ी बिना किसी विग्रह के हमें विरासत में मिली है। हम अपने पूर्वजों के प्रेरणादायक आदर्शों को समसामयिक आवश्यकताओं के अनुरूप ढालकर अपने भविष्य की दिशा भी तय करते हैं।

समय का अबाध गतिक्रम

राष्ट्रीय संदर्भ में भी हम अपने भूतकाल, वर्तमान और भविष्य के बारे में इसी संपूर्णता से सभी आयामों में सोचते हैं। ऋषि अरविंद ने कहा है कि पूर्वकाल को लेकर गर्व, वर्तमान के बारे में चिंता तथा भविष्य के बारे में स्वप्नदर्शी होने से ही किसी समाज की प्रगति होती है। दीनदयाल जी ने यह विचार एक संगठित स्वरूप में एकात्म मानवदर्शन के रूप में दिया है। उन्होंने कहा कि यह सृष्टि उसी संपूर्णता की अभिव्यक्ति अथवा विस्तार है। इसीलिए आत्मा और परमात्मा, सीमित और असीमित, अविभाज्य, परस्पर निर्भर तथा एकात्म हैं। हम अज्ञान और माया के कारण इस असीमित, शाश्वत तथा एकात्म संपूर्ण का अनुभव नहीं कर पाते हैं। व्यक्ति केवल अपने परिवार को ही अपना विस्तार मानता है। वह अपने व्यक्तिगत हितों से उपर उठकर सभी प्रकार की कठिनाईयों का सामना करता है ताकि उसके परिवार के सदस्यों-माता, पिता, बहन, पत्नी, बेटी, बेटा-इत्यादि को खुशी मिल सके।

व्यक्ति से समाज तक

लेकिन दूसरों के साथ एकात्मता का सिद्धांत केवल परिवार पर आकर ही नहीं रूक जाना चाहिए क्योंकि परिवार भी अंततः समाज का एक हिस्सा है। मैं अपने परिवार के पालन-पोषण के लिए जो भी करता हूं, पर मैं समाज का हिस्सा हूं। इसलिए मेरा उस समाज के प्रति दायित्व है, जो मुझे और मेरे परिवार को बनाए रखने में सहायक है। अगर मैं समाज के लिए चिंता करूंगा तो समाज भी बदले में मेरी चिंता करेगा। इसी प्रकार समाज भी मानवता का एक अंग है। इसलिए सभी समाजों को मानवता के कल्याण के लिए काम करना चाहिए। मानवता स्वयं प्रकृति का एक हिस्सा है। प्रकृति मानव के पोषण व सुरक्षा के लिए सभी कुछ प्रदान करती है। प्रकृति स्वयं ईश्वर का हिस्सा है। इस प्रकार हम सभी उस परम पिता परमात्मा से एकात्म हैं। हिंदू विचार अर्थात भारतीय विचार का यही मूल है। दीनदयाल जी ने इसी नाम को एकात्म मानवदर्शन का नाम दिया।

इस सृष्टि में सभी चीजें एक दूसरे के साथ अटूट रूप से संबद्ध हैं। पूरी दुनिया में कहीं भी कुछ हो उससे विश्व प्रभावित होता है। सृष्टि में इन परस्पर संबंधों की अज्ञानता के कारण हम गलतियां करते हैं, प्रकृति का निर्दयता से शोषण करते हैं, उसे नष्ट करते हैं और फिर प्रकृति के कोप का भाजन बनते हैं। मानव द्वारा प्रकृति को अंधाधुंध नुकसान पहुंचाने की प्रतिक्रिया में प्रकृति के भयावह विद्रोह से मानव के इस ग्रह पर अस्तित्व पर प्रश्नचिन्ह लग गया है। यह स्थिति इसलिए आ गई है क्योंकि पश्चिम की विध्वंसात्मक सोच में एकात्मता का भाव नहीं है। विश्व समाज के कल्याण के लिए हमें बहुआयामी एकात्म मानवदर्शन पर लौटना होगा। दीनदयाल जी का एकात्म मानवदर्शन हमें यह समग्र समाधान उपलब्ध करवाता है। उन्होंने मानव से लेकर ईश्वर तक के विकासक्रम का दर्शन दिया। उन्होंने कहा कि मानव-शरीर, मन, बुद्धि व आत्मा के संयोग से बना है। और ये चारों तत्व केवल मानव में ही नहीं बल्कि हर संस्था में होने चाहिए। राष्ट्र की अवधारणा में भी ये चारों तत्व समाहित हैं-भौगोलिक क्षेत्र व उसके निवासी शरीर हैं; राष्ट्र का अंग होने की भावना से राष्ट्रीयता का भाव जगता है। यह राष्ट्र का मन है। राष्ट्रीयता के मूल में एक पूर्वज, परंपरा व संस्कृति का भाव है; देश का काम-काज चलाने के लिए हम जिन कानूनों व संविधान का निर्माण करते हैं, वह राष्ट्र की बुद्धि है; राष्ट्र के उद्देश्यों को अभिव्यक्ति देने वाली चित्ति उसकी आत्मा है।

स्वामी विवेकानंद का कहना था राष्ट्र कुछ निश्चित उद्देश्यों को लेकर अस्तित्व में आते हैं। राष्ट्र तब तक अस्तित्व में रहते हैं जब तक उन्हें ये उद्देश्य याद रहते हैं और वे उन्हें प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। जब वे अपने अस्तित्व में आने का कारण भूल जाते हैं तो उनका अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है।

एक ऐसी व्यवस्था जो चारों तत्वों-शरीर, मन बुद्धि व आत्मा-के लिए काम करती है तथा मानव, समाज, प्रकृति व ईश्वर के बीच एक सामंजस्यपूर्ण सहजीवन स्थापित करती है, वही व्यवस्था मानव

समाज के लिए सबसे लाभदायक है। हमारी प्राचीन हिंदू व्यवस्था और उसकी संस्थाओं ने ऐसा ही सहजीवन निर्माण करने का प्रयास किया। लेकिन ब्रिटिश राज ने हमारी इन सभी संस्थाओं को तार-तार कर दिया। उन्होंने अपनी संस्थाओं को हम पर थोपा, जिसका हमारी सोच से दूर दर तक कोई संबंध नहीं था। इसी से हमारे जीवन में सब प्रकार का असंतुलन व विरोधाभास आ गए। हम आगे बढ़ने के लिए उत्साहित महसूस नहीं करते हैं। दीनदयाल जी कहते थे कि हमारी सभी संस्थाएं हमारे जीवन उद्देश्यों के अनुरूप तथा एकात्म होनी चाहिए। इसी आधारभूत दर्शन के संदर्भ में हमने दूसरों के हित के लिए अर्जन को आधार देने वाली संस्कृति को एकात्म संस्कृति कहा।

❖❖❖

1992 में दीनदयाल शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित संकलन में मूल लेख

गांधी व दीनदयाल : दो ऋषि

– डॉ. वाल्टर के. एंडरसन
अमेरिकी विद्वान एवं "Brotherhood in Saffron" के लेखक

1920 के दशक में मोहनदास गांधी भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में एक कद्दावर नेता के रूप में उभरे। तभी से उनका जीवन, उनके विचार और कार्यक्रम एक ऐसी कसौटी बन चुके हैं जिस पर सभी भारतीय राजनीतिक व सामाजिक शख्सियतों को कसा जाता है। जनता पार्टी की विजय के बाद से ही गांधी में लोगों की रुचि एक बार फिर जाग उठी है। इस पार्टी के कई नेता इसकी वैचारिक जड़ों के मूल में गांधी जी की भूमिका मानते हैं। इसके साथ ही दीनदयाल उपाध्याय जी के जीवन में भी लोगों की रुचि जाग रही है। अब तक उनके बारे में जनसंघ के बाहर कम ही जानकारी थी।

बौद्धिक व वैचारिक दृष्टि से इन दोनों व्यक्तित्वों की आपस में तुलना बड़ी स्वाभाविक है। लेकिन इस दिशा में काम करने में कई चुनौतियां हैं। दोनों ने अलग-अलग राजनीतिक वातावरण में काम किया; दोनों की सामाजिक पृष्ठभमि अलग थी; दोनों के त्वरित राजनीतिक उद्देश्य भी एक जैसे नहीं थे। इस संदर्भ में सबसे बड़ी चुनौती है दीनदयाल जी के बारे में बहुत सीमित मात्रा में सामग्री उपलब्ध होना। गांधी जी जहां सार्वजनिक जीवन में हर जगह दिखते थे, इसके विपरीत दीनदयाल जी पृष्ठभूमि में सार्वजनिक जीवन की चकाचौंध से दूर चुपचाप काम करने के आदी थे। उनके जीवन और विचारों पर प्रकाशित ग्रंथ

अभी भी बहुत कम पृष्ठों का है। भारत में अब इस दिशा में शोध हो रहा है और ऐसा लगता है कि जल्द ही हमें उनके द्वारा भारत के राजनीतिक व सामाजिक विचार में किए गए योगदान के बारे में पर्याप्त जानकारी मिलेगी। इसलिए गांधी व दीनदयाल जी की जो तुलना हम कर रहे हैं, वह आरंभिक चरण है और इस संबंध में और अधिक जानकारी सामने आने के बाद इसकी पुनसर्मीक्षा संभव है। उनके बारे में सबसे ज्यादा बेहतर तरीके से वही बता सकते हैं, जो उनके साथ काम कर रहे थे। उम्मीद करनी चाहिए कि ऐसे लोग उन लोगों के प्रयासों में योगदान देंगे जो उपाध्याय जी पर सामग्री एकत्र कर रहे हैं।

गांधी व उपाध्याय मूल रूप से संगठनकर्ता थे, दार्शनिक मामलों में उनकी अभिरुचि उसके बाद का विषय थी। परंपरागत परिभाषाओं के दायरे में देखा जाए तो दोनों को ही बुद्धिजीवी कहना संभव नहीं होगा, क्योंकि इस दायरे में बुद्धिजीवी कहलाने के लिए अभिजात्य, अकादमिक योग्यता व कई पुस्तकों के लेखन आदि का होना आवश्यक है। दोनों ने ही पूर्व नियोजित ढंग से नैतिकता और राजनीति पर कोई ग्रंथ नहीं लिखे, न ही इनमें से कोई दार्शनिक था, क्योंकि वे अमूर्त सिद्धांतों के निरूपण में रुचि नहीं रखते थे। मसलन गांधी ने सत्याग्रह पर शोध करने वाले एक शोधार्थी से कहा था, ''सत्याग्रह शोध का विषय नहीं है-तुम्हें इसका अनुभव करना चाहिए, इसे प्रयोग करना चाहिए, इसे जीना चाहिए।" (जोन बैंडुरान्ट, कॉन्क्वेस्ट ऑफ वायलेंस–पृष्ठ 146)। मेरा मानना है कि ऐसी कई घटनाएं उपाध्याय के साथ भी हुई होंगी।

दोनों ही करिश्माई व्यक्तित्व के स्वामी थे। हालांकि गांधी का प्रभाव कहीं अधिक था क्योंकि लोग उन्हें संत भले न मानते हों, पर संत जैसा जरूर मानते थे। उनके सात्विक जीवन ने कईयों को इस बात के लिए प्रभावित किया कि लोग जिन आदर्शों पर चलना बहुत कम लोगों के लिए संभव है, उन पर गांधी चल सकते हैं। (मॉडरनिटी ऑफ ट्रेडिशन, पृष्ठ 2–लॉयड व सुज़ेंन रुडोल्फ)। गांधी ने सफलतापूर्वक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का रूपांतरण एक उच्च वर्ग के डिबेटिंग क्लब से ऐसे संगठन के रूप में किया, जिसकी गतिविधियां देश के हर नागरिक को प्रभावित करने लगीं। उनकी सांगठनिक क्षमता तथा महात्मा के रूप में करिश्माई अपील ने कांग्रेस का रूपांतरण स्वतंत्रता संग्राम में प्रभावी भूमिका निभाने वाले संगठन के रूप में किया।

उपाध्याय में भी महात्माओं जैसे गुण थे। उन्होंने अपने परिवार और पेशे को छोड़कर मातृभूमि की सेवा करने का निर्णय लिया। उनकी जीवन शैली अत्यंत सादगीपूर्ण थी और नैतिक मूल्यों का पालन करने के मानक अत्यंत उच्च स्तर के थे। इन्हीं गुणों की वजह से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संयुक्त प्रांत के स्वयंसेवक उन्हें अत्यंत आदरभाव से देखते थे। उन्होंने 1942 से 1951 तक संयुक्त प्रांत में प्रचारक के तौर पर काम किया। बाद में जिसे उत्तर प्रदेश का नाम दिया गया उस संयुक्त प्रांत में उन्होंने सह प्रांत

प्रचारक के दायित्व का भी निर्वाह किया। भारतीय जनसंघ में भी कार्यकताओं में उनके प्रति ऐसा ही आदरभाव था। भारतीय जनसंघ के 1951 में निर्माण के बाद वह 1952 से 1967 तक पार्टी के महासचिव रहे। अपनी असमय मृत्यु से पहले जनसंघ के संस्थापक व इसके पहले राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने कहा था कि अगर उनके पास दीनदयाल जी जैसे कुछ और लोग हो जाएं, तो वे पूरे भारत को बदल सकते हैं। उपाध्याय ने निश्चित रूप से जनसंघ का रूपांतरण कर दिया। उन्होंने डॉ. मुखर्जी की मृत्यु के बाद 1953 के मध्य में पार्टी की कमान संभाली। उस समय ये सवाल भी उठ रहे थे कि इतने बड़े कद के नेता के चले जाने के बाद क्या यह नई पार्टी अपना अस्तित्व बचा पाएगी। कुछ समय के लिए पार्टी की कार्यकारिणी पर प्रभुत्व स्थापित करने को लेकर संघर्ष भी हुआ और कार्यक्रमों को लेकर कुछ भ्रम की स्थिति भी बनी रही। पर दीनदयाल जी ने स्थिति को संभालते हुए पार्टी में अनुशासन स्थापित किया, भागीदारी को व्यापक बनाया, एक प्रतिबद्ध काडर का निर्माण किया और ऐसे कार्यक्रमों की संरचना की जिससे पैसे, प्रभुत्व तथा सामाजिक स्थिति के पैमाने पर बहुत ज्यादा बड़ा स्थान न रखने वाले लोग भी जुड़ने की रुचि दिखाएं।

उनके जीवनकाल में चंद लोगों ने पार्टी को भले ही छोड़ा हो, पर कुल मिलाकर जनसंघ एकमात्र ऐसा प्रमुख भारतीय राजनीतिक दल था, जिसमें कभी टूट नहीं हुई। इससे पता चलता है कि उन्होंने कितना मजबूत संगठन खड़ा किया, लेकिन इसके साथ ही यह भी सच है कि उन्हें कभी महात्मा का दर्जा नहीं मिला। ऐसा वह चाहते भी नहीं थे। वह सार्वजनिक जीवन में प्रसिद्धि से दूर रहने का प्रयास करते थे। यहां तक कि 1940 के उत्तरार्ध में लखनऊ से पांचजन्य का संपादन करते हुए वह अक्सर लेखों पर अपना नाम भी नहीं देते थे। संघ के संस्कार के अनुरूप उन्हें लगता था कि व्यक्तिगत प्रचार से अपने लक्ष्य का नुकसान होगा। यह लक्ष्य था विभाजित भारतीय समाज को संगठित करने का। इस आंतरिक विभाजन ने ही भारत को बाहरी शक्तियों के सम्मुख कमजोर कर दिया और आर्थिक व सांस्कृतिक पुनरुद्धार के लिए लोग बलिदान करने को तैयार नहीं थे।

गांधी जी की तरह परंपरागत संदर्भों में उपाध्याय धार्मिक व्यक्ति नहीं थे। उनके निर्णय और काम काज धार्मिक कारणों से नहीं तय होते थे, लेकिन गांधी की तरह वह भी पश्चिम के इस विचार से सहमत नहीं थे, जो मैकियावेली के बाद आया कि राजनीतिक व धार्मिक आदर्शों को एक दूसरे से अलग रखना चाहिए। गांधी और उपाध्याय दोनों ने राजनीति व धर्म को एक साथ लाने के लिए कर्मयोग के सिद्धांत का सहारा लिया। उनका मानना था कि 'अर्थ' व 'काम' को सही दिशा देने का काम धर्म ही कर सकता है।

लेकिन धर्म को लेकर दोनों की सोच काफी अलग भी थी। गांधी का जोर सत्य की खोज में उन

नैतिक मूल्यों पर था जिससे व्यक्ति का व्यवहार तय होता है। उनकी एक बहुचर्चित टिप्पणी है, ''मैं ऐसे किसी भी आदेश को अस्वीकार कर दूंगा जो तर्कसंगत नहीं है अथवा मेरे मन को स्वीकार नहीं है।'' व्यक्तिगत प्रयासों पर गांधी ने इतना बल दिया कि कई लोगों का मानना है कि वे सामाजिक अराजकतावादी नहीं तो कम से कम नैतिक अराजकतावादी हैं। मसलन उन्होंने यंग इंडिया में मार्च, 1931 में लिखा, ''भारत के लिए आजादी तब तक नहीं है, जब तक शीर्ष पर बैठा एक व्यक्ति, भले ही वह कितनी उंचाई पर हो, लाखों भारतीयों की धन संपदा, जीवन और सम्मान को अपने हाथों में लिए बैठा है। यह एक कृत्रिम, अप्राकृतिक व असभ्य संस्था है।'' गांधी अराजकतावादी नहीं थे, क्योंकि वे वेदांत के इस सिद्धांत को स्वीकार करते थे कि कहीं एक ऐसा सत्य है, जो सभी के लिए संभावनाओं के द्वार खोलता है। इसके अलावा वह पंचायत तथा वर्ण व्यवस्था जैसी परंपरागत संस्थाओं का सम्मान करते थे, जो सामाजिक जिम्मेदारियां तय करती हैं।

दूसरी ओर उपाध्याय का मत था कि धर्म की आवाज़ पूरे देश की सामूहिक बुद्धिमता का परिणाम है, लेकिन वह इस बात से आशंकित भी थे कि ज्यादातर लोग धर्म के नियमों को ठीक से नहीं समझ पाएंगे।

''लेकिन लोग भी सार्वभौमिक नहीं हैं, क्योंकि लोगों को धर्म के खिलाफ जाने का अधिकार नहीं है (इंटीग्रल ह्यूमेनिस्म, पृष्ठ-56)।' 'उन्होंने आगे कहा, ''बहुमत के द्वारा सत्य का निर्णय नहीं हो सकता है; सरकार क्या करेगी, इसका निर्णय धर्म के द्वारा होगा (पृष्ठ-58)।' 'उन्होंने यह नहीं बताया कि धर्म की वैधानिक व्याख्या कौन करेगा। उनके लेखन से यह निष्कर्ष निकालना गलत नहीं होगा कि धर्म के निकटतम जो व्यवस्था उन्हें लगती थी, वह संभवतः लोकतांत्रिक व्यवस्था थी, क्योंकि इसी व्यवस्था के अंतर्गत यह प्रावधान है, जिसमें राष्ट्र को समर्पित असंलग्न व्यक्ति देशहित के प्रयासों तथा जनमत को सही दिशा प्रदान करने का प्रयास करते हैं।

उनके विचारों के केंद्र में 'राष्ट्र' है और उसका आधार उनकी यह धारणा है कि उसकी एक आत्मा (चित्ति) है। इसका स्वरूप एक तय भौगोलिक सीमा में घटित अनुभवों और एक वृहद् आदर्श की प्रेरणा से तय हुआ है (इंटीग्रल ह्यूमेनिस्म, पृष्ठ 36-37)। राष्ट्र की विवेचना करते समय उन्होंने राष्ट्र की तुलना एक जीवित प्राणी, विशेष रूप से मानव शरीर से की है, जिसमें हर अंग अपना काम करता है, लेकिन वह एक व्यापक संपूर्णता का अंग है।

''मानव के लिए शांति व आनंद सुनिश्चित करना है तो एक ऐसी व्यवस्था की आवश्यकता है, जो मानव समाज के लिए एक दूसरे के पूरक आदर्शों की पहचान कर सके, जो आपस में एक दूसरे के साथ तारतम्य में हैं, जो ऐसे नियम बनाती है जिससे असामंजस्य दूर होता है तथा परस्पर उपयोगिता व सहयोग

में वृद्धि होती है (इंटीग्रल ह्यूमेनिस्म, पृष्ठ-39)।''

उनका मानना है कि राष्ट्र की इस जीवंत अवधारणा ने ही विभिन्न कालखंडों से होते हुए भारतीय राष्ट्र के अस्तित्व को बचाए रखा है। राजनीतिक दर्शन को उनका यह एक अद्वितीय योगदान है। तत्कालीन सत्ताधारी अभिजात्य वर्ग के साथ उनका यही मतभेद था कि वे समाज को पश्चिम की अवधारणा के आधार पर देख रहे हैं और इस प्रक्रिया में भारतीय सभ्यता को अस्तित्वमान रखने वाली आंतरिक एकात्मता की उपेक्षा कर रहे हैं। गांधी की तुलना में परंपरागत संस्थाओं को लेकर उनकी प्रतिबद्धता बहुत कम थी। उनके लेखन में कई जगह जाति व्यवस्था की कड़ी आलोचना की गई है। उनके विचार में किसी भी संस्था की उपयोगिता जब सबको एक साथ जोड़कर रखने की दृष्टि से समाप्त हो जाती है तो उनकी पुनः समीक्षा करनी चाहिए या उन्हें पूरी तरह से छोड़ देना चाहिए। इसलिए आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि रूढ़िवादी हिंदुओं का एक वर्ग भारतीय जनसंघ का कटु आलोचक था।

गांधी का राजनीतिक लक्ष्य 'स्वराज' था। पर उनके लिए स्वराज का मतलब मात्र ब्रिटिश राज से आजादी नहीं था। उनके लिए स्वराज का अर्थ था ऊपर से लेकर नीचे ग्राम स्तर तक आत्मनिर्भरता। आत्मनिर्भरता की यह भावना एक ठोस कार्यक्रम 'स्वराज' के रूप में राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के केंद्र में थी। उस समय स्वराज का प्रतीक खादी का प्रचार-प्रसार था। स्वदेशी केवल एक कपड़े के प्रचार-प्रसार से नहीं जुड़ा था, बल्कि इसका एक महत्वपूर्ण वैचारिक पक्ष था। यह गांधी की ओर से उस केंद्रीकृत औद्योगिकीकरण व शहरीकरण के विरोध का प्रतीक था, जिसमें कामगार की दुर्गति हो रही थी। (1909 की अपनी रचना हिंद स्वराज में उन्होंने आधुनिकीकरण के इन परिणामों की कड़ी आलोचना की)। पश्चिम के भौतिकतावाद की उनकी आलोचना के कारण वह स्वयं शासित ग्रामीण समुदायों व निम्न स्तरीय प्रौद्योगिकी पर आधारित उत्पादन प्रक्रिया के समर्थन में थे।

उपाध्याय के लेखन में भी गांधी की तरह पश्चिम के विकास मॉडल की कड़ी आलोचना है। पूना में 1964 में उन्होंने एक व्याख्यानमाला में एकात्म मानवदर्शन पर अपने विचार रखते हुए पूंजीवाद व समाजवाद दोनों की आलोचना की थी। बाद में इसी व्याख्यानमाला में रखे गए उनके विचार भारतीय जनसंघ की आधिकारिक विचारधारा बने। उनका मानना था, 'लोकतंत्र और पूंजीवाद आपस में हाथ मिलाकर निर्बाध शोषण को बढ़ावा देते हैं।' समाजवाद ने पूंजीवाद की जगह ली और इसके साथ ही लोकतंत्र व व्यक्तिगत स्वतंत्रता को समाप्त कर दिया (एकात्म मानवदर्शन पृष्ठ 10)।

उसके स्थान पर उन्होंने एक ऐसे मॉडल का प्रस्ताव दिया जो मानवीय जीवन के सभी पक्षों-''शरीर, मस्तिष्क, बुद्धि आत्मा''-पर ध्यान देता है। ''ये चारों पक्ष मिलकर एक व्यक्ति का निर्माण करते हैं।'' (पृष्ठ 24)। व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाए तो इसकी अभिव्यक्ति एक ऐसी विकेंद्रीकृत अर्थव्यवस्था व

राजनीतिक व्यवस्था के रूप में होगी जिसमें उत्पादन प्रक्रिया व स्वयं को शासित करने में नागरिकों को निर्णय लेने का अधिकार होगा। इस प्रचलित अवधारणा के अनुसार अर्थव्यवस्था व राजनीतिक सत्ता में आपसी संतुलन बना रहेगा। उनका मानना था कि सत्ता अथवा आर्थिक संसाधनों तक पहुंच में अंतर से वह सामंजस्य बिगड़ेगा, जो किसी अच्छे समाज के लिए आवश्यक है। वैसे उपाध्याय विज्ञान, प्रौद्योगिकी और यहां तक की शहरीकरण से भी कुछ न कुछ स्वीकार करने के लिए तैयार थे (पृष्ठ 8)। उनका मानना था कि इन चीजों को स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप ढाल लेना चाहिए, जिससे कि सामान्यजन की आर्थिक स्थिति बेहतर हो पाए। समाजों को इतना तो उत्पादन करना ही चाहिए जो नागरिकों के भोजन, वस्त्र, घर, शिक्षा व रोजगार के लिए पर्याप्त हो। इससे कम होने पर कटुता व संघर्ष बढ़ता है, जो सामाजिक जीवन के लिए ठीक नहीं है, लेकिन साथ ही उनका यह भी कहना था कि उपभोग निरंकुश होकर उपभोक्तावाद नहीं बन जाना चाहिए। (पृष्ठ 65)

''इससे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि हमारी आर्थिक व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य संसाधनों का सीमित इस्तेमाल होना चाहिए। एक उद्देश्यपूर्ण, प्रगतिशील व सुखी जीवन के लिए जो भी वस्तुएं प्राप्त करने की आवश्यकता है, उन्हें प्राप्त करना चाहिए। उस सर्वशक्तिमान ने इसके लिए प्रबंध किया है। लेकिन यह समझदारी भरा कदम नहीं होगा कि हम उत्पादन और उपभोग की एक अंधी दौड़ में शामिल हो जाएं, जिसमें आपका एकमात्र उद्देश्य ज्यादा से ज्यादा उपभोग करना हो।'' अंत में यह कहना होगा कि ये दोनों महानुभाव राजनीतिक सत्ता और सार्वजनिक जीवन जीने वालों पर उसके भ्रष्ट प्रभावों को लेकर आशंकित रहते थे। (उपाध्याय ने एक बार संसदीय चुनाव लड़ा था, जिसमें वह जीत नहीं पाए, पर मुझे पक्का विश्वास है कि यह सब उन्होंने बहुत उत्साह से नहीं किया होगा।) दूसरी ओर गांधी ने भारत के स्वतंत्र होने के कुछ समय बाद अपने निकट सहयोगियों से कहा था, ''हमें सत्ता छोड़कर मतदाताओं की निःस्वार्थ भाव से सेवा करनी चाहिए, हम उनका मार्गदर्शन कर सकते हैं और उन्हें प्रभावित कर सकते हैं। यह उस राजनीतिक शक्ति से कहीं ज्यादा प्रखर होगी जो हमें सरकार में जाने से मिलेगी...आज राजनीति भ्रष्ट हो चुकी है। जो कोई भी इसमें जाएगा, वह दूषित हो जाएगा। आईये हम खुद को इससे पूरी तरह बाहर रखें। इससे हमारा प्रभाव खुदबखुद बढ़ता जाएगा। (डी.जी. तेंदुलकर, महात्मा, खंड 8, पृष्ठ 278-280)।''

उनकी इस सलाह को कांग्रेस के उनके सहयोगियों ने अस्वीकार कर दिया। विडंबना है कि एक अन्य राजनीतिक दल से संबंध रखने वाले उपाध्याय उनके विचारों से सहमत दिखते हैं। उपाध्याय ने लिखा, ''आज राजनीति साधन नहीं रही, अब वह साध्य बन गई है। आज हमारे पास लोग है, जो सत्ता की राजनीति कर रहे हैं, बजाए इसके कि वे कुछ सामाजिक व राष्ट्रीय लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए

राजनीति करें (पोलिटिकल डायरी-पृष्ठ 115)।'' इसके बावजूद उनका मानना था कि निरपेक्ष भाव से काम करने वाले लोग राजनीति में चाहिए, जिससे कि जनमत को धर्म की राह पर ले जाया जा सके। परिणामस्वरूप उन्होंने उच्च नैतिक आदर्शों वाले व्यक्तियों को राजनीति में लाने पर विशेष बल दिया।

दोनों महानुभावों में कई अंतर होने के बावजूद अंततः एक बात पर सहमति थी कि अंतत राष्ट्र की स्थिति क्या होगी, यह इस बात से तय होगा कि समाज में व्यक्ति का चरित्र कैसा है। यह पश्चिम की उस समसामयिक विचारधारा से अलग है, जिसके अनुसार राष्ट्र का क्या स्वरूप होगा और उसकी नीतियां क्या होगी—यह विरोधाभासी ताकतों का टकराव तय करता है। इस मुद्दे पर गांधी व उपाध्याय के विचारों के गुण दोषों को छोड़ दें, तो भी यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों की गहन रूचि इस बात में थी कि किस प्रकार के लोग उनके आस-पास काम कर रहे हैं और उनके द्वारा संगठन निर्माण में इसी बात की मूलभूत भूमिका भी थी।

❖❖❖

1992 में दीनदयाल शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित संकलन में मूल लेख

हिंदुत्व : एक भू-सांस्कृतिक अवधारणा

– डॉ. मुरली मनोहर जोशी, प्रसिद्ध भौतिक शास्त्री

ऐतिहासिक रूप से यह कहना सही नहीं होगा कि 'हिंदू' शब्द हमारे पास 18वीं शताब्दी में आया। हिंदू शब्द की उत्पत्ति ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी से मानी जा सकती है। 'सिंधु' शब्द से 'हिंदू' शब्द की उत्पत्ति हुई इस का उल्लेख डेरियस के अभिलेखों में मिलता है, जो जरथुस्त्र की रचनाओं और नक्शे रूस्तम में हैं। अपने अभिलेख में डेरियस कहता है कि वह स्वयं को भाग्यशाली मानता है क्योंकि हिंदू (सिंधु नदी के आस-पास रहने वाले लोग) उसे कर देते हैं। जरथुस्त्र का कहना है कि हिंदुओं पर ईश्वर का आशीर्वाद है। हिंदू शब्द के अस्तित्व में आने का कारण फारसी में उच्चारण का अंतर था। फारसी में सिंधु का उच्चारण 'हिंदू' होता है। सप्ताह को हफ्ता कहते हैं, मास को फारसी में महीना कहते हैं। ह्वेन सांग ने सिंधु को 'शिंतू' कहा। मध्य पूर्व व जापान के लोग सिंधु का उच्चारण 'संतू' करते हैं। जब फारसी लोग

यूरोपीय लोगों के संपर्क में आए तो सिंधु का उच्चारण 'इंडू' हो गया जो अंततः 'इंडस' बन गया। इस्लाम के आगमन से पहले अरब समुदाय अपने गणित को 'हिंदसा' कहता था। इस प्रकार 'हिंदू' शब्द एक भौगालिक अवधारणा के रूप में आरंभ हुआ और शनैः -शनैः भू सांस्कृतिक अवधारणा में रूपांतरित हो गया। सिंधु के आस-पास रहने वाले लोगों का जीवन दर्शन, हिंदू जीवन दर्शन के रूप में विख्यात हुआ।

इंडोनेशिया में बहुसंख्यक आबादी मुस्लिम है। उनका धर्म इस्लाम है पर उनके देश को इंडोनेशिया अर्थात हिंदू एशिया कहा जाता है। इंडोनेशिया एक डच शब्द है। इसका अर्थ है कि पूजा में सोचने का ढंग इस्लामिक हो, तब भी जीवन दर्शन हिंदू रह सकता है। इसीलिए इंडोनेशिया के लोगों ने पूजा का ढंग(पंथ) बदला नाम नहीं। वे अपने देश को मुहम्मदी एशिया भी कह सकते थे। कुल मिलाकर मैं यही बताने का प्रयास कर रहा हूं कि हिंदुत्व एक भू-सांस्कृतिक अवधारणा है, जिसके प्रत्यक्ष दर्शन अफगानिस्तान से ईरान तक होते हैं। पाकिस्तान भी इसी अवधारणा का हिस्सा है। पाकिस्तान के टीवी सीरियल पश्चिम के नहीं, बल्कि हमारे जीवन मूल्यों को समाहित करते हैं। यही स्थिति बांग्लादेशी संगीत की भी है।

किसी भी अन्य देश के पास हिंदू दृष्टिकोण से इतर सांस्कृतिक दृष्टिकोण नहीं है। दीनदयाल जी ने हिंदू दृष्टिकोण को सांस्कृतिक दृष्टिकोण के रूप में स्थापित किया और इस मामले में उनके और गुरुजी के विचारों में कोई अंतर नहीं है।

विकेंद्रीकरण को लेकर भी दोनों के विचारों में कोई अंतर नहीं है। गुरुजी विकेंद्रीकरण के अत्यंत प्रबल समर्थक थे। उन्होंने समाज के एक ऐसे ढांचे की बात की, जिसका लगातार विस्तार होता रहे और व्यक्ति, परिवार, समुदाय, गांव, प्रांत, क्षेत्र, राज्य, राष्ट्र, मानव समाज और अंततः संपूर्ण ब्रह्मांड इसमें शामिल हो जाए। इसी विचार को दीनदयाल जी ने एकात्म मानवदर्शन के रूप में विकसित किया। इस विचार के मूल में विकेंद्रीकरण है, जिसमें अटूट संबंधों के दायरे के सतत विस्तार के बीच व्यक्ति का एक महत्वपूर्ण स्थान है। इस सीमाविहीन ढांचे में व्यक्ति की क्षमताओं का विकास होता है। गुरुजी का कहना था कि केंद्रीकरण, प्रकृति और प्राकृतिक नियमों के खिलाफ है फिर चाहे वह राज्य शक्ति का केंद्रीकरण हो अथवा सामाजिक व आर्थिक केंद्रीकरण।

महर्षि अरविंद ने कहा है कि धर्म अपरिमित व असीम है, इसलिए शाश्वत है। यह एकमात्र सनातन धर्म ही भारतीय राष्ट्रीयता है। सनातन धर्म, धर्म व हिंदुत्व में कोई विरोधाभास नहीं हैं। समस्या तब होती है, जब हम हिंदुत्व पर राजनीतिक या कोई और अर्थ थोपते हैं।

विदेशियों ने जिसे हिंदू कहा, वह मूलतः हिंदू जीवन-मूल्य थे और कुछ नहीं। अक्सर ऐसा होता है कि किसी व्यक्ति का असली नाम उन नामों से अलग होता है, जो लोग उसके लिए इस्तेमाल करते हैं। दूसरों द्वारा दिए गए नाम ज्यादा प्रचारित भी हो जाते हैं। हम हिंदुओं का परंपरागत स्वभाव है कि हम गुणों के माध्यम

से किसी चीज़ की पहचान करते हैं, न कि परिभाषाओं के माध्यम से। हिंदुत्व वह नाम है जिससे हमारी संस्कृति-जीवन जीने का ढंग, बाहरी सोच व उद्देश्य की पहचान होती है। सनातन धर्म, हिंदुत्व, एकात्म मानवदर्शन सभी पर्यायवाची हैं और इनमें कोई आपसी विरोधाभास नहीं है। पूरी दुनिया में हिंदू ही हैं जो मानते हैं कि राष्ट्र-राज्यों को बहुसंख्यक की मर्जी के आधार पर नहीं चलाया जाना चाहिए। बहुसंख्यक, अल्पसंख्यक, अल्पसंख्यकवाद–ये अवधारणाएं मूलतः हिंदू विचार के खिलाफ हैं। जो भी हिंदू जीवन दृष्टि रखता है वह हिंदू है। एक बौद्ध भी हिंदू है और वैष्णव भी, शैव, मुहम्मदिया, ईसाई, ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी, वेदांती और सांख्य दर्शन मानने वाले सभी हिंदू हैं। लोग हिंदू तथा मुस्लिम में विरोध देखते हैं, क्योंकि वे हिंदुत्व को समझते नहीं हैं। यह पश्चिमी विचारधारा का दुष्प्रभाव है कि हम पंथ और धर्म में अंतर नहीं कर पाते हैं। हमें इस गलती से बचना चाहिए। एकमात्र धर्म ही है जो इस समाज के सृजन का कारण है, मानव समाज के अस्तित्व तथा उस संपूर्ण शक्ति का आधार है।

❖❖❖

1992 में दीनदयाल शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित संकलन में मूल लेख

लेखक भारत के पूर्व मानव संसाधन मंत्री, भाजपा के पूर्व अध्यक्ष, व देश के जानेमाने चिंतक हैं।

दीनदयाल उपाध्याय की आर्थिक सोच

– डॉ. अमित कुमार मित्रा, अर्थशास्त्री

भारतीय जनसंघ जिसकी स्थापना के कुछ वर्षों बाद क्रियात्मक व वैचारिक दोनों स्तरों पर दीनदयाल उपाध्याय ने संगठन का नेतृत्व किया, पूंजीवाद को लेकर काफी आलोचनात्मक था। विदेशों में व देश के भीतर जो सामान्य अवधारणा है, उसके विपरीत मेरा मानना है कि एकात्म मानवदर्शन नामक उनकी पुस्तक में उन्होंने आधुनिक पूंजीवाद की आलोचना कर एक महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसके साथ ही दीनदयाल जी साम्यवाद के भी आलोचक थे जिसका उभार पूंजीवाद की प्रतिक्रिया के तौर पर हुआ।

कुशलता के लिए सहयोग

दीनदयाल जी एक गणितज्ञ थे। इसलिए नोबल पुरस्कार विजेता पॉल सैमुअल्सन, जो भौतिकशास्त्र के छात्र थे, की तरह ही उनके लिए भी नवशास्त्रीय अर्थशास्त्र (नियोक्लासिकल इकॉनामिक्स) को समझना आसान था। इसलिए दीनदयाल जी कई अन्य अर्थशास्त्रियों के मुकाबले विभेदक समीकरण (डिफरेंशियल ईक्वेशन्स) को कहीं ज्यादा बेहतर समझते थे। इसलिए सबसे पहला काम उन्होंने अर्थशास्त्र के महत्वपूर्ण सिद्धांत 'परेटो ओप्टिमेलिटी' (Pareto Optimality) से असहमति जारी करके किया। इस सिद्धांत के अनुसार अगर समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने लाभ के लिए आक्रामक हो

जाए, तो कुल मिलाकर समाज पहले से अधिक लाभदायक स्थिति में पहुंच जाता है। इस सिद्धांत का मूल आधार यह विचार है कि अगर हर व्यक्ति अपने लाभ को अधिकतम करने का प्रयास करे तो इससे समाज के समग्र लाभ में वृद्धि हो जाएगी। दीनदयाल उपाध्याय ने इस सिद्धांत को अस्वीकार करते हुए इस समस्या के समाधान हेतु सीमांत विश्लेषण (मार्जिनल एनेलिसिस) का उपयोग किया। इस संदर्भ में उनका योगदान इस विचार के माध्यम से था कि अगर व्यक्तियों में आपसी सहयोग हो तो कुशलता व संपदा दोनों में एक साथ वृद्धि हो सकती है।

वे हमेशा प्रकृति से जुड़े उदाहरण देते थे क्योंकि वे प्रकृतिवादी थे। उन्होंने सबसे पहला उदाहरण दिया पशुओं व पौधों के बीच के संबंध का। इसके साथ ही उन्होंने उदाहरण दिया मानव व उनके पर्यावरण के बीच के सहयोगात्मक संबंध का। उन्होंने कई बार उदाहरण सहित यह सिद्ध किया कि कुछ विरोधाभास सतही तौर पर दिख सकते हैं, पर जीवन के हर क्षेत्र का आधार सहयोग है और इसी से एक कुशल व प्रभावी व्यवस्था का निर्माण होता है। इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि दो अलग अलग इकाईयों के बीच प्रतिद्वंद्विता से ही उत्पादन में कुशलता बढ़ेगी। यह उनका दार्शनिक वैचारिक आधार था जिसको अंततः उन्होंने पूंजीवाद की आलोचना के रूप में विकसित किया।

युवा मार्क्स व दीनदयाल

दीनदयाल जी का अध्ययन करने पर एक दिलचस्प तथ्य और सामने आता है और वह है दीनदयाल जी व युवा मार्क्स में समानता। मार्क्स को लेकर चले विवादों के बीच 'दास कैपिटल' के लेखन से पूर्व के मार्क्स को विस्मृत कर दिया गया। युवा मार्क्स की सबसे बड़ी चिंता व्यक्ति का इस्तेमाल एक मशीन के पुर्जे की तरह होना था। व्यक्ति उन्नत मशीनों में छोटे कलपुर्जों के उत्पादन में लगा है, बिना यह जाने कि अंततः इस मशीन का अंतिम उत्पाद क्या है। यह उस कुम्हार के काम से बिल्कुल अलग है, जो चरणबद्ध तरीके से एक बर्तन तैयार करता है और ऐसा करने में उसे कुछ मानवीय संतोष भी मिलता है। मार्क्स के समय में कई जर्मन दार्शनिकों व अर्थशास्त्रियों के लिए यह चिंता का विषय था। मार्क्स उस समय पूंजीवाद के संदर्भ में प्रासंगिक इस समस्या से परिचित था। उसका कहना है, उत्पादन की प्रक्रिया केंद्रीकृत विशाल उद्योगों के माध्यम से क्रियान्वित होती है। पूंजी का निर्माण कर रहे कामगार के बलिदान को उचित मान्यता नहीं मिलती है। विकेंद्रीकरण से मजदूर को अधिशेष प्रबंधन यानी 'मैनेजमेंट ऑफ सरप्लस' यां पूंजी प्रबंधन में भागीदारी का अहसास होता है। पूंजीवाद के आरंभिक दौर में यूरोप में इसी बात को लेकर चिंता थी, जिसे दीनदयाल जी ने भारतीय संदर्भों में सटीक ढंग से रखा।

भारतीय प्रौद्योगिकी

पूंजीवाद या साम्यवाद में औद्योगिकीकरण को लेकर एक बड़ी चिंता पारिस्थितिक संतुलन की भी है। आज यह बिंदु बड़ा प्रासंगिक हो गया है पर साठ के दशक में इसकी गिनती प्रमुख समस्याओं में नहीं

होती थी। दीनदयाल जी के लेखन में और खासकर एकात्म मानवदर्शन से जुड़े लेखन में हम उन्हें बार बार नवीकरणीय बनाम गैर नवीकरणीय संसाधनों की चर्चा करते देखते हैं। दीनदयाल जी का मानना था कि पूंजीवाद या साम्यवाद से अलग हट कर हमें पारिस्थितिकी संतुलन के बारे में सोचना चाहिए। भारतीय आर्थिक प्रणाली के बारे में बात करते हुए उन्होंने भारतीय प्रौद्योगिकी की बात की, जिसे महात्मा गांधी ने स्वदेशी प्रौद्योगिकी कहा था। क्या है स्वदेशी प्रौद्योगिकी?

किसी भी अर्थशास्त्री के लिए यह स्पष्ट है कि अगर किसी अर्थव्यवस्था में मानव संसाधन अधिक हैं तथा पूंजी की कमी है ऐसे में समाज द्वारा पूंजी को बचाने वाली तथा श्रम का अधिक इस्तेमाल करने वाली अर्थात श्रम-गहन या श्रम केंद्रित प्रौद्योगिकी का उपयोग किया जाए। लेकिन उस दौर में सोवियत संघ के प्रभाव तथा अमेरिकी विशेषज्ञों की सलाह मानकर तत्कालीन सरकार ने इसके बिल्कुल विपरीत कदम उठाए। हमारी सोच यह थी कि पूंजी को बढ़ाया जाए, क्योंकि श्रम की उत्पादकता पूंजी पर निर्भर करती है। इसलिए महलनोबिस के नेतृत्व में तथा जवाहरलाल नेहरू के मार्गदर्शन में हमने पूंजी का अधिक इस्तेमाल करने वाली प्रौद्योगिकी को चुना। इसका परिणाम भारी बेरोज़गारी के रूप में सामने आया। अपने विस्तृत लेखन में दीनदयाल जी ने बार-बार इस पक्ष की चर्चा की है।

मानव मूल में है मशीन नहीं

दीनदयाल जी के लिए विकेंद्रीकरण प्रौद्योगिकी के चयन से जुड़ी चिंताओं पर आधारित था। इतिहास गवाह है कि केंद्रीकृत करते ही व्यवस्था पूंजी सघन, श्रम का कम इस्तेमाल करने वाली, स्वचालित व कंप्यूटरीकृत हो जाती है। मानव मात्र का पूरा अवमूल्यन हो जाता है। इसीलिए उनके एकात्म मानवदर्शन में मूल आधार मानव है। वह बार बार कहते हैं कि मशीन मानव की प्रतिद्वंद्वी नहीं, बल्कि उसकी सहायक है। पूंजीवादी विचार के साथ समस्या यह है कि मशीन को मानव का प्रतिद्वंद्वी बनाकर मानव को भूख से मरने के लिए छोड़ दिया जाता है। अंततः इससे मशीन बनाने का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। इसमें गलती मशीन की नहीं, बल्कि उस आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था की है जो साध्य व साधन में अंतर नहीं कर पाती। दीनदयाल जी का कहना था, 'हमारी मशीन इस प्रकार की होनी चाहिए कि हमारी विशिष्ट आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी कर सके तथा सामाजिक-आर्थिक व सांस्कृतिक लक्ष्यों से उसका विरोधाभास न्यूनतम हो।' दीनदयाल जी ने महात्मा गांधी सहित कई भारतीय विद्वानों की सोच को अपने में समाहित करते हुए न केवल समाजवादी व्यवस्था की खामियों को बहुत जल्दी समझ लिया, बल्कि उन पर विस्तार से लेखन भी किया। पूंजीवाद पर उनका यह भी कहना था कि अधिशेष यानी 'सरप्लस' के बारे में निर्णय केवल मुट्ठी भर लोग लेते हैं। समाजवादी व्यवस्था में भी ये निर्णय प्रक्रिया ऐसे ही चलती है। यहां जो चुनिंदा लोग सारे फैसले लेते हैं, उन्हें मिलोवान दिलाजास ने अपनी चर्चित पुस्तक 'द न्यू क्लास (एक नया वर्ग)' में परिभाषित किया है। दीनदयाल जी की चिंता यह थी कि साम्यवाद में पार्टी

के मठाधीश उस अधिशेष का उपयोग या निवेश करने के निर्णय अपने स्तर पर ले लेते हैं जो मजदूर की मेहनत से पैदा हुआ है। तो इसलिए निर्णय एक ले रहा हो या दूसरा मूल व्यवस्था एक जैसी है। दोनों ही पूंजी आधारित प्रौद्योगिकी को वरीयता देते हैं। इसलिए बतौर अर्थशास्त्री साम्यवाद की उनकी आलोचना बड़ी स्पष्ट है।

अंतिम बिंदु जिसके बारे में कुछ कहना चाहता हूं-वह है रोजगार। दीनदयाल जी ने हमेशा किसी और की जगह मानव के इस्तेमाल पर चिंता व्यक्त की। उनके अनुसार अर्थव्यवस्था के ये लक्ष्य होने चाहिए-

1. प्रत्येक नागरिक के लिए जीवन स्तर का कम से कम एक न्यूनतम स्तर सुनिश्चित करना तथा राष्ट्र की सुरक्षा के लिए तैयारी। वे समाज से यह गारंटी हासिल करना चाहते हैं। आप इसे सरकार से गारंटी भी कह सकते हैं।
2. न्यूनतम जीवन स्तर से अधिक जो कुछ भी है उसे अपनी 'चित्ति' के आधार पर प्राप्त कर विश्व की प्रगति में योगदान देना।
3. हर सक्षम व्यक्ति को रोजगार देना ताकि उपर्युक्त लक्ष्य प्राप्त हो सके। ऐसा करते हुए प्राकृतिक संसाधनों का संयमित दोहन करना। हमारे पास मानव संसाधनों की बहुतायत है पर हम इनका उपयोग करने के बारे में नहीं सोचते हैं। हम क्यों व्यक्ति को ऐसी भारतीय मशीन विकसित करने में नहीं लगाते हैं, जो भारतीय वातावरण के अनुकूल हो तथा भारतीय प्रौद्योगिकी पर आधारित हो।
4. इस व्यवस्था को मानव मात्र की उपेक्षा नहीं करना चाहिए बल्कि उसकी मदद करनी चाहिए। उसे हमारी संस्कृति व हमारे जीवन मूल्यों की भी रक्षा करनी चाहिए। यह अत्यंत आवश्यक है और इसकी उपेक्षा करना अपने सर्वनाश को आमंत्रण देना है।

दीनदयाल जी लगातार लंबे समय से चली आ रही व्यवस्था को बदलने की बात कर रहे थे। ऐसे में जिन लोगों के हित इस मौजूदा व्यवस्था के साथ जुड़े हुए थे उनका नाखुश होना स्वाभाविक है। वे कहते थे लोग कहने लगते हैं कि ऐसे बदलाव से तो हम एक हजार साल पीछे चले जाएंगे। मैं आपको उन्हीं शब्दों में बताना चाहता हूं जिन शब्दों में दीनदयाल जी ने कहा था, 'यह बेवकूफी की बात है जिसका प्रचार किया जा रहा है। नहीं, हम एक हजार वर्ष पीछे नहीं जाना चाहते हैं, यह शारीरिक रूप से संभव नहीं है।'

दीनदयाल जी का क्रांतिकारी उत्साह

यथास्थिति बनाए रखने के बारे में उनका कहना है, ''इसीलिए हमें यथास्थिति बनाए रखने की मानसिकता को हटाकर एक नए युग में प्रवेश करना होगा।'' यह मेरा लेखन नहीं है। यह उनके द्वारा एकात्म मानवदर्शन में कही गई बात है। निश्चित ही पुनर्निर्माण के हमारे प्रयासों पर इस आग्रह का प्रभाव

नहीं पड़ना चाहिए कि जो कुछ भी प्राचीन है उसे त्याग दो क्योंकि उसकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है। हमने इस बात पर विचार किया है कि बदलाव की दिशा क्या होनी चाहिए। मेरे विचार में तथा उन सबके विचार में जिन्होंने यह पुस्तक पढ़ी है, दीनदयाल जी एक क्रांतिकारी थे। वह उस तरह के क्रांतिकारी नहीं थे, जो बहुत उथल-पुथल मचाते हैं, बल्कि वह कुछ मूलभूत मूल्यों के आधार पर वह यथास्थिति में परिवर्तन लाने की क्रांतिकारी मानसिकता लिए हुए थे।

मेरा मानना है कि जिस दुविधा की चर्चा डॉ. एंडरसन ने की, जब उसका उदय हुआ उस समय यथास्थिति को बनाए रखने के पक्षधर एक सामाजिक परिवर्तन को रोकने का प्रयास कर रहे थे। विकेंद्रीकरण, मानव मात्र पर सबसे अधिक बल तथा मानव पूंजी का निर्माण जैसे कामों के लिए यह जरूरी था कि शिक्षा राज्य द्वारा दी जाए। उन्होंने स्वास्थ्य सेवाओं की जिम्मेदारी भी राज्य पर होने की मांग की। इसका कारण यह है कि जब समाज मुझे शिक्षित करता है तो मैं केवल व्यक्तिगत रूप से लाभान्वित नहीं होता हूं, बल्कि पूरे समाज को इसका लाभ मिलता है। इसलिए समाज की जिम्मेदारी है कि वह मुझे शिक्षित करे, स्वस्थ रखे और सुनिश्चित करे कि जो व्यक्ति भी काम करने में सक्षम है और काम करना चाहता है, उसे काम मिले। इसलिए सामाजिक परिवर्तन के मामले में मैं डॉ. एंडरसन के विचारों से सहमत हूं कि हम चंद लोगों के ऐसे समूह के खिलाफ अपना सर दीवार पर पटक रहे हैं, जो यथास्थिति बनाए रखना चाहते हैं। इस संबंध में दीनदयाल जी के विचार स्पष्ट थे कि अगर यथास्थिति में परिवर्तन से कुछ थोड़ा बहुत नुकसान होता है तो इसमें कोई समस्या नहीं है।

इस मामले में 'आपातकाल' को एक संदर्भ बिंदु माना जा सकता है। मेरा मानना है कि अगर दीनदयाल जी होते तो अपनी सोच और मानव मात्र को अर्थव्यवस्था का केंद्र बिंदु बनाने के अपने सिद्धांत के कारण आपातकाल में हमारे तत्कालीन महान नेताओं की तुलना में कहीं ज्यादा क्रांतिकारी कार्यक्रम की रचना करते। इसका कारण उनकी वैचारिक स्पष्टता थी। मैं इस टिप्पणी के साथ अपनी बात समाप्त करूंगा कि गणितज्ञ होने के कारण वह अपने समकालीन अर्थशास्त्रियों के साथ बड़ी सहजता से किसी भी विषय पर चर्चा कर पाते और इससे हमें कुछ ऐसा मिलता जिसकी हम दीर्घकाल में समीक्षा कर पाते।

❖❖❖

लेखक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री हैं, फिक्की के सचिव रहे और कालांतर में पश्चिम बंगाल के वित्तमंत्री भी रहे।

एकात्म मानवदर्शन : भविष्य का दर्शन

– एस. गुरुमूर्ति, प्रसिद्ध अर्थशास्त्री

आप जानते हैं कि कई बार लोग ऐसा कहते हैं कि अब इस चीज का वक्त आ गया है। यह अभिव्यक्ति एक बुद्धिजीवी की होती है। वे कई बार कहते हैं कि इस पार्टी का समय आ गया है; इस विचार का समय आ गया है; इस आंदोलन का समय आ गया है; इस कार्य को करने का समय आ गया है; ये सब बुद्धिजीवियों द्वारा भारी-भरकम शब्दों का प्रयोग है। लेकिन ऋषि दूरदृष्टि से भविष्य को परख लेते हैं। जब वे किसी धारणा का निरूपण करते हैं तो उस विचार का समय अभी नहीं आया होता है। तो वह इसके लिए व्यक्तियों, बुद्धिजीवियों, समाज व संस्थाओं को तैयार करता है। वह उन सभी को तैयार करता है, जो समाज व नीति के पालन से किसी न किसी प्रकार जुड़े हैं। वह पहले से ही देख लेता है कि भविष्य की गोद में क्या है। इसीलिए दीनदयाल उपाध्याय द्वारा निरूपित किए एकात्म मानवदर्शन और वर्तमान में 50 साल का अंतर है।

इस विचार का समय अब आ गया है। ऐसा नहीं कि हम आज ही एकात्म मानवदर्शन को दोबारा याद कर रहे हैं। न ही यह कोई ऐसा सिद्धांत है जो हवा में हमारे आस-पास तैर रहा है और जिसे हम आज जमीन पर उतारने का प्रयास कर रहे हैं। आप जानते ही हैं कि दीनदयाल जी ने समाज का प्रयोगसिद्ध अध्ययन (एम्पीरिकल स्टडी) की। प्रयोगसिद्ध अध्ययन ऋषियों का मूल तत्व है। यह

अनुसंधान या शोध नहीं है। यह प्रयोगसिद्ध अध्ययन वास्तव में अंतर्ज्ञान, लोगों से जुड़ी गहन पहचान, उच्च स्तरीय आत्मानुशासन पर आधारित है। यह व्यक्ति को समाज की वास्तविकता समझने में मदद करता है। महात्मा गांधी ने यही किया। सरदार पटेल ने 1942 में भारत छोड़ो आंदोलन के खिलाफ बोलना आरंभ किया, क्योंकि कांग्रेसजनों ने ब्रिटिश सरकार को वायदा किया था कि युद्ध समाप्त होने तक ब्रिटिश विरोधी आंदोलन नहीं करेंगे। महात्मा गांधी ने तय किया कि नहीं हम इस वायदे से ऊपर उठकर अंग्रेजों को भारत छोड़ने के लिए कहेंगे। यह बड़ी विचित्र स्थिति थी, जहां प्रतिबद्धता और आवश्यकता के बीच टकराव था, खासकर इस बात को ध्यान में रखते हुए कि एक ओर कांग्रेस का नैतिक कद था तो दूसरी ओर महात्मा का विद्रोही मस्तिष्क। तो सरदार पटेल इस हालात में दृश्य में प्रवेश करते हैं। राजमोहन गांधी ने सरदार पटेल पर अपनी किताब में यह लिखा है। वे देश भर के प्रवास पर गए और उन्हें अहसास हुआ कि देश को महात्मा से बेहतर कोई नहीं समझता है, क्योंकि इस देश की नब्ज पर उनका हाथ है। इस प्रकार एक महात्मा, एक ऋषि उस बात को समझ सकता है जिसे एक बुद्धिजीवी, समाज-विज्ञानी या शोधकर्ता संभवतः न समझ पाए। इस प्रकार दीनदयाल जी को समझने के लिए हमें उन्हें एक ऋषि, द्रष्टा के संदर्भ में देखना होगा।

पूर्व में कई महान विचारक हुए हैं। लेकिन हमें विचारक व द्रष्टा के अंतर को समझना होगा। कार्ल मार्क्स एक महान विचारक था, उसने एक संदर्भ के बारे में सोचा व समाधान प्रस्तुत किया। किसी विचारक की सोचने की क्षमता ही उसकी सीमा बांध देती है। जबकि एक ऋषि संदर्भ से दूर हटकर उस संदर्भ की सीमाओं तथा संक्रमणीय प्रवृत्ति के बारे में सोचता है। एक बुद्धिजीवी संदर्भ में ही फंसा रहता है और उसकी प्रतिक्रिया वास्तव में उस संदर्भ को लेकर जारी की गई प्रतिक्रिया होती है। इस प्रकार विश्व पिछले डेढ़ सौ से दो सौ सालों में संदर्भ तथा उसे लेकर होने वाली प्रतिक्रियाओं के बीच फंसा हुआ है। दीनदयाल उपाध्याय ने इस सबमें उलझने से अपने को बचाए रखा। वास्तव में भारत में ऋषि परंपरा ऐसी है कि महात्मा व ऋषि संदर्भ में कहीं ऊपर बने रहते हैं। इसीलिए अपने देश में एक विशिष्ट प्रकार का स्थायित्व है। इस सभ्यता में वह स्थायित्व है जो अन्य सभ्यताओं में नहीं है। आपको इसी परिप्रेक्ष्य में यह समझना होगा कि दीनदयाल उपाध्याय ने उन चार निबंधों में क्या समेटा है।

बौद्धिक चुनौती

हमारे समाज, राजनीति, शिक्षा संस्थानों, मीडिया व सार्वजनिक चर्चाओं में एक बौद्धिक चुनौती है। जब तक आप इस का समाधान नहीं ढूंढेंगे, हमारा मस्तिष्क नहीं खुलेगा। यह सब समाज को झकझोरने के लिए है।

इस देश के बारे में इसकी अर्थव्यवस्था व समाज के बारे में मेरी सोच बिल्कुल बदल गई जब मैंने देश भर में प्रवास आरंभ किया। इसकी शुरूआत हुई 1992 में स्वदेशी जागरण मंच के साथ मेरे जुड़ाव

से। आप में से कई लोग जानते हैं कि मैं बड़े कारपोरेट घरानों का सलाहकार हूं, मैं उनकी समस्याओं का काफी समय से अध्ययन कर उनके समाधान खोजता हूं। मैं पूरी दुनिया को एक आर्थिक इकाई के रूप में देखता रहा, मैं समाज को आयात, निर्यात, वित्त, व्यावसायिक गतिविधियों के परिप्रेक्ष्य में मात्र आर्थिक गतिविधियों के सीमित नजरिए से देखता रहा हूं।

स्वदेशी जागरण मंच में शामिल होने के बाद, मैंने देश भर में यात्रा करनी आरंभ की। मैं लुधियाना, पटियाला, राजकोट, मोरवी और हाल ही में थुठथुकुडी होकर आया। ढाई साल में 42 औद्योगिक क्लस्टरों में गया। इससे मेरे सोचने का ढंग बिल्कुल बदल गया। इस बदलाव का कारण अर्थव्यवस्था नहीं समाज था। आप समाज का सिखाने निकलते हैं, पर उससे कहीं ज्यादा सीखते हैं क्योंकि समाज एक विशाल मुक्त विश्वविद्यालय है।

दीनदयाल जी ने भी यही किया। मैं आईआईटी, मुम्बई में 2010 में एक प्रबंधन संस्थान में व्याख्यान देने गया था। मैं वहां आदि गोदरेज जी से मिला जो एक अच्छे और नैतिक मानदंडों का पालन करने वाले उद्योगपति हैं।

भारत में ऐसे लोग कम हैं, पर वह उनमें से एक हैं। उन्होंने तथ्यों व इतिहास के संदर्भों से युक्त आकर्षक भाषण दिया। श्रोताओं में अकादमिक, शोधकर्ता तथा व्यवसाय जगत के प्रबुद्ध लोग थे। इतने उच्च स्तर के श्रोताओं को पता था कि गोदरेज क्या कह रहे हैं। उन्होंने अपने निष्कर्ष में कहा 1990 के दशक से पहले यह देश गरीबी, निरक्षरता, पिछड़ेपन व अंधविश्वास से ग्रस्त था। 1990 के दशक में जब हमने समृद्धि प्राप्त करनी आरंभ की तब तक हम हिंदू विकास दर से त्रस्त थे। पांच सौ के करीब श्रोता उस सभागार में थे। सभी ने खड़े होकर तालियों से उनका अभिनंदन किया। ये वो लोग थे इस देश के राजदूत बन दुनिया भर में देश को प्रतिष्ठित कर सकते थे, पर उन्होंने इस देश की सभ्यता, संस्कृति और लोगों की इतनी बड़ी बेइज्जती का अभिनंदन किया।

अगले वक्ता के रूप में मुझे अपनी बात रखनी थी। मैं श्रोताओं के इतने अज्ञान से हतप्रभ था। तो पिछले वक्ता की प्रशंसा करने के बाद मैने कहा कि मुझे दुनिया के स्थापित आर्थिक इतिहास को आपको दोबारा याद करवाने का कष्ट देना होगा। वहां जो मैने कहा, वही मैं आज यहां आपसे साझा कर रहा हूं। मैने कहा कि जो मत व्यक्त किया गया है वह भारतीय सभ्यता, अर्थव्यवस्था व क्षेत्रीय आदतों के बारे में व्यक्त किए एक खास विचार प्रवाह से जुड़ा है।

कार्ल मार्क्स से शुरू करें तो उन्होंने भारतीय अर्थव्यवस्था पर ''द न्यूयॉर्क ट्रिब्यून'', जिसे आज इंटरनेशनल हेराल्ड ट्रिब्यून के नाम से जाना जाता है, में दो लेख लिखे। मार्क्स ने लिखा-''भारत अजीब देश है, यहां कोई एक शासक नहीं है, लेकिन एक शासन जरूर नजर आता है, चीजें व्यवस्थित दिखती हैं, बुनियादी ढांचा व सार्वजनिक यातायात के माध्यम हैं तथा जल मार्गों की सभी जगह एक समान उचित देख-रेख की जाती है। पर इसकी अर्थव्यवस्था गांवों तक सीमित है; प्रत्येक ग्राम एक आर्थिक इकाई है,

जिसे बाहर से किसी चीज की आवश्यकता नहीं है। यह बड़ा अजीब देश है।'' और उन्होंने इस संदर्भ में जो बातें कहीं उसे बाद में एशियाई उत्पादन विधि के नाम से जाना गया। उन्होंने कहा कि यहां हर व्यक्ति उस चीज का उत्पादन करता है, जिसकी दूसरे को आवश्यकता है और उत्पादक तथा उपभोक्ता के बीच कोई फासला नहीं है। पर उन्होंने साथ ही यह भी कहा कि इतना सब होने के बाद भी इस समाज के साथ कुछ गड़बड़ है। यह एक पिछड़ा समाज है, यहां बंदरों और गायों की पूजा होती है और ये अर्ध बर्बर समाज है। और दो हजार साल से यह समाज नहीं बदला है। इसलिए अंग्रेज इस देश के सामाजिक व आर्थिक आधार को नष्ट करके ठीक कर रहे हैं, क्योंकि इससे समाज क्रांति के लिए तैयार होगा। यह विध्वंस पीड़ादायक है, लेकिन यह आनंददायक है। तो आप समझिए कि बिना भारत में आए, उसका अध्ययन किए, बिना उसका साहित्य समझे किसी ने भारत के बारे में इस तरह लिख दिया। और भारत के बारे में उनके निष्कर्षों को भारतीयों ने स्वीकार कर लिया। तो इसे हम भारत के सामने मौजूद बौद्धिक चुनौती का आरंभ बिंदु मान सकते हैं।

पद्धतिगत व्यक्तिवाद (Methodological Individualism)

अगले क्रम में मैक्स वेबर हैं। आज जो हम पश्चिम की आधुनिक सभ्यता देख रहे हैं वह मैक्स वेबर की सोच का ही परिणाम है। वेबर ने सिद्धांत दिया कि केवल प्रोटेस्टैंट ईसाई मत से ही वे मूल्य पैदा हो सकते हैं, जो आधुनिक पूंजीवाद के लिए मददगार साबित होंगे। तत्कालीन प्रोटेस्टैंट व कैथोलिक समाज पर किए गए अनुभवजन्य अध्ययन यानी 'एंपीरिकल स्टडी' के हिसाब से वह ठीक थे। उसने पाया कि सभी प्रोटेस्टैंट समाज आगे बढ़ रहे हैं, मसलन इंग्लैंड, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, कनाडा आदि जबकि इटली, स्पेन, आयरलैंड व अन्य कैथोलिक समाज पिछड़ रहे थे।

इसलिए उसने सिद्धांत दिया कि आधुनिक पूंजीवाद की आधारभूत आवश्यकता उद्यमिता है जो प्रोटेस्टैंट परिस्थितियों में ही पैदा हो सकती है, कैथोलिक परिस्थितियों में नहीं। और वह सही था, उसने कहा कि विकास का आधार व्यक्तिवाद है। बाद में उसने व्यक्तिवाद को जिस प्रकार परिभाषित किया, वह पद्धतिगत व्यक्तिवाद के रूप में पुनः परिभाषित हुआ।

पद्धतिगत व्यक्तिवाद ने समाज के बारे में उससे पूर्व में पैदा हुई समझ से बिल्कुल अलग रास्ता अपनाया। कार्ल मार्क्स, एडम स्मिथ, रिकार्डो ने समाज को देखकर यह आकलन किया था कि व्यक्ति का व्यवहार कैसा होगा। पूरी दुनिया में यही मॉडल है। पर औद्योगिक क्रांति के दौरान पश्चिम में पूरे समाज में उथल-पुथल मच गई क्योंकि पश्चिम में समाज का अर्थ था केवल पड़ोस में रहने वाला समाज। सामूहिक व वैयक्तिक में इसके अलावा कोई संबंध नहीं था कि वे एक ही स्थान पर रहते थे। इसलिए औद्योगिक समाज ने एक विचित्र स्थिति पैदा कर दी जिसमें व्यक्ति का कणन (एटमाइज़ेशन ऑफ इंडीविजुअल्स) हो गया और व्यक्तियों तथा राज्य, कानून, शासन व न्यायपालिका के बीच कोई

संबंध नहीं था। इसलिए उसने पद्धतिगत व्यक्तिवाद का सिद्धांत देकर कहा कि विश्व व्यक्तिवादी समाज की ओर बढ़ रहा है; कोई समाज नहीं होगा, केवल राज्य होगा और फिर आर्थिक मानव, आर्थिक रूप से कुशल मानव तथा कुशल बाजार के सिद्धांत आए।

इस सबका निर्माण मैक्स वेबर की सोच के आधार पर हुआ। पश्चिम को लेकर वेबर की सोच पर मुझे कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि उसने पश्चिम का अध्ययन कर समझा कि वह कहां जा रहा है और उसी के अनुरूप उसने सिद्धांत बनाए। पर 25 साल बाद उसने 'रिलीजन ऑफ बुद्धिज्म एंड हिदुईज़्म' के नाम से पुस्तक लिखी जिसमें उसने कहा कि भारत व चीन दो ऐसे समाज हैं, जहां कभी पूंजीवादी परिस्थितियां पैदा नहीं हो सकती हैं, क्योंकि वे धर्म व पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। वेबर का कहना था कि इसके कारण वैयक्तिक स्थान कभी उपलब्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि आप भाग्यवादी हो जाते हैं। इसके अलावा जाति के कारण भी एक व्यक्ति एक पेशे से बंध जाता है, जिससे व्यक्ति आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक रूप से गतिमान नहीं हो पाता है। इसी से 'सबालर्टन सिद्धांत' पैदा हुआ, जिसने भारत के समाजशास्त्र को पूरी तरह से समाप्त कर दिया।

इस बारे में विस्तार में जाने के बजाए मैं आपको सार बताना चाहता हूं। वेबर के विचारों पर आधारित सोच के अनुसार अगर वर्तमान में भारतीय समाज जिस स्थिति में है, उसे नष्ट नहीं किया गया, उसका कणन नहीं किया गया तथा भारत के बारे में सही समझ को समाप्त कर भारतीयों केवल व्यक्तियों के रूप में परिवर्तित नहीं किया गया, उनका कण-कण नहीं किया गया तो भारत कभी प्रगति नहीं कर सकता है। मैं इस बारे में ज्यादा न कहते हुए केवल एक उदाहरण देकर बताना चाहूंगा कि कैसे इन दो व्यक्तियों की सोच भारत में हावी रही।

एंड्रियास ई बस्स के संपादन में 1985 में ब्रिल एकेडमिक पब्लिशर्स से 1985 में 'मैक्स वेबर इन एशियन स्टडीज' प्रकाशित हुई थी। बस्स ने शोध के आधार पर यह स्थापित किया कि वेबर और मार्क्स कभी भारत नहीं आए, किसी भारतीय से नहीं मिले, उन्होंने संभवतः कोई भारतीय साहित्य भी नहीं पढ़ा, पर उन्होंने भारत को लेकर अपना निर्णय दिया और उनके विचार भारत के बौद्धिक व अकादमिक विमर्श तथा राजनीतिक प्रतिष्ठानों व सार्वजनिक बहसों पर पूरी तरह से हावी रहे।

इस पृष्ठभूमि में 1931 में विंस्टन चर्चिल ने कहा कि भारत एक बर्बर समाज है और 1963 में अर्थशास्त्री जॉन केनेथ गॉलब्रेथ ने कहा कि भारत एक ऐसी अराजक व्यवस्था है, जिसमें काम हो रहा है। गॉलब्रेथ का मैं बहुत सम्मान करता हूं क्योंकि मेरे विचार में पिछले 150 साल में वह सबसे व्यावहारिक अर्थशास्त्री हैं। वह पंडित नेहरू के अभिन्न मित्र थे। जब वह भारत में अमेरिका के राजदूत बनकर आए तो नेहरू ने उनसे गर्व के साथ कहा था, 'जॉन कल दुनिया कहेगी कि मैं भारत का आखिरी अंग्रेज प्रधानमंत्री था। इस प्रकार से उन्होंने गॉलब्रेथ से बात की और गॉलब्रेथ ने भारत को देखकर कहा कि यह एक ऐसी अराजक व्यवस्था है जो अभी भी काम कर रही है। उन्होंने कहा कि यह अराजक समाज

कैसे काम कर रहा है, वह नहीं जानते। उधर वामपंथी बुद्धिजीवियों ने मार्क्स को उद्धृत करते हुए कहा कि भारत एक अर्ध-बर्बर समाज है। हम भारतीय इन्हीं दोनों की टिप्पणियों को उद्धृत करते हैं।

इस प्रकार की परिभाषाएं,नाम व ब्रांड गढ़े गए तथा आकलन उन लोगों के द्वारा भी किए गए जिनका भारत से कोई लेना-देना नहीं था। उसी श्रृंखला में भारतीय अर्थशास्त्री प्रोफेसर राजकृष्ण भी थे। वर्ष 1978 में उनसे अध्ययन करने के लिए कहा गया कि यूरोपीय देशों में समाजवादी नीतियां कैसे बेहतर काम कर रही हैं; पोलैंड, यूगोस्लाविया जैसे देश इन नीतियों के कारण तेजी से आगे बढ़ रहे हैं, तो हम क्यों नहीं। उन्हीं नीतियों के साथ हमारी विकास की गति इतनी धीमी क्यों है? उनके पास कोई जवाब नहीं था, उन्होंने कहा कि समान नीतियों के बाद भी हम हिंदू विकास दर से ही प्रगति कर सकते हैं। विश्व बैंक के अध्यक्ष के तौर पर राबर्ट मैकनमारा ने लगभग आधा दर्जन अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों को संबोधित करते हुए कहा, ''मैं भारत के लिए मदद की भीख मांग रहा हूं क्योंकि स्वयं भारतीय अर्थशास्त्री यह स्वीकार कर चुके हैं कि भारत आर्थिक प्रगति नहीं कर सकता है। इस प्रकार भारत की ब्रांडिंग एक भारतीय अर्थशास्त्री द्वारा उन लोगों के आंकलनों के आधार पर होती रही जो कभी भारत ही नहीं आए। यह 1978 की बात है।

भारत का नेतृत्व

वर्ष 1983 में कुछ नाटकीय हुआ। विश्व व्यापार संगठन से पूर्व एक संस्था अस्तित्व में आई जिसका नाम था जनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड एंड टैरिफ (GATT) यानी गैट। गैट ने बेल्जियम के अर्थशास्त्री पॉल बेइरोक (Pual Bairoch) को एक महत्वपूर्ण काम दिया। उन्हें 1750 से 1900 के बीच विश्व अर्थव्यवस्था के अध्ययन का काम दिया गया। वर्ष 1900 के बाद कुछ आंकड़े व जानकारी तो उपलब्ध है, पर उन्हें इससे पहले के समय, यानी 1900 तक विश्व व्यापार का अध्ययन सौंपा गया। बेइरोक ने 1983 में अपने अध्ययन के निष्कर्ष सामने रखे, जिसने पश्चिम को चौंका दिया। क्या थे ये निष्कर्ष? विश्व अर्थव्यवस्था के आंकड़ों के अनुसार 1750 में चीन का हिस्सा विश्व बाजार में 33 प्रतिशत था, इसके बाद भारत की हिस्सेदारी 24.5 प्रतिशत थी, जबकि इंग्लैंड और अमेरिका को मिलाकर इन दोनों देशों की हिस्सेदारी दो प्रतिशत थी, लेकिन 1900 में पूरी तस्वीर बदल गई। चीन और भारत का हिस्सा 60 प्रतिशत से गिरकर आठ प्रतिशत पर पहुंच गया, जिसमें भारत का हिस्सा 1.28 प्रतिशत था और चीन की हिस्सेदारी 6.2 प्रतिशत। इंग्लैंड और अमेरिका का हिस्सा दो प्रतिशत से बढ़कर 41 प्रतिशत हो गया। 1857 में भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम से पहले 1850 में विश्व के सकल घरेलू उत्पाद यानी जीडीपी भारत की हिस्सेदारी में 16 प्रतिशत थी।

इसके बाद अगले 50 सालों में यह गिरकर 1880 से 1900 के बीच मात्र 1.8 प्रतिशत पर पहुंच गई। यह वही समय था जब स्वामी विवेकानंद ने देश भर में भूख, गरीबी, निरक्षरता और एक पराजित

समुदाय को प्रत्यक्ष देखा, उस दौरान भारत में 22 अकाल पड़े थे। इसी के कारण भारत का इतना पतन हुआ। बेहरोक ने बताया कि कैसे पश्चिम ने पूरी दुनिया में आर्थिक सहयोग और विकास के नाम पर शोषण किया। पश्चिमी देश ने निष्कर्षों के प्रति विद्रोही रूख अख्तियार किया।

दुनिया के सबसे अमीर देशों ने एक नए अध्ययन समूह का गठन किया, जिसका नेतृत्व एंगस मैडिसन को दिया गया। उसे पश्चिम से भरपूर मदद दी गई और अर्थशास्त्री, सांख्यिकी विशेषज्ञ, समाजशास्त्री व इतिहासकार उपलब्ध करवाए गए। उसे 2000 साल के विश्व इतिहास का अध्ययन कर यह आकलन करने के लिए कहा गया कि बेइरोक के तथ्यों में कितनी सच्चाई थी। उन्होंने अध्ययन आरंभ करते हुए कहा कि ये सही नहीं हो सकते हैं। क्योंकि अगर बेइरोक की बात में दम है, तो इसका मतलब पश्चिम ने कोई नया आर्थिक विचार या मॉडल नहीं दिया, बल्कि उसने उपनिवेशवाद के माध्यम से केवल अन्य देशों का शोषण किया। इस प्रकार एक पक्षपातपूर्ण रूख के साथ इस नए अध्ययन की शुरूआत हुई।

उसने 2001 में अपने निष्कर्षों को प्रकाशित किया जिसका शीर्षक था **''द वर्ल्ड इकोनोमी: ए मिलिनियल परस्पेक्टिव (वैश्विक अर्थव्यवस्था–एक सहस्त्राब्दि का परिप्रेक्ष्य)''**। आप इसे इंटरनेट पर जाकर निशुल्क डाउनलोड कर सकते हैं। निशुल्क शोध के नाम इसे हर जगह आसानी से उपलब्ध करवाया गया, क्योंकि इसमें बताया गया था कि पश्चिम ने प्रगति की क्योंकि वह श्रेष्ठ था। पर मैं आपको बताऊंगा कि इसका अंत कैसे हुआ।

जिस वर्ष में जीसस का जन्म माना गया भारत का विश्व व्यापार में 34 प्रतिशत हिस्सा था, जो सबसे अधिक था। एक हजार साल के बाद भी भारत पहले स्थान पर था और 1400 साल बाद भी, 1500 साल बाद भारत और चीन संयुक्त रूप से पहले स्थान पर थे। वर्ष 1600 में चीन, भारत से आगे निकल गया और 1700 में भारत फिर चीन से आगे निकल गया। खेल इन दो देशों के बीच था, बाकी कोई दूर-दूर तक मौजूद नहीं था। मैं इस बात को सिद्ध करने के लिए इतिहास से और भी कई उदाहरण दे सकता हूं। मैंने आईआईटी के श्रोताओं को ये बताया कि हम अपने इतिहास को नहीं जानते, न ही उसे जानने की परवाह करते हैं, हम यह भी नहीं जानना चाहते कि दूसरे क्या कह रहे हैं, हम केवल दूसरों द्वारा दिए गए निष्कर्षों को पढ़ लेते हैं। सभागार में मौजूद सभी श्रोताओं ने खड़े होकर करतल ध्वनि से इन तथ्यों का स्वागत किया और बाद में मेरे पास आकर कहा, ''इन भवनों का कोई लाभ नहीं जहां हमें अपने देश के बारे में कुछ नहीं बताया जाता है। आप हमारे लिए एक पाठ्यक्रम चलाइए।'' और उस साल से मैं भारतीय अर्थव्यवस्था के इतिहास व वित्तीय विकास पर एक पाठ्यक्रम चला रहा हूं, जिसे आज चार साल हो चुके हैं। मैं यह इसलिए बता रहा हूं, क्योंकि हमारे देश के सामने यही बौद्धिक असमंजस है। दुनिया अब बदल चुकी है और हम इसके बारे में जानते ही नहीं हैं। अब मैं थोड़ा पीछे जाकर बताने का प्रयास करूंगा कि दुनिया कैसे बदली है।

कब?

वर्ष 1951 में संयुक्त राष्ट्र ने दुनिया को, खासकर कम विकसित देशों को विकास के तरीकों के बारे में एक नोट दिया। यह पश्चिम के उन विचारों पर आधारित था कि जब तक आप अपनी परंपरा को छोड़कर व्यक्तिवाद को बढ़ावा नहीं देंगे, आप विकास नहीं कर सकते हैं। व्यक्ति का कणन ही आधुनिकीकरण है। परिवार, पड़ोस, समाज से ऊपर व्यक्ति को तरजीह देना और केवल संविधान को उससे ऊपर रखना आधुनिकता है। इसे इस हद तक ले जाया गया कि आज यौन उन्मुक्तता आधुनिकता है। आधुनिकता को हमेशा इस बात से मापा गया कि आप राज्य से कितनी दूरी बनाकर रखते हैं। आपके पास राज्य के खिलाफ विचार रखने की स्वतंत्रता है, पर आपके पास अपने पिता, भाई व पति के खिलाफ स्वतंत्रता नहीं हैः यह दीनदयाल जी द्वारा व्यक्त किए गए विचारों से बिल्कुल विपरीत है। और इसके कारण पश्चिम कहां आ खड़ा हुआ है? जब तक हम यह नहीं जानेंगे कि इस पर अमल करने वाले कहां खड़े हैं, तब तक हम यह तय नहीं कर पाएंगे कि हमें भी इस पर अमल करना चाहिए या नहीं।

खंडित परिवार

मैं आपको एक उदाहरण देना चाहूंगा। दीनदयाल जी ने एक बार परिवार के बारे में बात की थी। अमेरिका में परिवारों की स्थिति अच्छी थी। अमेरिका में 1965 में तलाक की दर बहुत कम थी। आज के समय में अमेरिका में पहली बार विवाह के बाद 55 प्रतिशत लोग तलाकशुदा हैं, दूसरी बार हुए विवाहों में से 67 प्रतिशत में तलाक हो रहा है। अगर इसके बाद भी कोई फिर से विवाह करने की हिम्मत रखता है, तो ऐसे विवाहों में तलाक दर 73 प्रतिशत है। लगभग 51 प्रतिशत परिवारों में एक ही अभिभावक है- माता या पिता में से कोई एक। ज्यादातर परिवारों में अभिभावक के तौर पर पिता नहीं हैं। एक अमेरिकी समाजशास्त्री ने 1998 में एक पुस्तक लिखी थी, जिसका शीर्षक था 'फादरलेस अमेरिका'। आज अमेरिका में 41 प्रतिशत बच्चों को अविवाहित माताएं जन्म देती हैं, 22 प्रतिशत बच्चों को जन्म देने वाले स्कूल जाने वाले वाली छात्राएं हैं। यह माता, पिता, भाई-बहन, परिवार व समाज को पीछे रखकर अति व्यक्तिवाद को तरजीह देने के कारण है। हमें एक लज्जावान समाज को बनाए रखना चाहिए, क्योंकि वह आपके अशोभनीय व्यवहार को रोकने में मदद करता है। दिलचस्प बात है कि संयुक्त राष्ट्र ने विकास का यही रास्ता अल्प विकसित देशों पर थोपा। यही पश्चिम की मानवविज्ञानी आधुनिकता है, जिसका समर्थन यहां के बुद्धिजीवी, सामाजिक अर्थशास्त्री, मीडिया, लेखक आदि कर रहे हैं। आप देखिए ये क्या है? बिना पीड़ादायक बदलाव के तेज आर्थिक प्रगति संभव नहीं है। पुराने दर्शन को भूल जाओ। पुरानी सामाजिक व्यवस्थाओं को तोड़ दो जिसमें परिवार नामक संस्था भी शामिल है। संबंध आधारित परिवार को एक अनुबंध आधारित व्यवस्था में बदल दिया गया है। जाति, वर्ग, नस्ल के बंधनों को तोड़ दो और बड़ी संख्या में वे लोग जो ये बदलाव नहीं कर सकते, उन्हें सीमित सुविधा के साथ जीना सीखना होगा।

बहुत छोटा समुदाय पूरी आर्थिक प्रगति की कीमत चुकाने को तैयार हैं। जब तक आप स्वयं को विस्मृत न कर दें, आप आर्थिक विकास नहीं कर सकते हैं।

वर्ष 1951 में यही संदेश दिया गया था; जो समाजवाद व पूंजीवाद के लिए एक समान है। पूंजीवाद जो बाजार के माध्यम से प्राप्त करना चाहता है, समाजवाद उसके लिए राज्यसत्ता का सहारा लेता है। समाजवाद जो राज्य सत्ता के सहारे हासिल करना चाहता है, पूंजीवाद उसके लिए बाजार का रास्ता अपनाता है। इसे सोशल इंजीनियरिंग का नाम दिया गया है। सोशल इंजीनियरिंग के लिए या तो क्रांति करनी होगी या अपनी परंपरा, संस्कृति, सम्मान व श्रद्धा को किनारे करना होगा। आप जानते हैं कि आधुनिकता में श्रद्धा का कोई स्थान नहीं है। न प्रकृति के लिए कोई श्रद्धा है, न अभिभावकों और न ही शिक्षकों के लिए। आज सारी आर्थिक व्यवस्था श्रद्धा की अनुपस्थिति पर आधारित है। और इसके परिणाम बहुत रोचक हैं। क्या हैं इसके परिणाम?

जैसा कि दत्ताजी ने कहा था कि आज दुनिया को इसका अहसास हो रहा है कि जब बाजार आधारित पूंजीवाद की 1979 में जीत हुई थी और जून में जब बर्लिन की दीवार ढह गई थी, तो दुनिया भर में इसे पूंजीवाद की विजय बताया गया। फ्रांसिस फुकूयामा ने एक पुस्तक लिखकर इसे पश्चिम की बाकी दुनिया पर जीत बताया। लेकिन उन्हें बाकी दुनिया के बारे में पता ही नहीं था, वह कभी बाकी दुनिया के आस-पास भी नहीं गए। वह कभी पूर्व में नहीं आए, उनका जन्म पूर्व में हुआ लेकिन वह पश्चिम में पले-बढ़े। पर फिर भी उन्होंने कहा कि पश्चिम ने सब पर विजय पताका फहरा दी है और अब सभी को पश्चिम का अनुसरण करना चाहिए। यह बड़ा सरल सिद्धांत था।

जैसा कि दत्ताजी ने कहा, तीन साल में ही उसने अपने सिद्धांत की वापिस जाकर समीक्षा की और एक किताब लिखी 'द ट्रस्ट'। इस पुस्तक में उसने कहा, ''नहीं, नहीं, मैं जब इस बारे में पहले लिखा था, तो मेरी सोच में 20 प्रतिशत की कमी थी और इस कमी का नाम था 'संस्कृति'। लेकिन यह केवल 20 प्रतिशत की कमी नहीं है। इससे उसका सिद्धांत भरभराकर ढह जाता है। उसने देखा और समझा कि वास्तव में उसके सामने है क्या? वर्ष 1991 में दो ध्रुवीय व्यवस्था दुनिया से समाप्त हो गई तथा पश्चिम पूरी तरह से दुनिया पर हावी हो गया। भूमंडलीकरण की शुरूआत हुई तथा पश्चिमी व्यक्तिवाद अपने शिखर पर पहुंच गया। आज हम सार्वजनिक बहसों में जो गंदगी देखते हैं, यह उसी का परिणाम है। वह गंदगी जो पेज थ्री पर होती थी, आज लाखों की प्रसार संख्या वाले समाचार-पत्रों के पहले पन्ने पर है। आप समझ सकते हैं कि किस प्रकार यह व्यक्तिवाद समाज, मूल्यों, परंपरा, नैतिकता तथा संस्कृति से उदासीन है और यह किस प्रकार के सार्वजनिक संवाद को जन्म दे रहा है!

एशियाई संकट

वर्ष 1997 में एशियाई संकट पैदा हुआ। अर्थशास्त्री हमारे समाज को चलाने के लिए आ गए; लेकिन इससे अधिक कुछ और चाहिए था और उन्होंने कहा कि यह व्यवस्थागत खामी है; पूंजीवाद में गड़बड़

है; सबने इसका स्पष्टीकरण देने का प्रयास किया। लेकिन 2001 में यही संकट अमेरिका में डॉट कॉम संकट के रूप में सामने आया। पश्चिम सदमे में था। उन्होंने दावा किया कि हम जल्द इससे बाहर निकल आएंगे। पर फिर 2008 में ऐसा बड़ा झटका पश्चिम को लगा जिससे वह अभी तक नहीं संभल पाया है, लेकिन एशिया ने अपने को संभाल लिया। एक कम्युनिस्ट पत्रिका ने बड़े अचंभे के साथ एक कवर स्टोरी की, जिसका शीर्षक था, ''एशिया की वापसी''। उन्होंने कैसे वापसी कर ली? यह पहेली थी उनके लिए, लेकिन तथ्य यह है कि एशिया ने अपनी अर्थव्यवस्था को बाजार आधारित बनाया, समाज को नहीं। इन दोनों में बड़ा अंतर है।

यही वह बिंदु है जहां दीनदयाल जी बहुत-बहुत प्रासंगिक हो जाते हैं। आपका समाज आपकी अर्थव्यवस्था, राजनीति और बहस के केंद्र में है। अगर आप समाज को नष्ट करने, उसे तस्वीर से बाहर करने का प्रयास करते हैं, तो इसके बाद राज्य-सत्ता, सेना, पुलिस, न्यायालयों व अधिवक्ताओं के अलावा कुछ नहीं बचेगा। एशियाई देशों में समाज की एक अहम भूमिका है। पश्चिम में कभी ये विचार था कि भूमंडलीकरण का एक ही मॉडल सबके लिए कारगर है ''फिर चाहे वह थिंपू हो या न्यूयॉर्क या ज्यूरिख; आर्थिक नीतियां वैसे ही काम करेंगी।''

इस डिजाइन में यह माना जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थी है पर उन्हें यह नहीं पता कि हमारे देश में ऐसे लोग हैं जो अपने परिवार के लिए त्याग करते हैं। इस प्रकार के लोग पश्चिम में नहीं हैं। पर वे सोचते हैं कि आर्थिक नियम सब पर समान रूप से लागू होते हैं, इसलिए आर्थिक विकास का एक ही ग्लोबल मॉडल है।

लेकिन यह विश्वास 2005 में 15-16 अक्टूबर तक था। जी-20 देशों के केंद्रीय बैंकों के गवर्नरों ने उस दिन एक प्रस्ताव पारित कर कहा, ''हम यह मानते हैं कि सभी देशों के विकास के लिए कोई एक ही मॉडल प्रभावी नहीं हो सकता है।'' उन्होंने इससे पहले कहा था कि एक ही मॉडल है, जो आपके या मेरे लिए प्रभावी है। अब उन्होंने पूरा रूख पलटते हुए कहा कि प्रत्येक देश को अपनी विशिष्ट परिस्थितियों के अनुरूप विकास की नीति अपनानी चाहिए। उन्हें मजबूत आर्थिक विकास से संबंधित विभिन्न नीतियों के अनुभवों का लाभ उठाना चाहिए, जिससे स्थायी व सतत विकास संभव हो पाए।

विकास का भारतीय मॉडल

आर्थिक ढांचे की असफलता को लेकर पश्चिम ने पहली बार इसे स्वीकार किया। इसके बाद दूसरी स्वीकारोक्ति आती है; दुनिया ने जब एक बार देख लिया कि अर्थव्यवस्था ढह रही है तो उसने चालाक बनने की कोशिश की। वर्ष 2008 में एक न्यूजलैटर में उन्होंने स्वीकार किया कि विश्व बैंक ने भी सीख लिया है कि सभी समस्याओं का समाधान देने वाला कोई एक मॉडल नहीं हो सकता है। 1951 से अब तक आप हमारे अर्थशास्त्रियों, नीति निर्माताओं, कॉलम लेखकों व सार्वजनिक संवाद करने वालों को

बता रहे थे कि विकास करना है, तो अमेरिका बनिए; यह अभी भी कहा जा रहा है। इसका मतलब है, सबसे बेहतरीन विचार लीजिए, उन्हें नई परिस्थितियों में लागू कीजिए और जो कारगर साबित न हो उसे छोड़ दीजिए।

आप को जानकार अचंभा होगा कि इस सरकार ने नीति आयोग में इन सब बातों को समाहित किया है कि हम केवल विकास का भारतीय मॉडल ही अपना सकते हैं। मीडिया में भी इस पर ज्यादा चर्चा नहीं हुई है। जिसने भी दीनदयाल जी के विचारों का बीजारोपण नीति आयोग में किया है, मैं उसे धन्यवाद देना चाहता हूं। दीनदयाल जी ने हमेशा समाज की वास्तविक कार्यपद्धति को स्वीकार व क्रियान्वित किया। लेकिन राजनीति में ऐसा नहीं था, अर्थशास्त्र व नीति निर्माण में भी ऐसा नहीं था। भारत की आर्थिक नीति के दर्शन का निरूपण इस सिद्धांत पर नहीं हुआ। नीति आयोग के प्रस्ताव के माध्यम से पहली बार किसी सरकार ने कहा, ''हम वही करेंगे जो भारत के लिए प्रभावी है। यह विकास का भारतीय मॉडल होगा।'' क्या आपने कभी सुना है कि नीति आयोग के प्रस्ताव में इतने गहन प्रभाव वाला कथन है? आपमें से कितनों ने इसे मीडिया में पढ़ा है?....इतने प्रबुद्ध श्रोताओं में से भी केवल चार ही लोग हैं, जिन्होंने इसके बारे में पढ़ा है। इससे पता चलता है कि मीडिया के संवाद की रेंज क्या है। तो इस प्रकार समाज एक प्रकार से फंस गया है? समाज कैसे फंस गया है?

इकॉनॉमिस्ट पत्रिका ने लिखा था कि अगर एशिया की वापसी हुई है तो वह इसके समाज के कारण है जो बाजार आधारित नहीं है। बाजार का मतलब है अनुबंध। एक समाज या परिवार का व्यवहार अनुबंध पर आधारित नहीं हो सकता है। आपका एक धार्मिक कर्तव्य है; आपका एक संबंध है; वह संबंध कानून से नहीं उपजा है; उसे अदालत में जबरन लागू नहीं किया सकता है; यह अदालत से कहीं बड़ा है, कानून से बड़ा है। आपका कर्तव्य आपके माता-पिता, बच्चों, भाई-बहनों और पड़ोसियों के प्रति है जो महत्वपूर्ण है।

अब मैं आपको 1993 की एक घटना बताता हूं। मेरे एक मित्र मुंबई में एक बैंक के साथ किसी विवाद को लेकर समझौता करने जा रहे थे, जिसका बाजार मूल्य उस समय लगभग 500 करोड़ रूपए था। जब वह अपनी कार में घर से बाहर निकले तो उनके पड़ोस की एक महिला ने चिल्लाकर उन्हें रोका और कहा, ''मेरे पति के सीने में दर्द हो रहा है, कृपया उन्हें उठाकर अस्पताल ले चलिए।'' वह अपनी मुंबई की अपाइंटमेंट भूल गए और फौरन उसके पति को ले जाकर अस्पताल पहुंचाया जिससे उसकी जान बच गई। जब मैने उनसे बैंक के साथ अपाइंटमेंट को छोड़ देने के बारे में पूछा तो उनका जवाब था, ''बाबू, अगर मैं मुंबई चला जाता और उस आदमी को कुछ हो जाता तो क्या मैं जीवन भर कभी शांति से रह पाता।'' आपको लगता है कि क्या ऐसा व्यवहार अनुबंध के द्वारा आ सकता है।

यही दीनदयाल जी का विचार है कि सभी चीजों का आपस में अंतरसंबंध है। आपकी अपने पड़ोसी के प्रति भी एक जिम्मेदारी है। यह वास्तविकता है और यही काम भी करता है पर आज ऐसी व्यवस्था क्यों नहीं है? यही हमारी बौद्धिक चुनौती है। हमें इस चुनौती से पार पाना है। राष्ट्र निर्माण करने वाली संस्थाओं का यही काम है। जब तक हम पूरी प्रतिबद्धता के साथ इस दिशा में काम करते हुए विचारकों, वक्ताओं, बुद्धिजीवियों, लेखकों को तैयार नहीं करेंगे, जो एक आयामी विचारों व उथले बुद्धिजीवियों को जवाब दे सकें, तब तक हम पिछड़ते रहेंगे या फिर हमारे पास पश्चिम में चल रही बातों की प्रतिक्रिया भर होंगी, हम सर्वोच्च स्तर पर कोई बदलाव नहीं ला पाएंगे। जमीन पर जो रहा है, उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ेगा।

साल 1993-94 में जब हम भारत भर में प्रवास कर रहे थे तो जनमत की सुनामी हमारे खिलाफ थी और उनका मत था कि हम विदेशी निवेश से ही विकास कर सकते हैं और बहुराष्ट्रीय कंपनियों का भारत में स्वागत होना चाहिए। भारत से अमेरिका गए महान आर्थिक चिंतक जगदीश भगवती को भारत आमंत्रित किया गया। भगवती मुक्त व्यापार के भगवान थे, विश्व व्यापार संगठन का ढांचा उन्होंने ही तैयार किया था। वे भारत आए और डॉ. मनमोहन सिंह ने उनसे पूछा, ''डॉ. भगवती, हम बड़ी मुसीबत में हैं, हमें बताईये कि हम कैसे अपनी स्थिति ठीक कर सकते हैं?'' भगवती ने सरकार को 72 पृष्ठ का एक दस्तावेज दिया, जिसमें उनके सुझाव थे।

इसमें से तीन पृष्ठ उन्होंने भारतीय परिवारों व महिलाओं के बारे में लिखे। उनका कहना था कि भारत में एक बड़ी समस्या है कि यहां परिवार जरूरत से ज्यादा बचत कर रहे हैं। बचत का जीडीपी के साथ अनुपात 19 प्रतिशत है, इसे कम कर 9 से 10 प्रतिशत पर लाया जाना चाहिए। नौ से 10 प्रतिशत की बचत को खर्च में बदलो, ताकि उपभोग बढ़ सके, जिससे उत्पादन बढ़ेगा व रोजगार का विकास होगा, इसके बाद भारत को कोई रोक नहीं पाएगा। भगवती का कहना था कि दिक्कत ये है कि भारतीय खर्च करना नहीं जानते, वे कंजूस हैं। वे बेकार में भी स्वयं पर जिम्मेदारियों का बोझ पाले रहते हैं। बच्चों, अभिभावकों, बुजुर्गों, भाई-बहनों से लेकर न जाने कहां-कहां की जिम्मेदारियां वे ओढ़ लेते हैं। इस प्रकार का जिम्मेदारी का भाव अर्थशास्त्र के खिलाफ है। इसलिए भारतीयों को गैर जिम्मेदार बनाईये, उन्हें उपभोक्ता बनाईये, बड़े-बड़े मॉल खड़े करिए। आपके उत्पाद बेकार हैं, बाहर से बढ़िया चीजें लाइए और उन्हें यहां के आलीशान मॉल में सजाईये। लोगों को उन्हें खरीदने के लिए लुभाइए। एक आर्थिक चिंतक द्वारा भारत को दिया गया यह गंभीर सुझाव है। भारत सरकार ने इन सब सुझावों पर अमल करना शुरू कर दिया। आईसीआईसी बैंक ने तय किया कि वह एक लाख करोड़ रूपए का उपभोक्ता बैंक पोर्टफोलिओ बनाएगा; पर अंततः उसने हाथ खड़े कर दिए। क्योंकि भारत में तो लोग अपनी आय में से भी खर्च नहीं करते हैंः भला वे उधार लेकर क्यों खर्च करेंगे?

सुचारू ढंग से चल रहे परिवार

अब 1901 से 2011 के बीच हर 20 वर्ष के आंकड़े उपलब्ध हैं और आंकड़े हमें क्या बताते हैं? भारत सरकार के पूर्व आर्थिक सलाहकार शंकराचार्य ने 'बिजनेस स्टैंडर्ड' समाचार-पत्र में एक लेख लिखा जिसमें उन्होंने बताया कि हैरानी की बात है कि भारत अकेला ऐसा देश है जिसने बिना किसी खास विदेशी निवेश के प्रगति की है। आप कारण जानते हैं? परिवार स्तर पर बचत 19 से 29 प्रतिशत हो गई; राष्ट्रीय बचत 27 से 37 प्रतिशत पहुंच गई तथा राष्ट्रीय निवेश 24 से 40 प्रतिशत पर पहुंच गया। आप जानते हैं कि निवेश व जीडीपी के बीच एक अनुपातिक संबंध है। अगर आप 24 प्रतिशत निवेश करते हैं तो 6 प्रतिशत जीडीपी आता है, यहां पूंजी-उत्पाद का अनुपात चार है। अगर आप 40 प्रतिशत निवेश करेंगे तो 10 प्रतिशत की विकास दर मिलेगी। इस प्रकार हमने 10 प्रतिशत की विकास दर हासिल की। पूरी दुनिया इससे हतप्रभ थी। यह कैसे हुआ? क्योंकि हमारे परिवार सुचारू ढंग से चल रहे थे; यहां बचत भी सांस्कृतिक है; अपने यहां संबंधों पर आधारित समाज है, जिसमें मैं केवल अपने लिए नहीं जीता हूं। मैं दूसरों के लिए भी जीता हूं। इसके परिणाम क्या हैं? यहां केवल बचत या उपभोग की बात नहीं हैं; इसने राज्य और समाज के बीच के संबंधों को बदल दिया।

Capital-output ratio

अब दूसरी अर्थव्यवस्थाओं में देखिए, जहां व्यक्तिवाद का प्रभुत्व है। कोई किसी के लिए जिम्मेदार नहीं है; कोई बेरोजगारों या बीमार लोगों के जिम्मेदार नहीं है। सबकी जिम्मेदारी राज्य की है, जिसके चलते परिवार के सारे कामों का राष्ट्रीयकरण हो गया है। हर व्यक्ति ने अपने लिए जीना शुरू कर दिया। इसलिए बचत करने की प्रवृत्ति कम होती गई, आप क्यों बचत करते हैं? आप अपने बच्चों, माता-पिता, अपने लिए बचत करते हैं। लेकिन अब उसकी जरूरत नहीं थी। इसलिए पारिवारिक बचत जो 1960 में अमेरिकी बचत का 80 प्रतिशत थी 2016 की तीसरी तिमाही में गिरकर नकारात्मक 20 प्रतिशत हो गई। अमेरिकी संकट का यह एक प्रमुख कारण था। वहां किसी को बचत करना आवश्यक नहीं लगा।

अमेरिकी अर्थव्यवस्था के शीर्ष पर रहकर उसे 19 साल तक चलाने वाले एलन ग्रीनस्पैन ने एक पुस्तक लिखी जिसका शीर्षक था, 'द एज ऑफ टर्बुलेन्स'। इस पुस्तक के पृष्ठ 385 पर वह कहते हैं, ''अमेरिकियों को बचत की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वे आत्मविश्वास से भरपूर हैं। उन्हें पता है कि उनकी सरकार सबका ध्यान रखेगी। पर एशियाई देशों में ऐसा नहीं होता है, हमारी सरकार से उलट उनकी सरकारें उनका ध्यान नहीं रखती हैं।'' वे असुरक्षित हैं, इसलिए उनके लिए बचत करना जरूरी है। जून, 2007 में उन्होंने यह लिखा और 15 महीनों बाद सितंबर 2018 में अमेरिकी अर्थव्यवस्था ढह गई। एलन का दावा था कि उन्हें बचत की जरूरत नहीं पर सच्चाई यह है कि अमेरिका दुनिया भर की बचत में से 75 प्रतिशत उधार ले रहा था, जिनका उद्गम एशिया से हो रहा था। जब किसी ने उनसे पूछा

कि आप ये उधार क्यों ले रहे हैं तो उनका जवाब था हम ऐसा नहीं करें तो ये अपनी बचत का क्या करेंगे? इस अहं भाव के साथ उन्होंने यह पुस्तक लिखी थी। लेकिन सब कुछ ढह गया। अमेरिकी कांग्रेस ने जब उन्हें बुला कर पूछा कि बताईये यह कैसे हुआ?

उन्होंने कहा मुझे नहीं पता, मैं खुद हक्का-बक्का हूं। सब कुछ ढह गया, सारे सिद्धांत भरभरा कर गिर गए, कंप्यूटर नाकाम साबित हुए और यहां तक कि नोबल पुरस्कार से नवाज़े जा चुके सिद्धांत भी नाकारा साबित हुए। इस संदर्भ में आपको भारतीय मीडिया में कोई विश्लेषण नहीं मिलेगा।

हमारे यहां भी बाहुक नाम का एक अर्थशास्त्री हुआ है। वह जरासंध तथा उसके दामाद कंस का सलाहकार था। उसने वह सिद्धांत दिया था जिस पर आज अमेरिका चल रहा है। अमेरिका में बच्चों को माता-पिता की परवाह करने की जरूरत नहीं, माता-पिता को बच्चों की परवाह करने की आवश्यकता नहीं, पति को पत्नी का ध्यान रखने की जरूरत नहीं, पति-पत्नी के अलग-अलग खाते होंगे, वित्तीय राज के मामले में दोनों में से कोई दूसरे को जानकारी के लिए बाध्य नहीं कर सकता है; व्यक्तिवाद का वर्चस्व है। किसी की जिम्मेदारी नहीं है, कोई देख-रेख नहीं करेगा। बाहुक ने कंस को पांच हजार साल पहले यह रास्ता सुझाया था। कंस चाहता कि लोग उससे नफरत न करें। बाहुक ने सोचा कि बच्चों को मारने वाले तथा दूसरों की संपत्ति को हड़पने वाले को भला कोई कैसे प्यार करेगा। लोग ऋषियों की ओर देखेंगे और ऋषियों को कोई रिश्वत नहीं दे सकता। इन्हीं शब्दों का उसने इस्तेमाल किया था। अंततः बाहुक ने कंस को सुझाव दिया कि खजाने के द्वार खोल दो और लोगों को सब कुछ मुफ्त देना शुरू कर दो तथा बच्चों को ये बताओ कि माता-पिता का ध्यान रखने की आवश्यकता नहीं है। महिलाओं को यह सोचने के लिए बाध्य करो कि चरित्र के बजाए यौन उन्मुक्तता ज्यादा महत्वपूर्ण है। बिना गहन संबंधों और प्रेम के लोग पूरी तरह से तुम पर निर्भर होंगे। बाहुक ने यह सरल सुझाव कंस को दियाः परिवारों का राष्ट्रीयकरण कर दो। अमेरिका ने परिवारों का राष्ट्रीयकरण कर दिया और सरकार का निजीकरण।

यह विकृत अर्थशास्त्र लोगों के मूल स्वभाव के विपरीत है, जिसे दीनदयाल जी ने चित्ति कहा है। समाज का परिचालन आपको अपने आस-पास की हर चीज से जोड़ता है-प्रकृति, पेड़-पौधे आदि, इससे कुछ नहीं छूटता। महाभारत के विराट पर्व में एक श्लोक में कहा गया है कि बाघ जंगलों के बिना नहीं रह सकते और जंगल बाघों के बिना। हमने एक तुलनात्मक अध्ययन किया; 1900 में भारत में वन क्षेत्र 42 प्रतिशत था और बाघों की संख्या 40,000 थी, आज हमारे पास 1800 बाघ हैं और वन क्षेत्र 19 प्रतिशत है। इस संदर्भ में हमने वनों की रक्षा के लिए कानून बनाया। वनों की रक्षा वन्य जीवों से होगी, कानूनों से नहीं। बात बड़ी सीधी है मानव का स्वभाव ही ऐसा है कि वह पेड़ काटेगा ही, हालांकि सिद्ध लोगों ने हमेशा यही कहा कि पेड़ नहीं काटने चाहिए।

हमारे गांव में प्रथा है कि बिना पेड़ की अनुमति के आप उसे काट नहीं सकते हैं। अनुमति कैसे मांगी जाती है? आप पेड़ के तने पर एक चिट्ठी बांध देते हैं जिसमें लिखा जाता है कि मुझे आपको मजूबरन

काटना पड़ेगा। इसके बाद अगर अगले 15 दिनों में मेरे घर कोई अनिष्ट या अपशकुन नहीं हुआ तो मैं मानूँगा कि अनुमति मिल गई है। ये है आपके बीच और प्रकृति का संबंध। हमने अपने घर की संरचना में इस प्रकार का बदलाव किया कि वृक्ष काटना न पड़े। हमारा वृक्षों के साथ एक संबंध था। यही एकात्मता है। मैं अत्यंत प्रसन्न हूं कि मुझे अपने पिछले 25 वर्षों अध्ययन के आधार पर कुछ विचार आपसे साझा करने का मौका मिला।

❖❖❖

1992 में दीनदयाल शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित संकलन में मूल लेख

एकात्म मानवदर्शन के सन्दर्भ में विकास का भारतीय प्रतिमान

– डॉ. मोहन राव भागवत, सरसंघचालक राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ

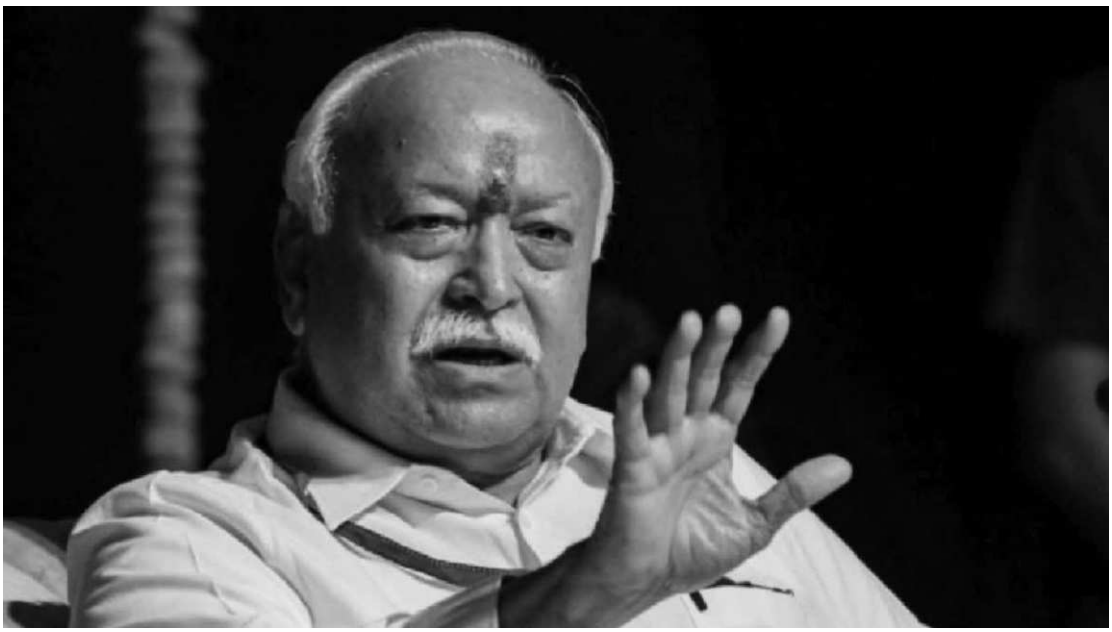

चित्रकूट तीर्थ स्थल है। आधुनिक समय में भी धर्म का अर्थ समाज को धारण करने वाला, समाज को ऊपर उठाने वाला और समाज को जोड़ने वाला होता है। उस अर्थ में नानाजी की तपस्या और उद्यम से आधुनिक अर्थ में चित्रकूट तीर्थ बन गया है। विकास हो, यह सब चाहते हैं। लेकिन, विकास होना है तो क्या होना है, यह तय करना पड़ता है। जो हर एक का अलग-अलग हो सकता है। हर एक का यानी जीव जन्तुओं का विकास अलग बात है, पेड़ पौधों का विकास अलग बात है, मनुष्य का विकास एक अलग बात है।

विकास का नाप सबका एक-सा नहीं होता। कोई बच्चा पांचवीं-छठीं में पढ़ने वाला साइकिल चलाना सीख लेता है तो हम कह सकते हैं कि उसका विकास हुआ। उसने एक नई बात सीख ली। लेकिन, सर्कस में हाथी भी साइकिल चलाता है तो हाथी का विकास उसको नहीं कहते। पैसे देकर, टिकट लेकर हम सर्कस देखने जाते हैं। हाथी साइकिल चलाता है तो ताली भी बजाते हैं। लेकिन, कोई कहे कि

हाथी का विकास साइकिल चलाना है तो हम उसको मान्य नहीं करेंगे। हाथी तो जंगल का प्राणी है। वह जंगल में स्वतंत्र रूप से रहे फले-फूले यही उसका विकास है।

हम भारत का विकास कहते हैं, तो भारत के लिए विकास का कुछ अर्थ है। अमरीका के विकास का अर्थ और भारत के विकास का अर्थ एक-सा नहीं होता। सर्वत्र इस प्रकार की दृष्टि लेकर विकास का विचार होना चाहिए। हमारे यहां पर परंपरा से विकास तब माना गया है जब एक साथ सबका विकास होता है। मनुष्यों के हाथ में जब पैसा बढ़े, तो पैसा बढ़ने के साथ-साथ शालीनता बढ़नी चाहिए। ये विकास का एक पहलू है।

धनवानों की कथाएं हमारे यहां नहीं चलती, पश्चिम में चलती हैं। उन धनवानों ने धन कमाने के लिए क्या-क्या किया, इसको वो भूल जाते हैं। बस उसने धन कमाया है। सत्ताधीशों की कहानियां चलती हैं। सत्ता प्राप्त करने के लिए क्या-क्या किया, यह वह लोग भूल जाते हैं। उनकी कृति की डंका वहां बजाते हैं। हमारे यहां ऐसा नहीं होता, हमारे देश में राजा-महाराजाओं की, धनपतियों की कथा नहीं चलती। हमारे यहां तो सब कुछ छोड़कर लंगोटी पहनकर कोई आ जाता है, तो उसके चरण छूने के लिए होड़ लगती है। हमारे यहां राजाओं की कथा चलती है। उस राजा की चलती है, जिसने पितृ वचन पालन के लिए राज्य छोड़कर वनवास को स्वीकार किया। हमारे यहां धनवान की कथा चलती है। उस धनवान की चलती है, जिसने जीवन भर की गाढ़ी कमाई को और कुछ जोड़कर आजादी की लड़ाई लड़ने वाले महाराणा प्रताप को समर्पित कर दिया। हमारे यहां धन का महत्व दान में और शक्ति का महत्व सज्जनों के रक्षण में है।

हमारी विकास की अपनी कल्पना है। उसका कहीं प्रयोग नहीं हुआ था। क्योंकि प्रयोग करने के लिए कोई तैयार नहीं था, क्योंकि उन्हें विश्वास नहीं था। विश्वास था, तो साहस नहीं था। इसलिए विकास का जो ढर्रा सर्वत्र चलता है, उसमें सरकार नाम का एक ठेकेदार होता है उसको अपना सारा ठेका दे देते हैं, उसको पैसा देते रहते हैं जो करना है वह करे। हमारे यहां ऐसा नहीं सोचा गया। सरकार का अपना कर्तव्य है। सरकार की नीतियां बहुत परिणाम करती हैं। लेकिन नीतियां बनाने वाली सरकार को बनाने वाला समाज होता है। सरकार भले ही नीतियां बनाए और चलाए उसको जमीन पर चलाने वाला, और चलने देने वाला समाज होता है। समाज मालिक है। मालिक सोया तो क्या होगा?

एक भला आदमी था देहात में। बहुत परिश्रम करता था। उसके पास तीस-चालीस एकड़ जमीन थी। पानी की व्यवस्था भी थी। परिश्रम करता था, इसलिए अच्छी खेती होने लगी। वैभव बढ़ने लगा। धान की खेती करता था। धीरे-धीरे उसमें राईस मिल डाल दी। एक डेरी भी खड़ी कर दी। कई प्रकार के उसने ऐसे और कारोबार खड़े किए। आदमी अच्छा था। सबको देता था। सम्पति मिली, कीर्ति मिली, लोग हाथ जोड़कर कहते थे कि बड़ा पुण्यात्मा है। ऐसा वह यशस्वी था।

उसका एक बेटा था। बूढ़ा हो गया तो उसको लगा कि धीरे-धीरे बेटे को देना चाहिए। सो पिताजी ने हुनर सिखाया, उसने सीख लिया। एक दिन उसके हाथ में सारा सौंपकर पिताजी निवृत हो गये और दो-तीन वर्षों के बाद भगवान को प्यारे हो गये। पिताजी चले गये, लड़के पर सारी जिम्मेदारी आ गई। उसने सब चीज अच्छी तरह से सीखी थीं, लेकिन क्या हुआ पता नहीं। पिताजी के जाने के बाद उसका सारा कारोबार धीरे-धीरे घटने लगा। दो-तीन वर्षों में सब कुछ बैठ गया। अब ऐसी स्थिति आ गयी कि मिल को बेच दिया जाये, तीस एकड़ जमीन में से आधी जमीन को बेच दिया जाये। ऐसी स्थिति में पहुंच जायेंगे, उसने सोचा भी नहीं था। सब उपाय करके देख लिए विकास नहीं हो रहा।

वह टोने-टोटके करने लगा। मनुष्य जब अपने पुरुषार्थ में हार जाता है, तो वह इधर-उधर की बातों में मन लगाता है। उसका भी कुछ लाभ नहीं हुआ। एक दिन गॉव में एक साधु आए। गांव वालों ने बताया कि ये जो साधु हैं, इनकी तपस्या बहुत है। और आनन्द की बात यह है कि साधु बनने के पहले ये तुम्हारे पिताजी के अच्छे मित्र रहे हैं। तुम उसके पास जाकर उपाय पूछ लो, तुमको उपाय बतायेंगे। उसने कहा-ठीक है। मित्र भी मिल गए और महात्मा भी मिल गए। निश्चित ही कल्याण होगा, उनके हाथ में ताकत है।

महात्मा जी के पास गया, परिचय दिया अपना रोना बताया। महात्मा जी ने कहा कि अच्छा ऐसा करो कि तुम क्या-क्या करते हो बताओ। सुबह उठने के बाद रात को सोने तक पूरे दिन जो कुछ तुम करते हो वह सारा बताओ। उसने बता दिया। महात्मा जी ने कहा कि ठीक है। कल शाम को स्नान करके आना तो फिर मैं उपाय बताऊंगा। सूर्यास्त के पहले आ जाना। उसने कहा-ठीक है।

दूसरे दिन सूर्यास्त के पहले स्नान वगैरह कर वह आ गया। महात्मा जी ने उसको एक बन्द पोटली दी। और कहा कि देखो कल सुबह से ये काम करना। सूर्योदय के पहले जहां-जहां तुम्हारी खेती है, कारोबार है, बगीचा है, जो भी सब कुछ है, सूर्योदय के पहले वहां जाकर इस पोटली में जो कुछ है, वह थोड़ा-थोड़ा डालना। ध्यान रखो पोटली में क्या है ये तुम्हें देखना नहीं है। पोटली में क्या है यह किसी को पता नहीं लगना चाहिए। और पोटली में जो है, वह रोज सुबह डालकर आते हो, यह किसी को पता नहीं लगना चाहिए। ऐसा तुम साल भर करो तो उपाय हो जायेगा। उसने कहा-ठीक है।

अब सब करके थक गया था। ये क्या मामला है समझ में तो नहीं आया। बड़ा विचित्र लग रहा था, डूबते को तिनके का सहारा। तो उसने दूसरे दिन सुबह ढाई-तीन बजे उठा, स्नान करके पोटली लेकर अपने खेतों में गया। चारों कोनों में बीच-बीच में थोड़े-थोड़े अन्दर हाथ डाला तो उसको लगा कि उसमें कुछ पाउडर-जैसा है। वह थोड़ी-थोड़ी पाउडर डालता गया। राईस मिल में गया और सब जहां-जहां कारोबार थे वहां-वहां गया। सब डाल कर सूरज उगने के पहले घर में वापस आ गया। और ये रोज का क्रम उसका शुरू हो गया। उसने तो देखा नहीं कि पोटली में क्या है। पोटली में से क्या डाल रहा है वह किसी को पता नहीं चला। लेकिन, रोज अगर कोई निश्चित स्थान पर जाए तो पता तो चलता ही है।

पहले घर वालों को पता चला कि सुबह उठकर अनुष्ठान कर रहा है। वह बाहर जाकर करता है। इधर-उधर बात हो गयी गपशप में लोगों को भी पता चल गया। सबको पता चल गया। खेत में जो मजदूर आते थे उनको भी पता चल गया कि मालिक बहुत पहले खेत में आकर चला गया। सबको पता चल गया। सब चौकन्ने हो गये। मालिक सबसे पहले उठकर जाता है तो हमको वहां मौजूद रहना चाहिए। राईस मिल के नौकर वह भी चौकन्ने हो गये। मालिक आता है, सब जगह घूमता है और कुछ देख रहा है, तो कहीं पर भी उसको कोई गलती न मिले, नहीं तो नौकरी जायेगी। वह सब काम करने लगे। धीरे-धीरे सारा ठीक होने लगा।

तीन-चार महीने में ही सबकुछ ठीक हो गया। अगले साल महात्मा जी फिर आए। किसान का बेटा बहुत सारे फल-फूल, धन-धान्य लेकर उनके पास पहुंचा। आदर पूर्वक उनकी पूजा की। यह सारा उनको दिया। उन्होंने कहा कि यह सब नहीं चाहिए, लोगों में बांट दो। महाराज ऐसा कैसे? क्या हुआ, तो बोले आपने जो मंत्र दिया, पता नहीं इस पोटली में कौन-सा भस्म आपने भरा है। आपने साल भर का तीन-चार महीने में ही ठीक कर दिया। अब तो मैं बहुत सुखी हूं। ये आपका ही उपकार है।

साधु बोले-नहीं, यह मेरा उपकार नहीं है। ये सब बांट दो लोगों में। यह तुम्हारा अपना किया हुआ है। यह भस्म खोल कर देखो। खोलकर देखता है तो उस पोटली में धूल पड़ी थी। यह तो धूल जैसा दिख रहा है। बोले कि धूल ही है। तुम शाम को आने वाले थे। उसके पहले मैने पीछे के आंगन में जाकर सारी धूल जमा कर तुमको दे दी। ये धूल का चमत्कार नहीं है। मैंने तुमको दिन भर क्या करते हो, यह पूछा तो पता चला कि तुम्हारे पिताजी सुबह चार बजे उठकर काम में लग जाते थे, लेकिन तुम तो सात बजे उठते हो। मैंने अनुमान लगाया कि मालिक सोता है, तो नौकर भी सोते होंगे। काम ठीक नहीं होते होंगे। इसमें कौन-सा आश्चर्य है। उपाय तो इसको जगाना है। तुम अगर सुबह उठकर काम करने लगे तो अपने आप सब ठीक हो जायेगा। इसलिए मैंने तुमको सुबह दो-दो कण डालने को कहा था। जो तुमने चार महीने किया, उसका परिणाम तुम देख रहे हो। ये सब तुम्हारा किया हुआ है। तुम जागो, तुम करो तो सब करेंगे।

नानाजी ने यही किया। सरकार पहले भी थी, योजनाएं पहले भी थीं, आज भी हैं और योजनाएं कल भी रहेंगी। समाज पहले भी था। हम सब यहीं के रहने वाले हैं। नानाजी बाद में आए यहां रहने के लिए, लेकिन नानाजी ने हमको जगाया। हमारे यहां पर समाज जाग कर अपना विकास कर लेता है। बाकी जगह क्या होता है, पता नहीं। अपने पुराणों में ऐसा ही है कि द्रौपदी का चीरहरण हो रहा था। भगवान कृष्ण सर्वसमर्थ थे। द्वारका में उनको पता चला कि कुछ गड़बड़ हो रहा है। वहीं से अगर अपनी भृकुटी टेढ़ी कर देते तो एक क्षण में सारा कौरव कुल भस्म करने की ताकत उनमें थी। उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने वस्त्र देकर इज्जत बचाई। ये कृपा है भगवान की। वह तब तक आये नहीं, जब तक पांडव शमी के पेड़ से अपने शस्त्र उतारकर धर्म के लिए लड़ने के लिए सज्ज नहीं हुए। उसके बाद भी लड़ना पांडवों

को पड़ा, कृष्ण ने केवल उनका रथ चलाया। जिसकी लड़ाई हो, वह उसी को लड़नी पड़ती है। भगवान भी तब सहायक होते हैं, जब हम अपना काम करने लगते हैं। नानाजी ने यही किया।

ग्राम समितियां बनाई। एक सरकार है, उसकी योजनाएं हैं। ग्रामीणों को उसका ज्ञान नहीं रहता। उनको ज्ञान देना शुरू किया। पहले अपने गांव को झगड़ा व कलह मुक्त बनाओ, व्यसन मुक्त बनाओ, साक्षर बनाओ। समाज को जगाना है, समाज को जगाने का काम भी समाज से होना चाहिए। ये अपना ही समाज है। लोग कहते हैं कि हम समाज का काम करते हैं, यानि किसका काम करते हैं। हम ही समाज हैं। समाज का काम करना, समाज पर कोई उपकार नहीं है। हम अपना काम करते हैं। माता पुत्र का लालन-पालन करती है। हम कहते हैं माता के बहुत उपकार हैं। माता समझती है क्या? वह कहती है-मेरे अपनों के लिए किया। पुत्र भी बड़ा होकर अपने माता-पिता को सुख से रखता है। माता-पिता कहते हैं-बड़ा अच्छा पुत्र है। अच्छा क्या है? स्वाभाविक बात है। आप हमारे अपने हैं, आपको अच्छा रखना हमारा काम है। नानाजी भी कहते थे सार्वजनिक कार्यकर्ता को अपना काम करना नहीं होता है। वह अपनों के लिए काम करता है।

राजनीति में सारे पद, प्रतिष्ठा का लाभ-मोह छोड़कर, नानाजी चित्रकूट में रहने के लिए आए। पहले गोण्डा में गये, फिर चित्रकूट आए। भारत में पांच जगह पर काम शुरू किया। उन्होंने तो अपनों के लिए काम किया। इस अपनत्व के भरोसे पर समाज चलता है। पहले पांच सौ बारह गांवों में कलह मुक्त गांव का माहौल बनाया कि कोई झगड़ा-विवाद बाहर नहीं जायेगा। गांव के गांव में उसका निदान हो जायेगा और गांव विवाद मुक्त हो जायेगा। ऐसी पांच बातें उन्होंने खड़ी की। सदियों से उपेक्षित दुर्बल समाज में थोड़ी-सी जान आ गयी। समाज जग गया और तीन-तीन पंचवार्षिक योजना में जो न हो सका, वह यहां तीन साल में खड़ा हो गया। हमारे विकास का यह रास्ता है।

गांव का विकास भारत का विकास है। कहते सब हैं लेकिन गांव के विकास में करना क्या है? आज के गांवों में दो बातें हैं। प्राचीन परंपरा के जो अपने गांव हैं, उसमें जो कला है, संस्कृति है, आत्मीयता है, सम्बन्धों की कदर है वह कुछ-कुछ तो अभी भी बची हुई है। वह अभी भी देखने को मिलता है। पुराने जमाने के गांव स्वयं पूर्ण होते थे, सुविधा संपन्न होते थे, अच्छे-अच्छे देश के विद्वान, जिनकी प्रज्ञा का अध्ययन आज की दुनिया कर रही है, ऐसे विद्वान गांव में रहते थे। शहरों की प्रयोगशालाएं हमारे यहां नहीं थी। खेत में काम करने वाले गांव के किसानों ने हमारे किसानी की तांत्रिकी तैयार की है। जिससे आज भी कई चमत्कार हो सकते हैं। गौ का उपयोग जैसा हमारे देश ने किया, वैसा किसी ने नहीं किया। हमने उपयोग नहीं किया। हमने सम्बन्ध जोड़ा। हमने गौ माता कहा। हम सृष्टि का उपभोग नहीं करते। जैसे बालक माता का दूध पीता है, वैसे ही हम सृष्टि से जीवन के लिए आवश्यक ही लेते हैं और अपनी शक्ति को सृष्टि के परिवर्धन के लिए लगाते हैं। क्योंकि हम सम्बन्ध जोड़ते हैं।

हमारे विकास का यह तरीका कहां से आया? हमारे जंगलों से और कृषि से आया है। उस विकास से पर्यावरण की खराबी नहीं होती। वह विकास मंहगा नहीं होता। वह विकास उर्जा की सम्पत्ति को नष्ट करने वाला नहीं होता। अब आधुनिक समय में उसी तत्व को एक नये रूप में खड़ा करना है। उसका कोई उदाहरण तो खड़ा हो। वह उदाहरण नानाजी ने चित्रकूट में खड़ा किया। उस जागृति के कारण विकास के दो आधार स्तंभ या तीन आधार स्तंभ यहां पर ठीक से खड़े हैं। एक शासन की नीति, दूसरे प्रशासन की कृति और तीसरे समाज की गति यानी समाज का स्वयं चलना और समाज द्वारा इनके चलने पर ध्यान रखना ये दोनों बातें। ये तीनों विकास के आधार स्तंभ यहां पर खड़े हैं, इसलिए विकास हो रहा है। सारे देश में ऐसा होना पड़ेगा। हो सकता है क्या?

चित्रकूट को देखते हुए, भारत में और भी ऐसे केन्द्र खड़े होने लगे हैं। अब हम विदेशों के लोगों को भी कह सकते हैं कि हमारी विकास की कल्पना क्या है? जानना चाहते हो तो चित्रकूट में जाओ, बनखेड़ी में जाओ, इधर जाओ और उधर जाओ। क्योंकि दुनिया को एकात्म और समग्र दृष्टि की जरूरत है। उसके आधार पर कुछ हो सकता है उसके उदाहरण उनको भी देखने हैं। ये सारा खड़ा हुआ है। ये तीन शक्तियां तो हैं विकास की कारक जो यहां पर खड़ी है। जो सामने नहीं आती, जो अपना गुणगान नहीं करतीं, अपनी कृति अपनी मान प्रतिष्ठा का ख्याल नहीं रखती। वह अपना काम करती रहती है। जैसे ही विकास के कारक धाराओं को अपनी करनी से ऐसा ही जारी रखेंगे, तो हम आगे बढ़ते जाएंगे। विकास की कोई मर्यादा नहीं होती। इतना आगे, इतना आगे कि जिसका कोई छोर नहीं। जहां पूर्णतः ही मर्यादा हो वहां सीमाओं की डोर नहीं। वह विकास होता है। नर का नारायण बनने तक विकास होना चाहिए। परिश्रम चलता रहेगा, लेकिन साथ-साथ वह गुप्त सरस्वती की धारा भी प्रवाहित रहनी चाहिए। वह क्या है?

एक राजा जंगल में शिकार के लिए गया। बहुत सारे लोग थे। शिकार खेलते-खेलते पूरा मंत्रिमंडल साथ में था। उसके सरदार और सेना साथ में थी। हजार-बारह सौ लोग थे। शिकार तो मिलने से रहा, क्योंकि हजार-बारह सौ लोग जंगल में जायेंगे तो शिकार रहेगा क्या? पहले ही भाग जायेगा। खोजते-खोजते सूरज डूब गया, रात को कहां जाएं? जंगल में रास्ता भटकते-भटकते एक जगह पहुंच गये।

जहां एक कुटिया थी। मिट्टी का दीपक जल रहा था। अन्दर एक योगी बाबा ध्यान लगाये बैठे थे। राजा नम्रता पूर्वक गये, हाथ जोड़कर बैठ गये। योगी बाबा का ध्यान खुला और उन्होंने देखा तो देखते ही पहचान गये कि राजा हो। हां–कैसे आए हो। महाराज रास्ता भटक गए, देर हो गई, जंगल में भटक कर बहुत थक गये। कुछ आसरे की व्यवस्था हो जाए, भोजन पानी की व्यवस्था हो जाए, वह खोज रहा हूं। रास्ते में आपकी कुटिया दिखी इसलिए दर्शन करने के लिए आया। आपको कोई रास्ता पता है ऐसे स्थान पर पहुंचाने वाला। अब तुमको कहीं जाने की आवश्यकता नहीं। वह जो सामने वृक्ष दिख रहा है। वह एक बगीचा है। तुम वहां चले जाओ सारी व्यवस्था हो जाएगी।

राजा दो-तीन फर्लांग सेना सहित चला गया। जैसे ही उसने उस बगीचे में प्रवेश किया, तो लोग दौड़ कर आ गये। सेवक आ गये। ठंडा पानी, गरम पानी लेकर आए, सबके पैर धोए, गुड़ की डली खिलाकर सबको पानी पिलाया और कहा-थोड़ी देर विश्राम कर लीजिए, थोड़ी देर में भोजन की व्यवस्था हो रही है। सबका भोजन हो गया। बहुत अच्छा भोजन आराम से करके राजा ने रात भर विश्राम कर लिया। सूरज उगते ही सेना तैयार हो गई, बाहर निकली और वापस कुटिया में गई। योगी बाबा बैठे थे। प्रणाम किया। राजा ने कहा बहुत अच्छी व्यवस्था है, यह किसकी बनाई हुई है। बोले-ये मेरी ही सिद्धि है। इसलिए यहां बैठा हूं । बोले-इतनी अच्छी व्यवस्था होती है, आप यहां खपरैल की कुटिया बनाकर तपस्या में रत हो, खाने का कोई ठिकाना नहीं, कुछ नहीं। आप इतनी असुविधा में क्यों रहते हो। आप वहां बगीचे में क्यों नहीं रहते, वहां आपकी रोज खातिर हो जायेगी। उन्होंने कहा-देखो, हम खपरैल की कुटिया में रहकर आधा पेट रहकर साधना करते हैं, इसलिए ऐसा बगीचा बनता है। नहीं तो नहीं बनता। हम ऐसे हैं इसलिए वहां वैसा है। ये तपस्या यहां पर हुई है। पद, मान, प्रतिष्ठा सब छोड़कर नानाजी जाकर बैठ गये। कुछ साल गोण्डा में बैठे, बाद में चित्रकूट में आकर बैठ गये। यहां उन्होंने तपस्या की।

उस तपस्या में उनके बराबर नहीं लेकिन जितनी हमसे हो सकती थी, उतनी तपस्या हमने की। हमारी सामूहिक तपस्या हो गई। यहां पर जंगल में नन्दनवन हम खड़ा कर पा रहे हैं। ये तपस्या की गुप्त सरस्वती जारी रहे, इस प्रकार हम सब लोग बनते रहें, हमारी पीढ़ी को इस प्रकार विचार वाले और कृति वाले बनाते रहें। यह भी काम साथ-साथ चलता रहे इसकी आवश्यकता है। लोग ऐसे बनें कि तपस्या करने से पीछे न हटे। चाहे जितनी कठिन परिस्थिति लगती हो। चाहे जितनी बात विपरीत लगती हो। विवेक बुद्धि से जिस गंतव्य को हमने मान लिया है कि हमको करना है, उसकी ओर इंच-इंच पूरी शक्ति लगा कर बढ़ते रहना है। किसी दिन जैसा स्वप्न देखा था, वैसा ही सब पूरा हो रहा है। ये दृश्य भी मनुष्य को अपने जीते जी देखने को मिलता है।

विकास का भारतीय प्रतिमान एकात्म मानवदर्शन के सन्दर्भ में, सुनते ही एक बिंदु मन में आता है। अभी तक दुनिया जो चल रही थी, यह मानकर कि विकास का एक ही प्रतिमान सब जगह लागू होना चाहिए। ऐसा मानकर जो शक्तिमान देश थे, वे मानकर चलते थे कि सम्पूर्ण दुनिया का विकास करने का ठेका उनके पास है। अन्तर्राष्ट्रीय मंच भी उनके प्रभाव में थे। यह प्रभाव इसलिए चला कि विकास की इस मॉडल को सबको अपनाना पड़ेगा और अपनी विशेषताओं को भूल जाना पड़ेगा। वह जागृतिक प्रतिमान है। उसको सबको स्वीकार करना पड़ेगा, पुरानी संस्कृतियों को छोड़ देना पड़ेगा, मूल्यों आदि की पुरानी कल्पनाओं को भूल जाना पड़ेगा। उनकी केवल और केवल व्यक्तियों की आर्थिक उन्नति, इस लक्ष्य को लेकर उसी प्रतिमान के अन्दर सबको चलना पड़ेगा।

सन् 1951 में उनकी उद्घोषणा में यह कहा गया है। तब से आज तक उनके प्रयोग चले। उन प्रयोगों का फल सारी दुनिया में मिल रहा है। उसके कारण 1998 से धीरे-धीरे उन्होंने अपने आप को बदलना

प्रारम्भ किया और 2008 तक पूरा यू-टर्न कर लिया। अब कहते हैं कि विकास का कोई एक प्रतिमान सर्वत्र लागू नहीं हो सकता। प्रत्येक देश की अपनी प्रकृति होती है, संस्कृति होती है। बिना संस्कृति के विकास का कोई अर्थ नहीं। प्रत्येक देश को अपनी-अपनी संस्कृति के अनुसार अपने विकास का मॉडल चुनने का अधिकार है। हम लोग जो संस्कृति के आधार पर विकास की बात करते रहते हैं, उनको छोड़ दीजिए तो भी आधुनिकतम साधनों से आधुनिकतम तकनीकी के आधार पर और धनशक्ति आदि सब शक्तियों का भंडार जिनके पास है, उन्होंने सम्पूर्ण दुनिया में विकास करते समय उन्होंने जो अनुभव लिया, उन्होंने उस अनुभव को इस शब्द में व्यक्त किया।

1998 से उनकी भूमिका शुरू हुई और 2008 में पूरी हुई। लेकिन, कभी-कभी लगता है कि विकास का विचार करने वाले अपने देश के कई लोगों को इसका पता है कि नहीं। विकास एक ऐसा शब्द है जिसकी कल्पना बदलती है। हर किसी का विकास उसकी प्रकृति के अनुसार होना चाहिए।

आजकल फिल्में आती हैं, जिसमें जानवर बोलते हैं, कार चलाते हैं, सब कुछ करते हैं जो मनुष्य करता है, वह भी। कभी-कभी लोकप्रिय हो जाते हैं। लेकिन, अनुभव लिये बिना आदमी का कोई स्वभाव बदलता नहीं है, ऐसा मनुष्य के स्वभाव में है। यह सिद्ध हो गया है कि प्रत्येक देश के विकास का अपना प्रतिमान होना चाहिए। उसकी प्रकृति-संस्कृति पर आधारित प्रतिमान होना चाहिए। विकास का भारतीय प्रतिमान का विचार यह अत्यन्त सामयिक है। भारत का विकास, भारत की प्रकृति और संस्कृति के आधार पर होगा तो भारत की प्रकृति क्या है, भारत की संस्कृति क्या है, इसका विचार करना ही पड़ेगा। देश की संस्कृति एक-दो दिन में तो बदलती नहीं। देश के अस्तित्व के प्रारम्भ से आज तक जिन-जिन अनुभवों में से जो गया है, उस अनुभवों को अपने स्वभाव के आधार पर उसके जनमानस की संस्कृति बदलती हैं। हमारा देश अत्यन्त प्राचीन अखंड जीवन वाला देश है। बहुत सारे उतार-चढ़ाव की परिस्थिति को हमने देखे और झेले हैं।

देश काल और परिस्थिति के बदलते हुए, अनेक रूपों को धारण किया, अनेक रूपों का त्याग किया। परन्तु एक समझदारी, एक सूझ-बूझ, एक स्वभाव, प्राचीन समय से अब तक अपने यहां चलते आया हुआ दिखता है। अब प्राचीन समय बहुत प्राचीन है, आज का समय आज का समय है। उस संस्कृति को देश काल की परिस्थिति के अनुरूप ढालना पड़ता है या उसका रूप ऐसा ढालना पड़ता है, निखारना पड़ता है, संवारना पड़ता है।

पं. दीनदयाल जी ने एकात्म मानवदर्शन दिया। भारत के स्वभाव का बनने का कारण है, जैसा स्वभाव है, भारत वैसा क्यों बना? इसका कारण यही है कि सम्पूर्ण विश्व को समय-समय पर इस प्रकार से अपने उदाहरण से सिखाने का प्रयोजन है। यही भारत के जन्म का प्रयोजन है। और उस प्रयोजन को जब सार्थक करना होता है, सिद्ध करना होता है, तब तक उस पथ पर चलकर भारत बड़ा होता है। दुनिया

के बाकी देशों का उदय कैसा हुआ है, उसका अपना इतिहास है। एक सामान्य सूत्र मिलता है। मनुष्य जाति है। मनुष्य यह जानता है कि एक अकेला वह सृष्टि का सामना नहीं कर सकता, क्योंकि प्रकृति ने मनुष्य को अत्यन्त दुर्बल बनाया है। अकेला एक मनुष्य अगर है, उसके पास तकनीकी विज्ञान कुछ नहीं है, तो एक मच्छर भी उसको परेशान करके मार सकता है। वह मच्छर का कुछ नहीं बिगाड़ सकता है। इतना दुर्बल प्राणी मनुष्य है। मनुष्य ने सोचा कि जीवन में टिकना है तो समूह बनाकर चलना पड़ेगा। समूह बनाने के लिए कोई आधार चाहिए तो मनुष्य ने वह आधार-निर्माण अपने मन से किया। जहां जो चल गया वहां चल गया। कहीं पर संघर्ष हुआ। उस संघर्ष में ही सहज से चार लोगों का या पांच प्रजाओं का आपस में सम्बन्ध हुआ। उसमें से ही भाषा विकसित हुई। कालान्तर में उस भाषा के आधार पर सब लोग एक हो गए। अभी भी भाषा में थोड़ा इधर-उधर होने लगा और उनकी एकता ढीली पड़ी। आयरलैंड और इंग्लैंड का संघर्ष तो चल ही रहा है। स्काटलैंड भी अलग पार्लियामेंट मांग चुका है। अंग्रेजी भाषा उनकी एकता का आधार है। किसी ने किसी एक विशिष्ट पंथ को अपना सहारा माना। अरबिस्तान भी बिखरे पड़े थे उनको भी इस्लाम के आधार पर एक किया गया। अब इस्लाम जब तक मजबूत है, तब तक अरबिस्तान मजबूत है, टूटेगा नहीं।

पूंजीवादी आर्थिक सिद्धांत को मानने वाले अमेरिकन हैं। उसमें जो शर्त रखी है, अगर ढीले पड़ गयी तो अमरीका के टूटने में देरी नहीं होगी। आर्थिक उतार-चढ़ाव का सबसे अधिक प्रभाव अमेरिका पर पड़ता है। वहां का अर्थ तंत्र थोड़ा इधर-उधर हो गया, तो वहां तुरन्त शोर-शराबा शुरू हो जाता है। अपने देश की कहानी इससे एकदम भिन्न है। अपने देश की प्रकृति में असुरक्षा की भावना या स्वार्थ की भावना नहीं है, क्योंकि भारत देश की इस भूमि में प्राचीन राष्ट्र का उद्‌भव जब हुआ, तब हम लोग सम्पूर्ण वैभव के शिखर पर थे। किसी से कुछ मांगने की जरूरत नहीं थी। मातृभूमि हमारी 'सुजलाम सुफलाम मलयज शीतलाम' है, जितनी जनसंख्या उस समय थी, उसमें सबको सब मिलता था। समृद्धि प्राप्त करने के लिए संघर्ष करने की जरूरत नहीं। उस जमाने में जो प्राकृतिक सीमाएं हमको मिली थी, हिमालय और सागर की उसको लांघकर कोई विदेशी यहां आए इसकी संभावना बहुत विरल थी। शत्रुओं से लड़ने का भी कोई काम नहीं। और भूला भटका अगर आ ही जाता है चलते-चलते तो आओ भैया इतने लोग खा रहे हैं, तुम भी बैठो खाओ। वह कहता है कि मेरी भाषा अलग है, मेरी देवी-देवता अलग हैं। तो अलग हैं तो क्या हमारे पहले से ही ज्यादा है। तैतीस करोड़ तो पहले से ही हैं। हर पचास, सौ, पांच सौ साल में नई देवी देवता आते हैं। हरि बाबा पहले नहीं थे, संतोषी माता पहले नहीं थी, सत्यनारायण की पूजा बहुत पुरानी नहीं है। तो हमको इसकी आदत है। तुम भी एक नई विविधता लेकर हमारे यहां बस जाओ।

हमारी पृथ्वी माता सहस्त्र धाराओं से सबको दूध देने वाली गाय के समान है। ऐसी भूमि मिलने के कारण सब समृद्धि होने के बाद अब सत्य को खोजो, क्योंकि समृद्धि से तृप्ति मिलीं, यह महसूस हुआ। यह पहला अनुभव है कि बाहर से कोई सुख नहीं मिलता। सुख के कितने भी साधन आपके पास हों।

सुखी होना यह अलग बात है। हम रोज के जीवन में यह अनुभव लेते हैं। वह सुख मेरे मन के अन्दर है। उस मन को साधो। सुख मिल जाएगा। यह पहला साक्षात्कार है हमारे लोगों का, जो हमारे स्वभाव को बनाता है।

बाकी सारी दुनिया वैचारिक रूप से, सारी प्रकृति अपनी उपभोग के लिए है, ऐसा मानकर सुख खोजती है। हमारी परम्परा से हम सीखते हैं कि बाहर सुख मत ढूंढ़ो। ऐसा होने के कारण फिर मन का सुख कहां मिलेगा। इस मन को सुखी करना है तो उसको शान्त करना पड़ेगा, उसकी चंचलता को समाप्त करना पड़ेगा, सुख-दुख, राग-द्वेष, लाभ-अलाभ सब प्रकार के द्वंद्वों से ऊपर उठकर वह सदा सर्वदा शान्त बना रहे, ऐसी स्थिति में उसको लाना। उसके लिए आलम्बन क्या है, उसके लिए आधार क्या है, उसको खोजने के लिए लोगों को लाना।

भारतीय परम्परागत विचार धाराओं में कई प्रकार के मतभेद हैं, परस्पर विरोधी मत भी हैं। लेकिन एक बात सबकी समान है। जो कोई हम समझते हैं कि वह उस आलम्बन से अपने मन को स्थिर करो, अपने मन को निर्मल बनाकर, अपने मन को शान्त रखो, उसके बिना उद्धार नहीं है, उसके बिना सुख नहीं है। इसलिए उस सुख को प्राप्त करना परम जरूरी है। बाकी दुनिया कैसी, उनकी मान्यता कैसी है? सहज समझ में बात आती है कि सुख चाहिए तो शरीर को सुख चाहिए। अच्छा खाने को चाहिए, अच्छा रहने को चाहिए, अच्छा पहनने को चाहिए और ये सारी बातें उसको मना नहीं है फिर भी है। उसको ठीक से रखना पड़ेगा, उसको स्वस्थ रखना पड़ेगा, उसको सुन्दर रखना पड़ेगा। शरीर की जो आवश्यकताएं हैं उसको पूरी करनी ही पड़ेगी। शरीर की इच्छाएं होती हैं उसकी पूर्ति करना यह धर्म है। इसको काम पुरुषार्थ कहा गया है। काम पुरुषार्थ की पूर्ण मान्यता अपने परम्परा में है, लेकिन उसका समाधान करना है तो साधन जुटाओ, उसके लिए पुरुषार्थ करो। साधन जुटाने के लिए पुरूषार्थ को नाम दिया गया 'अर्थ।' अब शरीर के सुख के लिए काम पुरुषार्थ और अर्थ पुरुषार्थ दोनों अनिवार्य हैं दोनों की मान्यता है। दुनिया का यह भी अनुभव है कि ऐसा पुरुषार्थ करने के बाद भी इसके ऊपर उठना पड़ता है, इससे अलग होना पड़ता है, नहीं तो समाधान कभी नहीं मिलता है। मुक्त होना पड़ता है। इच्छाओं और वासनाओं के ऊपर उठना पड़ता है। उनको पूरा करने की और साधन जुटाने की होड़ में जो भागदौड़ होती है उससे कभी-कभी निवृत होकर शान्त होना पड़ता है। इसलिए तीसरा पुरुषार्थ इन सब बातों से मुक्ति पाना यानि मोक्ष। हमारी भाषा में मोक्ष। अलग-अलग जगह अलग-अलग नाम हो सकते हैं। इन तीन बातों को सारी दुनिया जानती है। सारी दुनिया में इन तीनों बातों की मान्यता है। हमारे यहां भी हमारी परम्परा में इन तीनों बातों की अलग-अलग मान्यता है, लेकिन ये एक साथ चलते हुए कभी दिखाई नहीं देते। इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए साधन जुटाने में इच्छाएं ऐसी ही रह जाती हैं। साधन जुटाने में ही सारा समय जाता है। इच्छापूर्ति की ओर लग जाओ तो उद्योग रह जाता है। इच्छापूर्ति के साधन नहीं जुटते। साधनों को जुटाने की भागदौड़ में शामिल हो जाओ, इच्छापूर्ति के लिए समय नहीं रहता। इससे मुक्त

होना है तो फिर एकदम अलग हो जाएं। अगर मुक्त होना है तो अर्थ काम दोनों को छोड़ दो। मोक्ष पुरुषार्थ यानि अर्थ काम का पूर्ण वर्जन। दुनिया में दोनों साथ नहीं चल सकते। एक-एक व्यक्ति की अपनी सत्ता है, हमारा अनुभव है मुझे यह चाहिए, मुझे यह नहीं चाहिए, मुझे यह अच्छा लगता है, मुझे यह अच्छा नहीं लगता, मुझे लगता है कि यह होना चाहिए। होता है तो आनन्द है। मेरा अपना सुख है, मेरी अपनी कल्पना है, मेरी अपनी इच्छा है, मेरी अपनी कल्पना है, मेरा अपना अधिकार भी है। मेरा अपना सुख इन बातों की तृप्ति में है तो मुझे परिवार को कभी-कभी उसके सुख से वंचित रखना पड़ता है। क्या करूं।

मेरी सब इच्छाओं की पूर्ति हो, ऐसा मानकर मैं चलूं तो मैं परिवार के साथ नहीं रह सकता, क्योंकि परिवार में सबको अपनी इच्छाओं का दमन करना ही पड़ता है। एक परिवार बड़ा होना चाहता है, तो उसके बड़े होने पर समाज की मर्यादा आती है। समाज अपना विकास करना चाहता है, तो सृष्टि की मर्यादा आती है। तो क्या करें? तरह-तरह के प्रयोग हुए हैं। व्यक्तिवाद आया है। व्यक्ति ही बड़ा है, एक व्यक्ति ही यूनिट है, वही बड़ा होगा। बाकी सब उसके फायदे के सौदे हैं। परिवार यानि क्या है, फायदे का सौदा है। कच्ची आयु में जब अपनी कमाने की अक्ल नहीं रहती, अपनी सुरक्षा की अक्ल नहीं रहती तो परिवार ही उसका संरक्षण करता है। बदले में, अगर उसकी मर्जी है, कमाकर वह परिवार का भरण-पोषण तो करता है या नहीं करता-यह व्यक्ति का अधिकार है।

समाजवाद आया उसने कहा कि नहीं-नहीं व्यक्ति नहीं, व्यक्ति तो केवल समाजरूपी यंत्र का एक पुर्जा है। उसकी इच्छा है नहीं, उसका कुछ नहीं। समाज के हित में ही उसको चलना पड़ेगा। उसकी इच्छा का कोई मोल नहीं है। हां, हम उसकी इतनी गारंटी देते हैं कि उसकी क्षमता के अनुसार वह काम करे, उसकी आवश्यकता के अनुसार हम देंगे। उसकी आवश्यकता क्या होगी, इसका निर्धारण सारे समाज को देखकर हम करेंगे। दोनों प्रयोग नहीं चले। बार-बार प्रयोग हुए, बार-बार फेल हुए।

समाज विकास करना चाहता है। सृष्टि का नाश होता है। आजकल हम देखते है सारे देश में विकास और पर्यावरणवादी-इन दोनों का द्वंद्व चल रहा है। सारी दुनिया में विकास की योजना आई तो उधर पर्यावरण का आन्दोलन खड़ा हुआ। अब उनकी सुने तो विकास बन्द करना पड़े। और विकास करना चाहे तो उनको बन्द करना पड़े। उनकी भी बात में दम है। पर्यावरण तो रहना चाहिए। पर्यावरण खराब होने का क्या-क्या नुकसान हैं, सबके सामने है। साथ नहीं चल सकते। कुछ तो एक चुनना पड़ेगा, बाकी सब छोड़ना पड़ेगा। दुनिया ने ऐसा ही किया। एक पकड़ा, बाकी को छोड़ा। बाकी को गौण माना, बाकी को अनावश्यक माना। आवश्यकतानुसार उनका उपयोग इतनी ही उनकी उपयुक्तता मानी। क्योंकि दुनिया यही मानकर चलती है कि टिके रहना, जीवित रहना यही अपना काम है। दुनिया ऐसी है कि साथ कोई नहीं चल सकता। जब फायदे का सौदा होता है, तो बाकी सब दुश्मन होते हैं। इसलिए संघर्ष रहेगा। संघर्ष रहेगा इसका मतलब है जो बलवान है, वह जीतेगा।

सर्वश्रेष्ठ हैं तो दुनिया किसके लिए, दुनिया मेरे लिए या हमारे लिए। उस दुनिया का चाहे जैसा उपभोग करो, जितना सामर्थ्य है, उतना लो। सामर्थ्य बढ़ाओ। दुनिया से लेने का सामर्थ्य बढ़ाओ और उसको भोगने का सामर्थ्य बढ़ाओ। बस यही जीवन में उद्देश्य है और कुछ नहीं।

हमने साक्षात्कार किया। सुख का अन्त नहीं। एक बात और इस तत्व को किसी भी रूप में पहचानते हुए सबने यह माना कि सृष्टि में सम्बन्ध है। इसलिए समग्र अस्तित्व एक है। सुख की अर्न्तनिहितता और अस्तित्व की एकता, यह दो बातें हमारे पूर्वजों ने साक्षात्कार की। उन्होंने सोचा कि अगर सारी सृष्टि एक है तो सुख का जो रास्ता हमको मिला है वह सबको देना हमारा धर्म है। सारी सृष्टि को यह रास्ता देना इक्के-दुक्के का काम नहीं है। उसके लिए एक समाज बनना चाहिए। चारों ओर की प्राकृतिक सीमाओं से सुरक्षित इस देश के अन्दर समृद्धि में अपनी विविधताओं के साथ जीने वाले इस समाज को उन्होंने बहुत घोर परिश्रम करके अनुप्राणित किया।

हमारे पूर्वजों ने एक और तत्व धर्म को पहचाना। भारत की प्रकृति संस्कृति क्या है? इसका उत्तर देना है तो एक ही शब्द में काम हो जाता है–धर्म। इस धर्म को दुनिया रीलिजन कहती है। वह रीलिजन नहीं है। इसका पूजा से कोई लेना-देना नहीं है। हां, पूजा भी इसमें आती है। क्योंकि धर्म लोगों को एकत्र करता है, सारा जीवन इसमें आता है। लेकिन विशिष्ट पूजा का पुरस्कार, धर्म यह नहीं कहता है। वह सभी को स्वीकार करता है। सभी को मिलकर चलने के लिए है-हिन्दू धर्म, ऐसा सब कहते हैं।

हिन्दू धर्म की किताब कौन-सी है। कुछ नहीं। हिन्दू धर्म की कोई आचार संहिता है क्या? नहीं है। एक नहीं हैं। अपनी अलग-अलग हैं। देवी-देवता हैं कि नहीं हैं। भगवान को न मानने से लेकर सगुण संस्कार तक की पूजा करने वाले सब प्रकार के लोग इसमें हैं। क्योंकि धर्म का इससे सम्बन्ध नहीं रहता। धर्म में ये सब आते हैं। धर्म वास्तव में वह है जो सबको एक साथ चलाता है। व्यक्ति के समूह को एक साथ चलाता है। शरीर, मन, बुद्धि के सुखों का समन्वय करता है। हम जानते हैं सुख केवल शरीर का नहीं होता। अर्न्तनिहित है कि सुख मन का भी होना ही चाहिए और होता है।

आर्कमिडीज को कौन-सा आनन्द हुआ-'यूरेका-यूरेका' करते हुए, वह बाथरूम से निकला। यह बुद्धि का आनन्द है। ये तीनों सुख हैं और ये तीनों चाहिए। बुद्धि को बन्द करके शरीर, और मन का सुख दें तो आदमी तड़पता है। मन को मारकर कोई सुखी नहीं हो सकता। शरीर को असमाधानी रखकर भी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। इन तीनों का सुख एक साथ चले, यह धर्म के आधार पर होता है। अर्थ पुरूषार्थ, काम पुरूषार्थ दोनों चलेंगे और अन्त में इससे और ऊपर उठेगा मनुष्य। मुक्ति को प्राप्त कर लेगा कब, जब धर्म के अनुसार सब में चलेगा तब। ये धर्म का अनुशासन मोक्ष पर भी लागू है।

महाभारत में कथा है। कौशिक नाम के ब्रह्मचारी साधक तपस्वी थे। साधना करने लगे। करते करते इतनी तीव्र हो गई कि ऊपर से चिड़िया उड़ रही थी, उड़ते-उड़ते ध्यानस्थ ऋषि पर वृषा कर दी। मस्तक

पर पड़ा, उसने देखा, ध्यान टूटा देखा तो वृषा। गुस्सा आ गया। देखा तो चिड़िया हवा में जल गयी। बहुत प्रसन्न हो गए कि हमारी साधना इतनी तीव्र हो गई। फिर देखा ध्यान तो टूट ही गया है। भोजन का समय हो गया है तो भिक्षा लेने के लिए पास वाले शहर में गये। वहां एक व्यापारी के यहां बाहर खड़े होकर भिक्षा देने के लिए कहा तो व्यापारी की गृहणी अन्न पदार्थों से भरी थाली लेकर आने लगी तो उतने में बाहर से उसका पति आया तो उसने थाली बाजू में रख दी। पति के पांव धोए, पांव पोछे, आवभगत की। भोजन पानी सब पूछा। इन सब में 20-25 मिनट गया। तब तक ये धूप में खड़े हैं तपस्वी महात्मा और अन्दर से भी जल-भुन रहे हैं। तो आयी वह बेचारी गृहणी तो वह देखने लगे। कैसी वह नासमझ। अरे अतिथि देवो भव है तो पहले मुझे देना चाहिए। अपने पति की खातिरदारी कर रही और मुझे उपेक्षित कर रही। उसने थोड़ी आंखे तरेर कर देखा तो भिक्षा डालते-डालते उस महिला ने कहा महाराज ऐसे गुस्सा होकर मत देखो। मैं कोई चिड़िया नहीं हूं, जो भस्म हो जाऊंगी। उनको धक्का लगा कि इसको कैसे पता लगा। उसने कहा हे देवी तुमको कैसे पता लगा। ये कौन सी सिद्धि और तुमने कैसे प्राप्त किया। महाराज ये मैं बता सकती हूं, लेकिन आपको बताने का मेरा अधिकार नहीं है। जो कर्म मुझे प्राप्त हुआ है वह मैं ठीक से कर रही हूं। आपको यह जानना है तो दूसरे शहर में जाइये। वहां एक मांस बेचने वाला धर्मव्याध रहता है। वह आपको उपदेश देगा। तो इनको और आश्चर्य लगा। मांस बेचने वाला खटीक मुझे उपदेश देगा। जब इस महिला ने इतना बता दिया तो वहां चले गये। जब ये जा रहे थे तो दूर से धर्मव्याध ने देखा। उसने कहा महाराज इधर मत आइये, आपसे देखा नहीं जायेगा। यहां खून और मांस है। आपकी आदत नहीं है। अब वहीं से बायें मुड़ जायें। आगे चलकर, एक आम का पेड़ है, उसी के नीचे मन्दिर है। उसके ठीक सामने मेरी झोपड़ी है। वहां बैठिए। पहले इनको आश्चर्य लगा कि मैं इसी को मिलने आया हूं। जाकर बैठे। वह अपनी दुकान बन्द करके घर आये। हाथ पैर धोए। अन्दर गए। वृद्ध माता-पिता थे। उनको क्या चाहिए ये सब देखकर, बाद में फल की थाली लेकर सामने आया। बैठिए, महाराज जी बताइये कैसे आना हुआ। संत बोले यह सब बाद में बताता हूं। पहले तुमको कैसे पता चला। मैं बैठा हूं कब से और तुम अन्दर जाकर माता-पिता से मिले। वह बोला-यही है धर्म। इससे मुझे तो कर्तव्य प्राप्त हुआ है वह मैं कर रहा हूं। इसलिए मैं आपसे आगे हूं। जो धर्म का अनुशासन है वह सब पर लागू होता है।

भारत धर्म परायण देश है। विवेकानन्द जी ने कहा, 'भारत में जब तक धर्म शेष है तब तक भारत को मिटाने की ताकत किसी की नहीं है।' हमारी सारी बातों का आधार धर्म है। भिखारी भी हमको धर्म करने को कहता है। भाई झगड़ते हैं तो लोग धर्म का हवाला देकर कहते हैं कि भाई-भाई में झगड़ा नहीं करना चाहिए। धर्मार्थ होता है सब कुछ। ये धर्म तत्व भारत की सारी व्यवस्थाओं का सारे विचारों का आधार है। बाकी सब अलग-अलग होगा। ईश्वर मानते होंगे, नहीं मानते होंगे। ईश्वर की भक्ति किसी रूप में करते होंगे। पूजा करने वाला और कोई होगा। वेशभूषा-भाषा सब कुछ अलग होगा। लेकिन, भारत

का व्यक्ति है वह धर्म पर चलता है उसकी विचार धारा, उसकी पूजा सब कुछ उसको धर्म पर चलने का आदेश देता है। भारत में विकास के मूल में दृष्टि क्या होगी, वह धर्म की दृष्टि होगी।

धर्म वह है जो धारण करता है। सबको साथ चलाता है, सबको जोड़ के रखता है, बिखरने नहीं देता। सबको ऊपर उठाता है। इस लोक में और जो मानते हैं परलोक में भी वह सुख आनन्द ही प्राप्त कराता है। 'धारणा धर्म इत्याहू धमो भावेती प्रजा, यतो अभ्युदय निश्रेयषस्थिती सः धर्मा।' वह धर्म व्यक्ति पर भी लागू है, वह धर्म समूह पर भी लागू है। अपने धर्म से चलने वाला व्यक्ति बड़े धर्म की प्राप्ति के लिए स्वयं की उपेक्षा करते हुए भी उसके लिए उसका धर्म।

शिबी राजा की कथा आपने पढ़ी होगी। उसके दरबार में एक कबूतर आया। भाग रहा था और राजा की गोद में आकर छुप गया था। राजा ने उसे छुपा लिया। राजा जान गया कि उसके पीछे कोई लगा है। बचने के लिए आया है मेरे राज्य का कबूतर है, मेरी प्रजा है। उसका रक्षण करना मेरा धर्म है। पीछे से एक बाज आया। उसने पूछा राजा को कोई पक्षी है यहां। राजा ने कहा–हां, उसका रक्षण करना मेरा धर्म है। तुम उसको खाना चाहते हो, मैं तुम्हें खाने नहीं दूंगा। बाज ने कहा देखो मैं भी तुम्हारे राज्य का बाज हूं। प्रकृति ने मुझे यह धर्म दिया है कि मैं कबूतर जैसे पक्षियों को खाकर अपना पेट भरूं। उसका रक्षण करके तुम धर्म निभा रहे हो, तो मुझे भूखा रखकर कौन-सा धर्म निभा रहे हो। अब आश्चर्य है, राजा कहता है-तुम्हारी यह बात ठीक है। मुझे दोनों धर्मों का पालन करना पड़ेगा, क्योंकि संतुलन की बात यहां आती है। कबूतर शरणागत है, मरना भी नहीं चाहिए। तुम भी कह रहे हो, मेरी प्रजा हो तो तुम्हारा पेट भी भरना चाहिए। राजा ने कहा ठीक है तुम कबूतर के वजन के बराबर मेरा मांस काट लो। व्यक्ति धर्म की रक्षा के लिए, बड़े कर्तव्यों की रक्षा के लिए, बड़े समूह के हित के लिए, अपना बलिदान करने के लिए सिद्ध होता है। क्योंकि वह अकेला नहीं है।

व्यक्ति की सत्ता है। वह सत्ता परिवार की सत्ता से, समूह की सत्ता से, देश की सत्ता से, प्रकृति की सत्ता से परमात्मा तक जुड़ी हुई है। एक विकास होता है, दूसरे को दबाना नहीं पड़ता है। एक के विकास में दूसरे का विकास अर्न्तनिहित है। व्यक्ति सोचता है कि दूसरे का विकास मैं कर सकूं, इतना ही मेरा विकास करना है। दूसरों के विकास का अवरोध बनकर मुझे अपने को विकसित नहीं करना है। हम अपने विकास की नीति निर्धारित करेंगे, तो सृष्टि के विकास को अवरूद्ध नहीं करेंगे। हम अपना विकास भी करेंगे। उसके साथ-साथ सृष्टि का विकास भी करेंगे।

विकास का प्रतिमान कैसा हो? प्रतिमान बड़ी गलत चीज है, क्योंकि प्रतिमान वही कह सकता है जो उसको लागू कर रहा है या करना चाहता है। भाषण में ठीक है, पुस्तकों में भी ठीक है, लेकिन जब जमीन पर करना पड़ता है, तो कई प्रकार के अवरोधों को पार करना पड़ता है, रास्ते निकालने पड़ते हैं। दिशा तो वही है। परन्तु, जाते समय टेढ़े-मेढ़े रास्तों पर चलना पड़ता है। किसी एक स्थान से दूसरे स्थान

पर जाने वाला व्यक्ति सीधा उस दिशा में जा रहा हो, ऐसा प्रकृति में बहुत कम होता है। जब हम ऐसे रास्ते पर चलते हैं, तो रास्ते में कितने जंगल हमको काटने पड़ते हैं, कितने जल प्रवाह को अवरूद्ध करना पड़ता है, कितने तालाबों को मिट्टी से भर देना पड़ता है, हम जानते हैं। प्रतिमान अगर जिसको कहना है, उसका वर्णन करना है, वह वहीं होगा। जो उसको लागू कर रहा है और देश काल और परिस्थिति के लिए वही उसका प्रतिमान होगा। बीस साल बाद, उस समय का समय देखना पड़ेगा।

प्रतिमान के लिए कुछ दिशाएं निर्धारित की जाती हैं। वर्तमान की भाजपा सरकार के शासन में देश में घोषणा चलती है-'सबका साथ सबका विकास।' वास्तव में, यह धर्म की जोड़ है। यही धर्म है, सबका साथ सबका विकास। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया।' क्योंकि सब अपने हैं, कोई दुश्मन नहीं हैं। अपनी दुश्मनी करने वाले लोग दुनिया में होने के बाद भी अपना कोई दुश्मन नहीं है। उनकी दुश्मनी से बचेंगे नहीं, लेकिन हम किसी को शत्रु मानकर उस पर आक्रमण नहीं करेंगे। यह भारत का स्वभाव नहीं रहा। इसलिए सबका साथ सबका विकास-यह घोषणा भारत में की जा सकती है। बाहर के देशों में ये घोषणा उत्तम से उत्तम जब होती है तो क्या होती है? मैग्जिमम गुड ऑफ दी मैग्जिमम पीपल। वह मैग्जिमम पर आकर रूक गये। मैग्जिमम की कोई परिभाषा नहीं है। अपना-अपना मैग्जिमम है।

हमारे देश में **'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया।'** भारतीय प्रतिमान में पहली बात होगी कि सबका साथ सबका विकास यहीं होगा। लेकिन यह हुआ है, मानेंगे कैसे? उसकी कसौटी है जिस दिन सबका विकास आप करना चाहते हो, उन सब में जो अन्तिम आदमी है, उसका विकास होना चाहिए। जो साधनहीन, सबसे विपन्न, सबसे वंचित है उसको भी विकास का लाभ होने लगा, उसको भी सुख प्राप्त होने लगा, वह भी उन्नत होने लगा, तो फिर आप मानिए वह वहां तक पहुंचा। दीनदयाल जी के एकात्म मानवदर्शन में सब दाता हैं, अन्त्योदय।

गांधी जी ने भी यही कसौटी कही है कि यह अच्छा है कि बुरा है, ऐसा प्रश्न उठे, मन में दुविधा उत्पन्न होती हो कि करना है या नहीं करना, अच्छा है या बुरा है, तो आंख मूंदकर अपने देश के अंतिम पंक्ति में खड़े अंतिम आदमी को याद करना और विचार करना कि मेरा निर्णय उसको लाभ पहुंचाएगा या नहीं। अगर पहुंचाएगा, तो करो। यह कसौटी है। गांधीजी ने भी यही कहा और दीनदयाल जी ने भी यही कहा। यह संयोग नहीं है। यह भारत है। भारतीय मानस का अवलंबन करके कोई भी कहेगा, तो यही कहेगा। इसलिए दो अलग अलग समय पर दो अलग-अलग विचारधाराओं वाले लोगों ने एक ही बात कही। क्योंकि यह भारत की बात है। अन्त्योदय उसकी कसौटी होगी। क्योंकि यह सबको साथ लेकर चलने वाला है। विकास पर्यावरण का मित्र है। मित्र होना कठिन बात है, क्योंकि उसमें मर्यादाएं आती हैं।

किसी को कितना विकास करना चाहिए? एक संदर्भ में डॉ. राजपूत ने रज्जू भैय्या का एक संस्मरण

सुनाया। डॉ. राजपूत जब विद्यार्थी थे, तब रज्जू भैय्या पढ़ाते थे। कॉलेज में गये नया कुर्ता पहने, अपना क्लास समाप्त करके वह जा रहे थे, सामने से रज्जू भैय्या आये। उनको रोककर कुर्ते को हाथ लगाया कहा—यह नया कुर्ता है। घर में सबको मिला कि नहीं। ऐसा कहकर चले गये। ध्यान में आया आपका नया कुर्ता आपका विकास हो सकता है, लेकिन घर में सबको नया कुर्ता देने की ताकत आने तक आपको नया कुर्ता सिलवाना चाहिए या नहीं। सुख मेरा अकेले का सुख नहीं। अस्तित्व अगर एक है तो पूरा अस्तित्व सुखमय होगा, तो मेरा सुख सुरक्षित है। मेरा सुख उत्पन्न भी तभी होता है।

विकास पर्यावरण का मित्र होगा, तो विकास की मर्यादाएं भी हमको जाननी पड़ेगी और पर्यावरण रक्षा की भी मर्यादाएं जाननी पड़ेंगी। जड़ी-बूटी के लिए वैद्य लोग जंगल में जाकर वनस्पति तो तोड़ते ही है। लेकिन भाव और नियम में फर्क है। वैद्य लोगों के लिए निर्मल कथा है। पहले ऐसा था कि मंगलवार के दिन जाना, जिस वनस्पति को तोड़ना है उसकी पूजा करना और उसको कहना कि मनुष्यों के हित के लिए तुम्हारे यहां से कुछ ले जाने वाला हूं, मुझे क्षमा करना। अगले मंगलवार को जाना, जितना तोड़ने वाले हो उससे दस गुणा पेड़ लगाना, पौधे लगाना, वनस्पति लगाना और अगले मंगलवार को जाकर वनस्पति तोड़कर लाना। यह अपनी परम्पराओं में है। मर्यादा धर्म का मूर्तिमान है। मर्यादा पुरूषोत्तम राम को धर्म का मूर्तिमान कहा गया है।

विकास परिश्रम से होना चाहिए। समाज का परिश्रम होना चाहिए। शासन-प्रशासन सहायक हो, कठिनाई निवारण करने वाला हो, अनुकूलता प्राप्त करा देने वाला हो, लेकिन विकास जिनका होना है, उनको खड़ा होना पड़ेगा। समाज का उद्यम, समाज का मन बनाना, हमारा प्रतिमान उसके आधार पर चलेगा। शासन-प्रशासन की योजनाओं का लाभ समाज ले सके, ऐसा उसको समर्थ बनाना और उसके मन में अपने स्तर से ऊपर उठने की इच्छा जगाकर उसकी सक्रियता बढ़ाना, उसको उद्यम के लिए प्रवृत करना। यह करने के बाद शासन-प्रशासन को उसका सहायक होना और तब जाकर विकास होगा, क्योंकि वह देश की संस्कृति और प्रकृति के अनुकूल होगा।

अपने भारत देश के संदर्भ में, भारत देश में, धर्म भाव को वह उत्पन्न करेगा। यह धर्म भावना यानि सबको जोड़ने वाली, सबको साथ चलाने वाली, सबको उन्नत करने वाली भावना एक-एक व्यक्ति के मन में राज्य के कारण, शासन-प्रशासन के कारण, उसकी नीतियों के कारण ऐसी कर्मो में प्रवृति बढ़ेगी इसका हिसाब रखना। चोरी का हिसाब रखना शासन नहीं सिखाएगा। वह भारतीय प्रतिमान है।

भारत की संस्कृति धर्म की संस्कृति है। धर्माधारित विकास का प्रतिमान वह है, जो सबकी उन्नति करे, सबको आगे बढ़ाये, आखिरी पंक्ति का आखिरी आदमी भी जिसमें नहीं छूटे। सबका विकास यानि अर्थ काम के साथ मोक्ष की तरफ बढ़ने की प्रवृति भी बढ़ेगी। व्यक्ति, समूह और सृष्टि तीनों साथ-साथ विकसित होते जाएंगे। यह धर्म के अनुशासन में चलेगा। ये उस प्रतिमान का एक सामान्य स्वरूप है।

उसकी तस्वीर क्या होगी? जहां जब जो कोई विकास करेगा, उसको तैयार करना पड़ेगा। हमारी परम्परा में भी स्पष्ट शब्दों में धर्म बताया है। लेकिन यह कहा गया है कि मूल्यों के आधार पर देश काल परिस्थिति के अनुसार करो।

डॉ. अम्बेडकर ने कहा-मै पूछता हूं धर्म क्या है? कोड आफ कन्डक्ट है या सेट ऑफ वैल्यूज है। आगे उन्होंने कहा धर्म कोड आफ कन्डक्ट नहीं है। वह बदलता है देश, काल व परिस्थिति के अनुसार। वैल्यूज शाश्वत है सैट आफ वैल्यूज। भारतीय प्रतिमान है विकास का, उसकी यह वैल्यूज रहेगी। उन वैल्यूज पर पहुंचाने के लिए रास्ता कौन सा लेना, तस्वीर कौन सी खड़ी करना ये करने वाले का स्वातंत्र्य रहेगा। शर्त एक रहेगी कि वहां पहुंचो और अंतिम आदमी तक सुख पहुंचाओ।

भारत का विकास भारत की संस्कृति और प्रकृति के अनुसार होगा। इसे समझने के लिए चित्रकूट जाकर अनेक स्थानों पर इसको प्रत्यक्ष देखना चाहिए। 'चित्रकूट मॉडल' खड़ा करने के लिए मुझे ऐसे रहना पड़ेगा, मेरा व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन कैसा रहेगा, इसका विचार करके इसका आचरण करना प्रारम्भ कर देना चाहिए। तो आज भी थोड़ी-थोड़ी थ्योरी लगने वाली बातें, आपको ध्यान में आएंगी कि हमने अपने समाज के सामूहिक राष्ट्रीय उद्यम से साकार करते हुए सम्पूर्ण दुनिया के सामने इसकी सब दुविधाओं से रास्ता निकाल देने वाला एक प्रतिमान खड़ा किया है, जिसका अनुसरण कल भारत को विश्वगुरू मानते हुए सारी दुनिया करेगी।

❖❖❖

पं. दीनदयाल उपाध्याय जन्मशताब्दी व्याख्यानमाला के संदर्भ में संसद भवन सौंध सभागार में
7वां नानाजी स्मृति व्याख्यान: 26 मार्च 2017

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद संदर्भः एकात्म मानवदर्शन

– सुरेश 'भय्याजी' जोशी, सरकार्यवाह, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

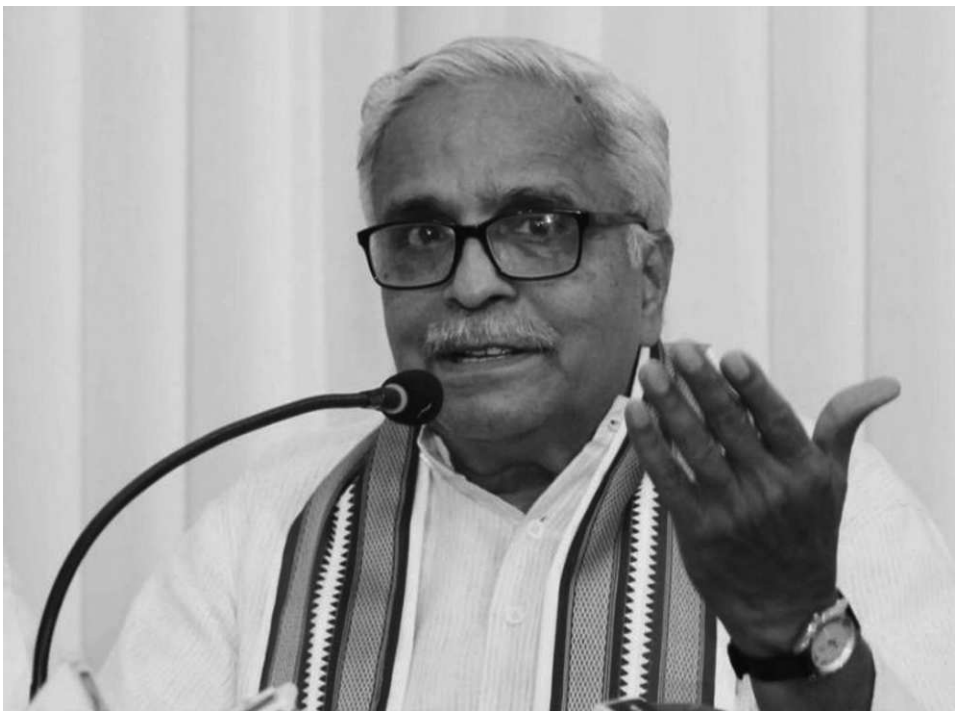

दुनिया के भिन्न-भिन्न देशों का, समाजों का अपना एक चिन्तन होता है। यह चिन्तन, विकास की प्रक्रिया में निरन्तर चलता रहता है। उस चिन्तन के प्रकाश में सामाजिक पद्धतियां विकसित होती हैं, जीवन शैली विकसित होती है, विकास के मार्ग प्रशस्त होते जाते हैं। विकास के सन्दर्भ में अनुकूल व्यवस्थाओं का निर्माण भी होता है। इस स्वाभाविक प्रक्रिया के चलते उस देश की एक पहचान बनती है। बहुत बार ऐसा होता है कि चिन्तन किसका है यह कहना मुश्किल होता है। किसी चिन्तन का परिचय किसी व्यक्ति के नाम से नहीं मिलता है, बल्कि उस समाज की शैली देखकर उसका साक्षात्कार होता है। किसी व्यक्ति ने चिन्तन रखा, वह कई बार विस्मृति में चला जाता है। भारत में तो यह बात विशेषतया लागू होती है। इस देश के चिन्तन का आधार वेद रहे हैं, और वेद किसने लिखे, यह हमें मालूम नहीं। पर एक बात निश्चित है कि किसी एक व्यक्ति ने नहीं लिखे।

भारत के सन्दर्भ में हजारों वर्षों से भारतीय ऋषियों ने मूलभूत चिन्तन किया। समग्रता से किया, गहराई से किया। यह वेदों में समाया है। कभी-कभी चिन्तन का दायरा जाने अनजाने में एक भौगोलिक सीमा में सिमट जाता है, समूह विशेष तक सीमित रह जाता है। परन्तु भारतीय चिन्तन न काल की सीमाओं में बांधा जा सकता है, न समूह विशेष के लिए है। क्योंकि भारतीय परम्परा समस्त विश्व के कल्याण की चिंता करती रही है। अपने चिन्तन में विश्व मंगल की कामना किसी भौगोलिक सीमा से बंधी हुई नहीं है। महाराष्ट्र में सन्त ज्ञानेश्वर ने गीता पर विश्लेषण करते हुए अंत में पसायदान के रूप में अगर कुछ मांगा है तो वह है, ''आता विश्वात्मके देवे।'' यानि, इस समस्त विश्व को देने वाली जो ईश्वरीय शक्ति है, उससे वे मांग रहे हैं। भारतीय चिन्तन में व्यापकता, विशालता, समग्रता और गहराई प्रारम्भ से ही रही है।

अपने मनीषियों की एक और विशेषता रही कि उन्होंने सुनने-समझने के दरवाजे कभी बन्द नहीं किए। ऐसा भी हमने नहीं कहा कि हमारे चिन्तन में कुछ जोड़ा नहीं जा सकता। हमने सब विचारों का स्वागत किया है। ऐसे विचारों, तत्वज्ञान और सिद्धान्तों का स्वागत करने की कसौटी रही है –समाज हित। अर्थात्, चिन्तन मानव कल्याण से सुसंगत है या नहीं। यही भारत की चिरन्तनता का कारण है। अन्यथा इतने आक्रमणों के बाद भारत, भारत नहीं रहता। विश्व मंच पर भारतीय समाज नहीं दिखता। हम चेतना युक्त, प्राण युक्त, नित्य निरन्तर प्रवाहित जीवन को स्वीकार करने वाले लोग हैं।

विभिन्न प्रकार के शब्दों को समझने के लिए अनुवाद करने की परम्परा है। धारा के प्रवाह में हम कई बार इस बारीकी को समझ नहीं पाते। परन्तु अनुवाद से शब्दों के भाव का, तथा उसकी गहराई व विशिष्टता की संकल्पना करना कठिन हो जाता है। ऐसी संकल्पना को परिभाषा की चौखट में बिठाने का प्रयास भी असफल हो जाता है। उदाहरणतः, पाश्चात्य चिन्तन के अनुसार संघटकों के आधार पर परिभाषित करने से परिवार का भाव स्पष्ट हो सकता है क्या? भारत में परिवार की जो कल्पना टिक पायी, वह विदेशों में नहीं टिक पायी। क्योंकि वहां परिवार कानून से बनाया जाता है। हमारे यहां सामाजिक मान्यता से बना। अपने यहां विवाह का रजिस्ट्रेशन अंग्रेजों के आगमन के बाद से हुआ। पंजीकरण में बंधने और टूटने के कानून बने।

इसी तरह, वैकल्पिक शब्द ढूंढने का प्रयास करना भी व्यर्थ है। 'प्रसाद' और 'आरती' के लिए कोई वैकल्पिक शब्द हैं क्या अंग्रेजी भाषा में? हो भी नहीं सकते। क्योंकि वहां इनकी कल्पना नहीं है। शब्द समूहों से वैकल्पिक शब्द ढूंढा भी जाए तो भाव का क्षरण हो जाएगा। तीर्थ क्षेत्र को 'होली प्लेस' से नहीं बदला जा सकता है। यज्ञ के लिए कोई संकल्पना नहीं। झूठे शब्दों से भाव बदलने की कोशिश में सार्थकता नहीं है। 'जिहाद' के लिए अपने यहां कोई शब्द नहीं हैं। क्योंकि हमारे समाज में इनकी कल्पना नहीं है। वैकल्पिक शब्दों से स्पष्टता और भाव प्रकट नहीं हो पाते।

दुर्भाग्य से, विदेशी आक्रमकों ने भारतीय संकल्पनाओं की जगह, अपनी संकल्पनाओं के आधार पर समकक्ष शब्द ढूंढे। लेकिन वे वास्तविक अर्थ के निकट ही पहुंच पाए, सही अर्थ तक नहीं। कुछ शब्दों को उन्होंने सोची समझी रणनीति के अन्तर्गत बदलने का प्रयास किया। वही शिक्षा नीति में भी आया। उसी शिक्षण के चलते एक प्रबुद्ध वर्ग अंग्रेजों की संकल्पनाओं को स्वीकार करता गया, और समाज अपनी मूलभूत संकल्पनाओं से कहीं भटक गया। मैं यह स्वीकार नहीं करता कि भारत की मानसिकता पर यह आघात निर्दोष भाव से हुआ। अंग्रेजों ने स्पष्ट कहा कि यदि हमें यहां रहना है तो भारत को अपनी मूल चिन्तन-परम्परा व व्यवस्था से काटना होगा। मैकाले की शिक्षा पद्धति के आधार पर भारतीय मूल व्यवस्थाओं पर आघात हुआ। इन्हीं कारणों से अपने समाज जीवन में आज कई प्रकार की समस्याएं व व्याधियां उत्पन्न हो गई हैं।

'धर्म' की संकल्पना दुनिया के किसी हिस्से में नहीं है। अंगेजों ने इसे 'रिलीजन' के समकक्ष रख दिया। सम्प्रदाय के लिए यहां शब्द नहीं था। जब उन्होंने 'धर्म' शब्द की व्याख्या की तो उन्हें इसमें सम्प्रदाय की व्याख्या नजर आयी। लेकिन सम्प्रदाय अलग है, धर्म अलग है। उन्होंने धर्म और रिलीजन को एक बता दिया। भारत में भी यही चल पड़ा। कोई रिलीजन पूछे तो आप बोलेंगे 'हिन्दू'। लेकिन हिन्दू तो धर्म है, जिसकी परिभाषा अलग है। ईसाई, मुस्लिम ये सम्प्रदाय हैं। भारत में सैंकड़ों सम्प्रदाय हैं। कोई शैव है, कोई वैष्णव है। ये धर्म नहीं हैं। अंतर समझने की आवश्यकता है। गड़बड़ यह है कि हम सांप्रदायिक आदमी को धार्मिक मानते हैं। जो पूजा पाठ करते हैं, यात्रा करते हैं, कर्मकांड करते हैं, उन्हें हम धार्मिक मानने लग गए। लेकिन सचमुच में तो वे सांप्रदायिक हैं। धार्मिक लोग अलग हैं। केवल कर्मकांड करना, भस्म लगाना धर्म नहीं। ऐसी सोच उस व्यक्ति की व्यावहारिक क्रियाकलापों को देखने-परखने की दृष्टि का दरवाजा बंद कर देती है।

कई बार देखने में आता है कि दुकानदार तराजू की पूजा करता है। अपनी दुकान में छोटा सा मंदिर बना कर रोजाना उसमें फूल चढ़ाता है। लेकिन उसी तराजू में हेराफेरी करके सामान का वजन कम कर देता है। तो ऐसे व्यक्ति को क्या हम धार्मिक कह सकते हैं? गोमाता को पोलीथिन में खाना देने वाले व्यक्ति को क्या हम धार्मिक मान सकते हैं? कई बार किसी तीर्थ क्षेत्र में जाने के बाद वहां की गंदगी या अव्यवस्था को देखकर कोई दोबारा जाने में संकोच करे, तो क्या वह अधार्मिक हो जाएगा? क्या हम इन धारणाओं को स्वीकार करने को तैयार हैं? लेकिन इन सबके बावजूद हम टिके हैं क्योंकि समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग इन्हें अस्वीकार कर देता है। धर्म के इस बाह्य स्वरूप को हमने धर्म मान लिया, यह हमारी भूल है, गलती है। लेकिन अन्य समाजों के लिए यह स्वाभाविक है।

सम्प्रदाय की भी बहुत बड़ी शक्ति है। सम्प्रदाय का अर्थ ही होता है कि उसका कोई एक मार्गदर्शक है। उसका एक विचारों का संग्रह है, उसके ही मार्गदर्शक के रूप में जाना जाने वाला कोई एक ग्रन्थ है।

ग्रन्थ द्वारा दी गयी पूजा करने की विशेष पद्धति और कर्मकाण्ड है। अगर हिन्दू को एक सम्प्रदाय मानेंगे तो इसका रचयिता कौन है? कौन सा धर्मग्रन्थ हिन्दुओं का माना जाता है? कोई गीता को मानता है, कोई उपनिषद को मानता है, कोई वेदों की पूजा करता है, कोई भागवत को मानता है। हिंदू एक सम्प्रदाय होता तो उसका एक ग्रन्थ होता, एक पूजा-पद्धति होती, एक ही प्रकार के कर्मकांड होते। भारत में पूजा पद्धति में कई प्रकार की भिन्नताएं हैं। और इतनी सारी भिन्नताओं के बावजूद यहां पर तो यह माना गया है कि जो मानस पूजा करता है वह सबसे श्रेष्ठ है।

हमारे यहां धमार्थ चिकित्सालय या यात्रियों की सुविधा के लिए धर्मशालाएं बनायी जाती हैं। लेकिन वहां कोई पूजा, पाठ तो नहीं होता। वहां यह कभी नहीं कहा जाता कि भगवान के सामने फूल चढ़ाओगे तभी चिकित्सा होगी या ठहरने को कमरा मिलेगा। सारे अधिकारों को छोड़कर समाज के लिए जो भवन बनता है, उसको धर्मशाला कहते हैं। धर्मदायी चिकित्सालय वही होता है जहां लाभ का विचार न करते हुए केवल सेवा करने और चिकित्सा करने की व्यवस्था होती है। यह पाश्चात्य संकल्पना 'चैरिटी' से भिन्न है। राजस्थान में सेठ लोगों ने आम जनता के लिए कुएं, बावड़ी बनवाए। लेकिन वहां कोई पूजा-पाठ तो करवाते नहीं। तो क्या वह धार्मिक कार्य नहीं हुआ? दुर्भाग्य से, धर्म की व्याख्या बदल गयी। समस्या यह है कि इस काल में विदेशी अथवा दूसरी विचारधाराओं के लोग इन बारीकियों को नहीं समझ पाएंगे, क्योंकि वहां ऐसी संकल्पनाएं ही नहीं हैं। वहां चैरिटी शब्द चलता है, पर वह धर्म नहीं हो सकता। वह धर्म शब्द का नियरली करेक्ट (Nearly Correct) अनुवाद हो सकता है, पर करेक्ट नहीं। यह बात समझने की आवश्यकता है।

उसी प्रकार राष्ट्र और इसके सन्दर्भ में भी कई प्रकार की बातें हैं। यूनाइटेड नेशन्स आर्गनाइजेशन अर्थात यूएनओ दुनियाभर के देशों का शीर्ष संगठन है। लेकिन वह राष्ट्रों का संगठन नहीं। वहां पर जिस प्रकार की चर्चा चलती है; और चलनी भी चाहिए, उसका व्यवस्थाओं से सम्बन्ध है, न कि विचारों से। उसका सन्दर्भ विचारों से, मतलब, जीवनशैलियों से कम है। देशों के आपस के सम्बन्ध कैसे रहेंगे, एक दूसरे के पूरक कैसे रहेंगे, इसका चिन्तन है। इसकी आवश्यकता भी है। परन्तु इसे संयुक्त राष्ट्रसंघ कहते हैं तो यह समस्या है, misnomer है। 'राष्ट्र' शब्द की संकल्पना न होने के कारण यह नामकरण ही गलत है। लेकिन इस गलत परिभाषा को आगे बढ़ाया जा रहा है। क्योंकि इस भाव की संकल्पना ही नहीं है कहीं और।

सिर्फ और सिर्फ भारतीय चिन्तन में ही हम तीन भिन्न संकल्पनाओं को समझ सकते हैं-देश, राज्य और राष्ट्र। अंग्रेजी में इनमें कोई विशेष अंतर नहीं है। लेकिन भारतीय चिन्तन में इन तीनों संकल्पनाओं में भिन्नताएं हैं।

देश -किसी भी समूह के लिए एक भूमि की आवश्यकता है। उस भूमि को हम देश कह सकते हैं।

ये देश है। चारों ओर की सीमाओं से बंधा हुआ है, एक जमीन का टुकडा, जहां पर लोग रहते हैं, एक 'देश' है।

राज्य –उस भूमि पर सब प्रकार से शासन की सुविधाएं और व्यवस्थाओं को खड़ा करने की प्रक्रिया को 'राज्य' कहा गया है। परन्तु एक भूमि के टुकड़े पर की गयी व्यवस्थाओं मात्र के आधार पर क्या मनुष्य का जीवन चल सकता है?

राष्ट्र –मनुष्य की अन्य अपेक्षाएं भी रहती हैं। मान सम्मान की भावनाएं होती हैं। समाज के समूहों के सम्मान के विषय भी होते हैं। क्रिकेट में भारत की जीत या किसी भारतीय को नोबेल पुरस्कार मिलने से व्यक्ति विशेष नहीं, बल्कि पूरे राष्ट्र को सम्मान का अनुभव होता है। एक राष्ट्र का गौरव, राष्ट्र का सम्मान, यह है राष्ट्र की परिकल्पना।

हम राष्ट्र की परिकल्पना एक शरीर के रूप में कर सकते हैं। शरीर में सब प्रकार के अवयव हैं। उसमें इंद्रियां हैं। उनके संयुक्त रूप को देश का स्वरूप समझें। उस शरीर की आवश्यकता है खाना-पीना, कपड़े, सुरक्षित रहने के लिए मकान। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं होता। एक अर्न्तमन भी है। अन्तर शक्ति, जो दिखाई नहीं देती, जो विश्वरूप है। उसको पं. दीनदयाल जी ने 'चिति' शब्द दिया। वह 'राष्ट्र' है।

इसलिए, राष्ट्र, राज्य और देश इन तीन कल्पनाओं को भिन्न भिन्न रूप से सोचने की आवश्यकता रहती है। ये तीनों एक नहीं हो सकते। हाँ तीनों को मिलाकर एक बनेगा। हम आत्मा का अस्तित्व मानते हैं। लेकिन उसकी अनुभूति शरीर के बिना नहीं हो सकती। लोग कहते हैं कि आत्माएं भटक रही हैं। लेकिन हम तो उनका अनुभव नहीं कर पा रहे। यह भी कहा जाता है कि आत्मा अमर है। पर दिखाई तो तभी देती है न जब वह शरीर का रूप धारण कर लेती है। इसलिए आत्मा के प्रकटीकरण के लिए शरीर की आवश्यकता होती है। इसी तरह राष्ट्र रूपी आत्मा के प्रकटीकरण के लिए भूमि की आवश्यकता होती है। वह प्रकटीकरण देश के रूप में होता है। और अगर राष्ट्र का प्रकटीकरण देश के रूप में हैं तो उसकी कुछ व्यवस्थाएं होती हैं। वे राज्य के माध्यम से संचालित होती हैं।

इसलिए, इन तीनों शब्दों यानी संकल्पनाओं का अलग-अलग ही विचार किया जा सकता है। देश प्राकृतिक है। हमने भारत की भूमि निर्माण नहीं की। यह प्रकृति के द्वारा प्राप्त है। राज्य की कल्पना विकसित होती गई है। आवश्यकताएं बदलती गईं, और उनके अनुरूप व्यवस्थाएं विकसित होती गयीं। यह कभी भी समाप्त होने वाली बात नहीं है। आज हम राज्य के अन्तर्गत जिस प्रकार व्यवस्थाओं की अपेक्षा करते हैं, यह जरूरी नहीं है कि आज से बीस साल बाद भी वही रहेंगी। आवश्यकतानुसार वे बदलेंगी। यह चक्र यूंही चलता रहेगा।

राष्ट्र एक अदृश्य शक्ति है। जबकि देश सिर्फ शरीर है, भूमि का एक टुकड़ा। किसी देश का एक

बड़ा भूभाग रेगिस्तान हो सकता है, किसी का जंगल। लेकिन बिना आत्मा के वह राष्ट्र नहीं कहला सकता। राष्ट्र के स्वभाव के कारण ही देश की पहचान बनती है।

अपने यहां राष्ट्र, राज्य और देश के संदर्भ में संभ्रम की अवस्था का निर्माण किया गया। अंग्रेजों ने कहा कि हम एक राष्ट्र बनाने के लिए यहां आए हैं। आप तो अलग-अलग बिखरे लोग हैं। इसलिए हम आपको एक राष्ट्र के रूप में विकसित करना चाहते हैं। जिन जिनकी उसमें सहभागिता रही उन व्यक्तियों ने गलत धारणाएं अपना लीं। अपने यहां राष्ट्रपति कैसे बन सकते हैं? राष्ट्र के अध्यक्ष तो बन सकते हैं। पर हमारे यहां शब्द प्रयोग चल पड़ा। उन्होंने कहा 'नेशन इन द मेकिंग'। उन्हें ऐसा दंभ हुआ, मानो वे राष्ट्र बना रहे हों। परन्तु हजारों वर्षो से देश में क्या था?

राष्ट्र कैसे बनता है इसे अथर्ववेद में बताया गया है। यहां के आत्मज्ञानी मनीषियों ने, विश्व के कल्याण की इच्छा से, सृष्टि के प्रारम्भ से तप किया। और उससे ऐसी चेतना युक्त आत्मा का निर्माण हुआ, जिसे राष्ट्र कहा गया। उसी के द्वारा राष्ट्रीय बल और तेज प्रकट हुआ। और इसीलिए, इस देश में निरन्तर रहने वाला, स्वयं को इस राष्ट्र का अंग मानने वाला, उसके आगे सदैव नतमस्तक होकर, उसकी सेवा करेगा। राष्ट्र की यह कल्पना है। परिभाषाएं तय करने से राष्ट्र नहीं बन जाता। अपने यहां साधना के द्वारा एक विशिष्ट जीवनशैली का निर्माण हुआ। उसे राष्ट्र कहा गया। राष्ट्र व राज्य एक नहीं हो सकते। भारत के अन्दर कई प्रकार के राजा थे, राज्य थे। राज्य अलग-अलग थे परन्तु राष्ट्र एक था। राष्ट्र एक होगा, प्रशासन की सुविधानुसार राज्य अलग अलग हो सकते हैं। एक राज्य में भी अलग अलग राष्ट्र हो सकते हैं। जैसे रूस में था। आज मुस्लिम एक राष्ट्र है, परन्तु राज्य कई हैं।

हिन्दू एक राष्ट्र है। उसमें राज्य कई प्रकार के बने हैं। इस कल्पना को ठीक से प्रस्तुत करने की आवश्यकता है, क्योंकि राष्ट्र भाव के दुर्बल होते ही, केवल सुविधाओं में आनंद मनाने वाला समाज खड़ा होता है। अंग्रेजों ने निश्चित रूप से सुविधाएं प्रदान की। लेकिन इससे उन्हें यह अधिकार नहीं मिल जाता कि हमारी प्राचीन परम्पराओं का वे नष्ट कर दें। हमने राज्य की इसी संकल्पना के आधार पर निर्मित संविधान की बातों को राष्ट्रीय माना।

'जन गण मन' आज हमारा राष्ट्रगान है। उसे सम्मान देना ही चाहिए। वह संविधान के आधार पर हमारा राष्ट्रगान है। परन्तु सही अर्थों में देखा जाए तो 'वंदेमातरम्' इस देश का राष्ट्रगीत है। 'जन गण मन' उस समय के राज्य को सामने रखकर दिया गया भाव है। 'वंदेमातरम्' में राष्ट्र का स्वभाव व उसकी शैली प्रकट होती है। 'वंदेमातरम्' के प्रतीक भगवा ध्वज को राष्ट्र का प्रतीक मानना तिरंगे का अपमान नहीं है। तिरंगा देश के गौरव की प्रतीक है उसका सम्मान भी निश्चित रूप से करना चाहिए।

दूसरी तरफ, राज्य समाज के द्वारा विकसित हुई संकल्पना है। राज्य का निर्माण हुआ है। रचनाएं बनीं हैं। जबकि राष्ट्र किसी के द्वारा नहीं बना। यहां की जीवनशैली, परम्पराएं, मान्यताएं, चिरंतन काल

से रही हैं। राज्य की व्यवस्था समय सुसंगत होती हैं, जबकि राष्ट्र की चिरंतन स्थायी। भौगोलिक सीमाएं भी राज्य की व्यवस्थाएं हैं। जब कोई समूह विकसित होता है तो जहां पर रहता है, उस भूमि के प्रति उसके अंतःकरण में एक आत्मीयता व श्रद्धा उपजना स्वाभाविक है।

अथर्ववेद में कहा गया –माता भूमि है, मैं इसका पुत्र हूँ। इसके द्वारा हमें सब सुख-सुविधा प्राप्त हो रही हैं, क्योंकि भूमि, माँ है। कहा जाता है कि मातृभूमि शब्द की कल्पना धर्म से आयी। धर्म यदि हमारे जीवन मूल्यों और कर्त्तव्यों का अधिष्ठान है तो वहीं से हमारी भूमि के प्रति कर्त्तव्यों की बात आती है। यह मातृभूमि पुरखों की भूमि है। कश्मीर से कन्याकुमारी, राजस्थान से मणिपुर का रहने वाला जब इस भूमि को माँ कहता है, तो एकात्मता का अनुभव करता है। इसलिए जब कोई 'भारत माता की जय' कहता है तो उसे सांप्रदायिक कैसे कहा जा सकता है? इस भूमि के प्रति उसका भाव इस जयकारे से प्रकट होता है। इससे सिर्फ वे लोग इंकार कर सकते हैं जो भारत को मात्र उपभोग-भूमि मानते हैं। कहा गया, 'हम बुलबुले हैं इसकी, यह गुलिस्तां हमारा।' अगर गुलिस्तां में बहार नहीं रही तो क्या कोई इसे छोड़ देगा? नहीं। संकल्प लेगा इसे सुजलाम-सुफलाम बनाने का। संपूर्ण राष्ट्र को अकाल से बचाने को भगीरथ ने कठोर तपस्या की। अपनी भारत माँ को सुजलाम-सुफलाम बनाने के भाव में कितनी ही पीढ़ियों ने अपनी आहुति दे दी।

हम इस राष्ट्र के घटक हैं, सदस्य नहीं। नागरिक बनना अलग है, इस देश का राष्ट्रीय (घटक) बनना अलग है। अमरीका का ग्रीन कार्ड मिलने से आप वहां के नागरिक बन जाएंगे, लेकिन क्या भारत को भूल जाएंगे? राष्ट्र के रूप में आप भारत के रहेंगे, नागरिक के रूप में अमरीका के। वहां के सब कानूनों का पालन करेंगे। किसी अन्य देश का नागरिक, भारत का नागरिक बन सकता है। परन्तु जिसे इस देश का राष्ट्रीय (घटक) बनना है, उसको इस भूमि का सम्मान करना होगा। भारत की जय, पराजय के प्रति उसके अन्दर वेदना जागनी चाहिए। शत्रु कौन है, मित्र कौन है, इसे पहचानने वाला ही राष्ट्रीय (घटक) होता है। यहां का राष्ट्रीय (घटक) और नागरिक पर्यायवाची नहीं हो सकते। इस पहचान को बनाए रखना, इसके प्रति समर्पित रहना ही राष्ट्रधर्म है। इसके लिए व्यक्तिगत जीवन से ऊपर उठकर राष्ट्र-जीवन से एकात्म होना पड़ता है।

अपने देश में अगर कुछ अव्यवस्थाएं हैं, तो उनके प्रति आक्रोश हो सकता है। अगर कुछ बातों से असुविधा है, तो उनके विरुद्ध आंदोलित हुआ जा सकता है। लेकिन यह कैसे कहा जा सकता है कि हमारा देश से संबंध समाप्त हो गया। पिछले समय में ऐसी कई घटनाएं हुईं। उनके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि सब जानते हैं कि इस भूमि को गुलिस्तां मानने वाले लोगों ने इसे छोड़ने की बात भी कही। बाह्य पहचान किसी के अंतःकरण से होती है। बाहर तभी अच्छा दिखेगा, जब वह अंदर से अच्छा है। कुछ समय के लिए वह सच्चाई छुपा सकता है। लेकिन दीर्घकाल के लिए नहीं।

ऐसा कहा जाता है कि अगर सच बोलने वालों की स्मरणशक्ति कमजोर है तो चलेगा। लेकिन असत्य बोलने वालों की स्मरणशक्ति अच्छी रहनी चाहिए। नहीं तो कब क्या कहा, यह भूल जाते हैं। अगर हम ऐसी प्रामाणिकता के साथ काम करते हैं तो किसी भी परिस्थिति में श्रेष्ठ भाव से काम करते हैं। इसी भाव को राष्ट्रधर्म कहते हैं। इस प्रकार के राष्ट्रधर्म का स्मरण करने वाला और पालन करने वाला समाज ही देश की गरिमा को विश्व मंच पर स्थापित कर सकता है।

स्वामी विवेकानन्द ने कभी कहा था कि मैं देख रहा हूं कि भारत माता विश्व के सर्वोच्च सिंहासन पर बैठकर दुनिया को रोशन कर रही है। यहां वह राज्य की सीमाओं का विस्तार करने की बात नहीं कर रहे थे। वह कह रहे थे कि मैं दुनिया को एक श्रेष्ठ मार्गदर्शन देने वाला समाज देख रहा हूं। यही राष्ट्रधर्म है। यह राष्ट्रधर्म अगर कहीं कमजोर होता है या राजा का तेज कम हो जाता है, या फिर उसमें आत्महीनता का भाव जाग जाता है, तो वह संवेदनहीन बन जाता है। परंतु यही पर्याप्त नहीं है। प्रजा को दो समय का भोजन चाहिए। सब प्रकार की सुरक्षा की गारंटी चाहिए। आवागमन के उचित साधन चाहिए। यह काम किसका है? राजा का। राजा जब तक स्वयं को प्रजा का सेवक मानता है, तब तक राजधर्म का पालन होता है। जब वह प्रजा को अपना गुलाम मानने लगता है, उस समय राजधर्म का क्षरण होता है। हमारे यहां कई प्रकार के राजा-महाराजा को हमने देखा है। व्यक्ति राजा बनता था और परंपरा से राज परिवार चलता रहता था। फिर वह उसके योग्य है या नहीं, इसकी चिन्ता नहीं की जाती थी।

काफी समय तक देश में ऐसा चला कि राजा का बेटा राजा बनेगा। इसलिए राज व्यवस्था के प्रति अश्रद्धा, एक आक्रोश का निर्माण हुआ। लेकिन क्या कोई संस्कारविहीन राजा प्रजा की सब प्रकार से चिंता करने वाला राजा हो सकता है? इसी कारण से ऐसी परंपरा देश भर से समाप्त हुई। दुनिया से भी समाप्त होती जा रही है। राजा कहीं पर नहीं रहे। अब राजतंत्र नहीं है। अब राज्य शासन की किसी पद्धति को अपनाया गया है। विचारों के आधार पर कोई राज्य संभालने वाला बने, यह परंपरा बनी है।

कहीं पूंजीवादी राज्य व्यवस्था बनी, कहीं पर कार्ल मार्क्स के बाद एक साम्यवादी राज्य की रचना दुनिया के सामने आई। इस व्यवस्था का आधार ही संघर्ष है। परंतु समाज का असंतोष संग्रहित करने का काम जिस व्यक्ति ने किया, वह व्यक्ति उसके पतन के बाद खुद भी डिक्टेटर बन गया। यह दुर्भाग्यपूर्ण रचना है। समाज की वेदनाओं को स्वर देने, उसके अस्तित्व की रक्षा के लिए असंतोष का जो भाव निर्माण हुआ, उसे अगर नियंत्रित करना है, और कारोबार ठीक से चलाना है तो मुझे भी इस सारे असंतोष को दबाना पड़ेगा, डिक्टेटर का यही भाव बनता है। 1917 में रूस में क्या हुआ? लेनिन ने क्रान्ति का सूत्रपात किया। लेकिन लेनिन को वही करना पड़ा जो पहले राजा किया करते थे। विचारों का साम्राज्य बन गया। नहीं चला, तो स्टालिन सामने आया। लेनिन समाप्त हुआ। फिर स्टालिन भी समाप्त हुआ। ऐसे भिन्न-भिन्न प्रयोग संसार के मंच पर हुए। उस प्रक्रिया में से लोकतंत्र का जन्म हुआ, और व्यक्ति-समूह को

राज करने का अधिकार प्राप्त हुआ। यह एक अच्छी रचना हुई जो कम से कम निर्दोष रही। दोष हो सकता है, पर कम से कम।

लोकतंत्र की व्यवस्था में क्या दोष हैं, इसका अनुभव हम आज कर रहे हैं। अगर मतों के आधार पर लोग चुने जाएंगे तो 50-60 प्रतिशत ही मतदान होता है। 40 प्रतिशत चयन प्रक्रिया से दूर रहते हैं। परन्तु जीतकर आया उम्मीदवार 20-25 प्रतिशत का प्रतिनिधित्व तो करता ही है। समाज ने चयन किया है। समूह उसे बहुमत से बनाता है। विभिन्न व्यवस्थाओं के संदर्भ में जब राजधर्म की बात करते हैं, तो अपने देश में प्राचीन काल से कहा गया कि राजा व्यक्ति है–समूह का नेतृत्व करता है या तानाशाह हो या एक धर्म पर आधारित हो, सभी संदर्भों में राज्य धर्म की परिभाषा एक है। प्रजापालन उसका कर्त्तव्य है, जनसामान्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करना उसका काम है। देश का आर्थिक तंत्र कैसे चलेगा, उसे स्थापित करके आर्थिक नियोजन करना उसका दायित्व है। न्यायोचित राज्य बनाना, काल सुसंगत व्यवस्थाएं खड़ी करनी, देश की सीमाएं सुरक्षित करनी, देश के शत्रु कौन हैं और हितैषी कौन, यह समझना, जनसामान्य सुरक्षित अनुभव करे, यह व्यवस्था करनी है-यही राजा का धर्म है।

धर्म आधारित राज्य की कल्पना में साम्प्रदायिक राज्य नहीं है। जिन्होंने सम्प्रदाय और धर्म को एक करके देखा, उन्होंने ही धर्म राज्य को साम्प्रदायिक राज्य की परिभाषा दी। बापू (महात्मा गांधी) ने जब रामराज्य की कल्पना की थी, उसका अर्थ यह नहीं था कि कोई सांप्रदायिक कर्मकांड करना है या किसी संप्रदाय पर आधारित शासन व्यवस्था का निर्माण करना है। बिना भेदभाव के, न्यायसंगत राज्य की स्थापना करना और विश्व मंच पर राष्ट्र का गौरव स्थापित करना, यह धर्म राज्य है। उस राज्य की सीमा में रहने वाली सारी जनता उस राज्य से जुड़ाव महसूस करे, वह धर्म राज्य है।

दुर्भाग्य से स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद एक कल्याणकारी राज्य की कल्पना चली–लालकिले से पंडित नेहरू ने ऐलान किया कि अब देश स्वतंत्र हो गया है, अब आपको चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं, सब काम सरकार करेगी। क्या गलत दिशा दे दी! हमारी मानसिकता बनी-सब सरकार करेगी, मुझे देश और समाज के लिए कुछ करने की आवश्यकता नहीं। सभी विषयों के लिए जनसामान्य सरकार पर निर्भर हो गया। सत्ताधीश, अनियंत्रित सत्ता का केन्द्र बन गए। इसलिए सत्ता हथियाने का षड्यंत्र चलता है। इसीलिए प्रधानमंत्री बनना है। होना यह चाहिए था कि मुझे धर्म राज्य की स्थापना करनी है, इसलिए राजा बनना है। प्रधानमंत्री मंदिरों में जाएं या ना जाएं, पूजा करें या न करें, इससे धर्म राज्य का कोई सम्बन्ध नहीं।

राष्ट्रधर्म निभाने वाला राजा हमेशा सहिष्णु ही रहेगा, असहिष्णु बन ही नहीं सकता। लेकिन अगर निधर्मी राजा की बात करें, तो जीवन पशुवत् हो जाता है। वहां कर्त्तव्य का कोई स्मरण नहीं रह जाता।

सेक्युलरिज्म की कल्पना ने तब जन्म लिया था जिस समय संसार में एक पंथिक सम्प्रदाय ने सत्ता

हाथ में लेकर दूसरे सम्प्रदाय के साथ अन्याय प्रारम्भ किया। भारत में तो कभी साम्प्रदायिक राज्य रहा ही नहीं। जब गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा-जब जब धर्म का नाश होता है–तब तब मैं आऊंगा–तो धर्म के नाश से उनका तात्पर्य मंदिरों के विनाश से नहीं था। जब-जब यहां कर्त्तव्यों का, दायित्वों का, मूल्यों का क्षरण होगा, तब-तब मैं आऊंगा, यह था उनका तात्पर्य। फिर मैं यहां धर्म की स्थापना करूंगा, ऐसा कहा भगवान श्रीकृष्ण ने। यहां धर्म राज्य बनाने का तात्पर्य है–ऐसा राज्य जो जनता को सुख, सम्पन्नता व गौरवमयी ऊर्जा प्रदान करेगा।

हम यह मॉडल विश्व के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहते हैं। यह भारत की जिम्मेदारी है। राज्यधर्म का पालन करने वाली जनता, विश्व के सामने एक ऐसा मार्ग रखना चाहते हैं। यहां 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का मंत्र जब दिया गया तो हम 'बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय' से बहुत आगे चले गये। यह कल्पना हमेशा प्रासंगिक है। यह शाश्वत है।

जब राष्ट्रधर्म का पालन होता है, पृथ्वी सुरक्षित रहती है, पर्यावरण की रक्षा होती है, सामाजिक न्याय स्थापित होता है, मानवाधिकार सुरक्षित रहते हैं। अपने यहां अभ्युदय और निश्रेयस दो शब्दों का प्रयोग होता है। इस देश का अभ्युदय धर्म राज्य में है। इस देश की आध्यात्मिक शक्ति राष्ट्रधर्म के पालन में है। राष्ट्रधर्म का लक्ष्य राष्ट्र का परम वैभव है। राज्यधर्म का लक्ष्य विश्व के सामने आदर्श व्यवस्था को प्रस्तुत करना है। यह भारत का दायित्व है। इसमें हम जैसे सामान्य जनों की सहभागिता जब तक नहीं होगी, तब तक इन दोनों धर्मों का पालन करना कठिन है। इसलिए यहां का जनसामान्य राष्ट्रीय बने और प्रशासन सुराज देने वाला बने, ऐसी कामना है।

❖❖❖

पं. दीनदयाल उपाध्याय जन्मशताब्दी व्याख्यानमाला के संदर्भ में मुंबई में व्याख्यानः अप्रैल 2016

भारत का विकास और परंपरागत कारीगर

– श्री सुरेश जी सोनी, सहसरकार्यवाह, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

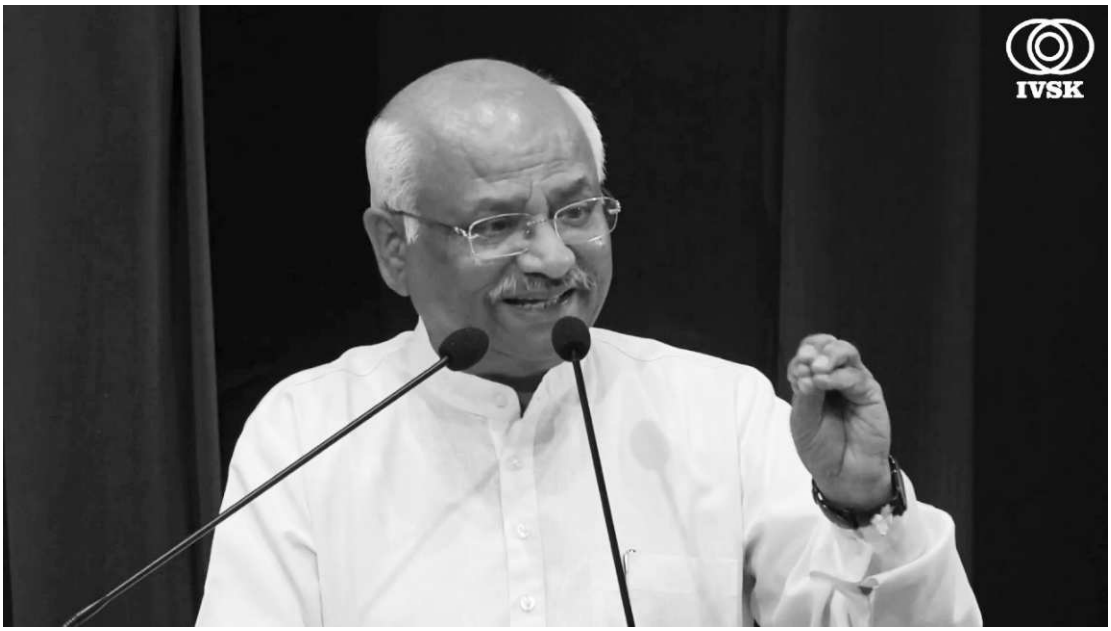

दुनिया में हम देखते हैं कि विकास और संरक्षण की इच्छा जीव मात्र में रहती है। मनुष्य हो, पशु हो, पक्षी हो, सभी को रहती है। प्रारंभिक जिन्दगी में सबसे पहले रोटी, कपड़ा और मकान चाहिए। जीवन है तो रोटी जरूरी है। उसके बिना तो जीवन ही नहीं रहेगा। सवाल है कि क्या मनुष्य की ये तीनों बातें अगर पूरी हो गईं तो भी वह सुखी हो जायेगा? इसका जवाब है-नहीं। कई बार रोटी रहती है, कपड़ा रहता है और मकान भी रहता है। लेकिन, सुख नहीं रहता। सुख की इच्छा का सम्बन्ध मन व हृदय से है। शरीर से सुखी पर मन से दुखी होता है। हृदय को भी आनन्द की अनुभूति चाहिये। उसके लिए भिन्न-भिन्न कलाओं का आविष्कार हुआ। मनुष्य की तरह-तरह की भावनायें हैं और तरह-तरह की कलायें हैं। चित्रकला, संगीत, मूर्तिकला और इस नाते से मनुष्य को पूर्णता में सुखी करने की, उसके शरीर की और उसके हृदय की जरूरतें ये दोनों पूरी करने की प्रक्रिया है।

आजकल सब जगह विकास की चर्चा चल रही है। पृथ्वी सम्मेलन करते हैं। पर्यावरण, जलवायु विषयों को लेकर दुनिया के सब देश इकट्ठा होते हैं। अब 1972 से आज तक विकास के विषयों को लेकर

चर्चाएं केन्द्र में रहती है। विकास में आजकल एक शब्द जोड़ते हैं अंग्रेजी में संस्टेनेबल अथवा आज है कल नहीं है, तो इससे काम नहीं चलेगा। जो धारणाक्षम हो, जिसमें लगातार निरंतरता रहे और दूसरी बात है कि किसी को लाभ मिला और किसी को नहीं मिला। यह भी ठीक नहीं है। इसलिए आजकल यह भी विषय रखते हैं Development and Equality विकास के लाभ सबको मिलना। इसके लिए सम्मेलन, बड़ी-बड़ी चर्चाएं, बड़े-बड़े संकल्प, बहुत सारे समझौते व घोषणा करते हैं और नारा लगाते हैं। लेकिन हर बीतने वाला साल एक बात बताता है कि विषमता पहले जितनी थी उससे ज्यादा बढ़ गई। जो ज्यादा पैसे वाला था वह और पैसे वाला हो गया जो गरीब था वह और गरीब हो गया। लोगों को लगता है कि ये इतने सालों से दुनिया के लोग इकट्ठे हो रहे हैं, चर्चाएं कर रहे हैं और परिणाम ऐसा हो रहा है कि अपने यहां कभी-कभी कहते थे कि कोई चलने वाला ऐसा अजीब रहता है कि जिस जगह उसको पहुंचना है उस तरफ दो कदम आगे बढ़ता है, इतनी देर में जहां पहुंचना है, वह जगह चार कदम पीछे चली जाती है। तो वहां पर कभी पहुंच ही नहीं पाता है। इसका क्या कारण है?

आखिर, भारत बहुत लम्बे समय तक और अच्छी स्थिति में रहा, तो इसका कारण क्या है? दो बातें कही कि आदमी जो उपयोग करता है किसी भी चीज का। भोजन, कपड़े, विभिन्न प्रकार की चीजें, उसका मूल कारण इच्छा होती है। अगर मन में इच्छा उत्पन्न न हो, तो कुछ भी नहीं हो सकता है। एक इच्छा जो आदमी को प्रेरित करती है और दूसरी ये जो प्रत्यक्ष वस्तु मुझे चाहिए। इसके लिए साधन लगते हैं। वह धातु होगी, वह लकड़ी होगी, बाकी चीजें होंगी। जो न्यूनतम जरूरतें हैं उसके लिए 'आवश्यकता' शब्द प्रयोग किया गया, यानि जिसके बिना चल नहीं सकता। जो साधन है, वह आवश्यकता की पूर्ति तो कर सकते हैं। लेकिन प्रकृति जो है उसमें पशु भी है, पक्षी भी है, वनस्पतियां भी है और मनुष्य भी है। सभी का हक है। अगर कोई आदमी इच्छाएं बढ़ा करके और ज्यादा से ज्यादा अपने पास ले लेगा तो उसका स्वाभाविक परिणाम होगा कि कुछ लोग उससे वंचित हो जायेंगे। अगर हम चाहते हैं कि निरंतर विकास हो, सबका विकास हो और सबको लाभ मिले। कोई जीवन का ऐसा मार्ग अपनाना पड़ेगा और उसके लिए हमारे पूर्वजों ने कहा कि इच्छाओं पर संयम करना। उसी को एक सरल शब्द में कहा कि जो भोग है, उपयोग है, उसको संयमित करना। वह अगर संयमित करना है तो इच्छाओं का नियमन करना पड़ेगा। आवश्यकता की पूर्ति करना यानी न्यूनतम जरूरतें हर एक को मिले, लेकिन इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है। अतः उसका नियमन करना।

प्राचीन परंपरा हैं कि जीवन के अनुभव से इस निष्कर्ष पर पहुंचे। एक ययाति नाम के राजा की पुराणों में कथा आती है। उस राजा को वरदान मिला कि अगर अपने पुत्र की आयु ले लेंगे तो आप दीर्घकाल तक इस दुनिया का भोग कर सकते हो। राज्य का भोग कर सकते हो और वह आयु लेकर के भोग करता रहा, भोग करता रहा। अन्त में जब वह निष्कर्ष पर पहुंचा कि भोगों को मैंने नहीं भोगा, भोगों ने ही मेरे को भोग लिया। मेरी हालत ऐसी हो गई कि मैं भोग कर ही नहीं सकता दूसरी बात उसके ध्यान

में आई कि इस दुनिया में जितना भी अन्न है, धान्य है, पशु है, स्वर्ण है, विभिन्न प्रकार के साधन हैं। ये सारे के सारे किसी एक को मिल जाएं और वह कहे कि बस अब नहीं चाहिए। ऐसा संभव नहीं है। वह बोले कि सारी दुनिया के साधन अगर एक की इच्छा पूरी नहीं कर सकते तो सबकी कहां से करेंगे। क्या करना चाहिए? तब शब्द प्रयोग किया कि 'तस्मात् तृष्णाम् परित्यजेत्।' ये जो इच्छाएं हैं, उनका नियमन करना। संयमित उपभोग, उसके लिए इच्छाओं का नियमन और उस हिसाब से प्रकृति के साधनों का उपयोग हो तो ये जो कल्पना है कि विकास हो सबका विकास हो पर सबको समानता से उसका लाभ मिले, यह सार्थक हो सकता है।

निरंतर विकास के एक मूल बिन्दु को ध्यान में लेकर आगे की ओर चलना पड़ेगा। इसी सारे दर्शन को दीनदयाल जी ने भी एकात्म दर्शन के रूप में कहा। एकात्म माने एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है। एक-दूसरे का पूरक, एक-दूसरे की चिन्ता करने वाला इससे एक मौलिक दिशा बनती है। ऐसा नहीं है कि यह केवल एक शाब्दिक वर्णन है। आज भारत में भले ही ऐसी स्थिति होगी, लेकिन एक संस्था है यूरोप की तो उसने सारी दुनिया के देशों की अर्थव्यवस्था का ईसा के पहले साल से लेकर 1800 साल का तुलनात्मक अध्ययन किया। यह अध्ययन करने वाले हमारे देश के नहीं थे। बाहर के थे। वह इस निष्कर्ष पर पहुंचें कि एक ईस्वी से लेकर के 1600 तक भले हम बीच में गुलाम रहे होंगे। लेकिन, आर्थिक दृष्टि से भारत की अर्थव्यवस्था विश्व की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था थी। बाद में, ब्रिटिश आक्रमण और यूरोप के आक्रमण और फिर लूट और शोषण प्रक्रिया चालू हुई, परंपरागत धंधे समाप्त हो गये, कारखाने समाप्त हुए, एक-एक चीजें समाप्त हुई और दृश्य बदलता गया और देश गरीबी की स्थिति में आया। इसका अर्थ है कि इतने दीर्घकाल तक यह चला आखिर उसके आधार कौन थे?

इतिहास यही बताता है कि जो हमारे कारीगर हैं, व्यापारी हैं, ये सम्पूर्ण विश्व में अपनी कलाकृतियों के द्वारा, वस्त्रों के द्वारा, विभिन्न प्रकार के जो कृषि उत्पादन हैं उनके द्वारा समृद्धि का परिचय लेकर गए। ऐसा कहते हैं कि रोम से लेकर के अरबिस्तान और अफ्रीका तक हर तरफ भारत का सामान जाता था। यूरोप के लोग भारत जैसे समृद्ध लूट करके बनें। भारत समृद्ध था, किसी को लूट के नहीं बना। वह व्यापार, वाणिज्य और अपनी कला की कारीगरी के आधार पर बना। इस नाते से जो चित्र भारत का पूर्वकाल में था, उस दिशा की ओर, आज अगर बढ़ना है तो इन तीनों दृष्टिकोणों से आज की परिस्थिति पर विचार करना पड़ेगा। एक, भारत की अपनी विशेषताएं क्या थीं? क्या गौरव है, उसका स्मरण करना। दूसरी-आज की जो स्थिति है, कारीगरी व कारीगरों की, कुल मिलाकर जो परिस्थिति है, उसका विश्लेषण करना। और तीसरी-इसमें से मार्ग निकालकर, फिर अगर आगे जाना है तो फिर भविष्य के लिए क्या-क्या करना, उसका विचार करना।

गौरव की बात है कि उसके बहुत सारे दस्तावेज (रिकार्ड) इतिहास में उपलब्ध हैं। साधारणतया कहते हैं कि ब्रिटेन के कारण सारा बदलाव आया। लेकिन, ब्रिटिश जब भारत में आये हैं। ब्रिटिश लोगों

ने यहां पर जो कुछ देखा उस आधार पर उन्होंने जो जानकारी भेजी, उसके जो रिकार्ड हैं वह धर्मपाल जी ने एकत्रित कर The Beautiful Tree शिक्षा के बारे में और Indian Science and Technology in 18th Century विज्ञान के बारे में पुस्तक बनाई। जो बताती है कि इस क्षेत्र में उस समय बहुत समृद्ध थे। पुरानी कई बातें हैं जैसे उस समय का सबसे बड़ा जहाज जिसकी भारवाहन क्षमता 1500 टन थी, वह भारत में बना था। चिटगॉव जो आजकल बांग्लादेश में है। वहां की गोदी और इधर बम्बई में क्रमशः 300 से और सवा दौ सौ से ऊपर जहाज बने। धीरे-धीरे इस विद्या को समाप्त किया गया। एक रिकार्ड बताता है कि अकेले आन्ध्र प्रदेश में लोहा बनाने की दस हजार भट्टियां थी। उनकी एक विशेषता थी कि उसमें चारकोल मिलाते थे। एक ही बार की प्रक्रिया में वह बेस्ट स्टील बन जाता था। जबकि, आधुनिक तकनीक होते हुए भी आज की तारीख में दो बार करना पड़ता है। धीरे-धीरे वह भी नाम शेष हो गया।

कपड़े के लिए बहुत प्रसिद्ध ही है। कहते हैं कि औरंगजेब वैसे तो बड़ा क्रूर था, लेकिन उसको अपनी लड़की से बहुत प्रेम था। एक दिन लड़की दरबार में आई तो उसके अंग दिख रहे थे। औरंगजेब बहुत गुस्सा हुआ। उसने कहा कि नामाकूल तुमको शर्म नहीं आती गैर मर्दों को अपना जिस्म दिखा रही हो। उसने कहा अब्बाजान क्या करूं। ये कपड़ा जो है इसको सात बार मैंने तह करके, मोड़कर के पहना है। यानी इतना महीन, बारीक कपड़ा था।

एक अंग्रेज था। उसने एक कपड़े के टुकड़े का विश्लेषण किया कि उसमें जो सूत था उसका काउन्ट 2325 था। जो आज की तारीख में भी संभव नहीं है। कहते है कि इलायची के दाने में थान आ जाता था या अंगूठी में से कपड़े का थान निकल जाता था। कलाकृतियों का तो कोई हिसाब ही नहीं है। हर घर एक कलाकार था। हर घर की जूती का एक प्रकार रहेगा। हर घर के कपड़े का एक प्रकार रहेगा। उस कारण से भारत की नक्क़ाशी, भारत के रंग इन चीजों की एक परंपरा देखते हैं।

आज अजन्ता में जो चित्र हैं, लगभग हजार साल मिट्टी में दबे रहे। हजार साल बाद निकलने के बाद भी उनका रंग नहीं गया है। अगर, किसी जगह खरोंच लग गई और आज के आधुनिकतम रंगों से उसको ठीक करने की कोशिश की। वह कुछ साल के अन्दर फीके पड़ गये। वह कौन-सी कला थी? कुल मिलाकर यहां के मंदिरों और स्थापत्य की रचनाएं अगर देखेंगे, तो चमत्कृत हो जाते हैं। लकड़िया हैं तो हमारे यहां का कारीगर उसमें भी देखता था कि ये लकड़ी किस प्रकार की है। उसकी प्रकृति के हिसाब से लकड़ी मजबूत है या कोमल प्रकृति है। यह भी कहा जाता था कि एक गांव में शिल्पी रहते थे। वो पत्थर जो है उस पत्थर में भी कौन नर है या कौन मादा है, ये जानते थे। ये जानने वाला शिल्पी उन दो शिलाओं को मिलाएगा, बिना किसी ज्वाईन्ट के, बिना किसी सीमेंट के, तो वह हजारों साल तक खड़े रहेंगे।

उसमें से किसी एक शिला पर आप आघात करें तो सरगम निकलता है। उस कोण पर उसे तराशना

है। यदि कुल मिलाकर, जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जिसके अन्दर भारत का योगदान नहीं रहा हो। ये अपना अतीत था। अतीत आने वाली पीढ़ी को भी पता होना चाहिए। क्योंकि उसमें से एक गौरव का बोध होता है। लेकिन जैसा कि समय के साथ कुछ विदेशी शासन, कुछ धीरे-धीरे दुनिया में जैसे बदलाव आता है तो समाज का प्रवाह पहले उसके पीछे एक बार दौड़ता है और भुगतने के बाद फिर लौटता है। लेकिन जब दौड़ता है, तब परंपरागत चीजें अस्त-व्यस्त हो जाती हैं।

धीरे-धीरे मशीनीकरण आया। विज्ञान तकनीकी का विकास हुआ। विश्व भर में हवा चली तो जैसे तूफान के अन्दर टिकना कठिन हो जाता हैं, धीरे-धीरे बहुत कुछ लोप तो ब्रिटिश के जाते-जाते हो गया था। आजादी के बाद भी वह चलता रहा। इसलिए आज के समय में एक बड़ी भारी चुनौती है। लेकिन एक बात तो निश्चित है कि मनुष्य को अगर भगवान ने मन और हृदय दिया है तो कहीं न कहीं उसमें कला और उसकी चाह रहेगी। रोबोट से, मशीनों से चाहे जितने डिजाइन, चाहे जितने प्रकार आप कर ले, लेकिन उसमें जो सूक्ष्मता है, वह किसी हाथ से बनाई गई एक कलाकृति जो भाव को संक्रमित करती है, वह मशीन की चीज नहीं कर सकती। असली अंगूर और प्लास्टिक के बहुत सुन्दर अंगूर में फर्क तो दिखता है।

कठिनाई का समय हो सकता है। समाज को उसमें से निकलना पड़ेगा। बस निकलने के लिए उस समय कुछ करने की जरूरत होती है। मनु का एक उदाहरण है। ऐसा कहते हैं कि मनुष्य नाम मनु के नाम से पड़ा। मनु के समय प्रलय आ गई थी। सब कुछ समाप्त। तो उस समय उन्होंने तरह-तरह के बीज, तरह-तरह के विचार, तरह-तरह की बातें, उसके बीज बचा कर रखे। फिर अनुकूल समय आया, फिर से एक नई दुनिया खड़ी हो गई। इस नाते आज के समय कारीगर और कारीगरी दोनों के सामने प्रलय की स्थिति है।

आधुनिक विज्ञान और तकनीकी के कारण जो तीव्र गति से बदलाव आ रहा है, उसमें लोगों की रुचियां बदल रही हैं। ऐसी अवस्था में इनको सुरक्षित रखना, इनको सवंर्धित करना, इसका प्रचार-प्रसार करना जरुरी है, उस नाते से कुछ योजनाएं बनाने की आवश्यकता है। कुल मिलाकर भिन्न-भिन्न कारीगरी में जितना आवश्यक और संभव है ऐसे तकनीकी का उपयोग करने की जरूरत है।

हर-एक कारीगर के पास जो कला है उसे संरक्षित करना जरूरी है। उसके लिए जो कच्चे माल है, जो संसाधन है, उस संसाधन की पूर्ति हो। उनके पास कला है, लेकिन साधन नहीं है। कोई प्रयोग नहीं कर पाया। अतः जिन-जिन व्यक्तियों को रूचि है, उनके लिए संस्थाएं और सरकारें हैं, वे संसाधन की पूर्ति की व्यवस्था करें। उन उत्पादित वस्तुओं की विक्रय के लिए एक व्यवस्था बनाना।

समय बदलता है। सो आज कल जंगल में प्रकृति किसी-किसी लकड़ी को अपने-आप कोई आकार दे देती है। उसमें किसी ने कलाकारी नहीं की है। लेकिन, देखने में सांप जैसा लगेगा, कोई गाय के मुंह जैसी आकृति, वह प्राकृतिक है। वही आकृति दो से पांच हजार रूपए में बिक जाती है। धीरे-धीरे

प्रगतिशील लोगों में भी ऐसी पुरानी कलाकृति तथा पुरानी चीजों पर आकर्षण बना है। धीरे-धीरे इसके सन्दर्भ में, इसके विक्रय की दृष्टि से व्यवस्था करना, इस पर करीगर के पक्ष में विचार करने की जरूरत है। अगर विक्रय व्यवस्था ठीक करनी है तो जो सामान्य समाज है, उनकी भी सहानुभूति और प्रशंसा उन्हें प्राप्त हो। सामान्य जीवन में यहां पर कोई न कोई वस्तु हम उनकी खरीदें। इसके लिए एक वातावरण बनाने की आवश्यकता पड़ेगी।

अपनी एक पुरानी परंपरा थी कि गांव के अन्दर ही सब कुछ हो जाता था। लेकिन, जरूरी नहीं है कि गांव में जिन-जिन चीजों का उत्पादन हो रहा है वह सारी चीजें गांव में ही खप जाए। इसके लिए एक पद्धति विकसित हुई थी। वह थी कुछ गांवों को मिलाकर हाट-बाजार की व्यवस्था। उसके सन्दर्भ में विचार करते हुए कुछ गांवों के कलस्टर में इन चीजों का प्रचार करेंगे। एक प्रक्रिया आगे की ओर बढ़ेगी।

हमारी परंपरा में हर चीज के अन्दर विशिष्टता का एक संदेश दिया गया। कलाकार कोई न कोई कलाकृति का चित्र निकालेगा। वह चित्र कोई विशेष संदेश दे। खेलों में भी संदेश दे। कई बच्चे सांप-सीढ़ी का खेल खेलते हैं। वह विदेश में बहुत चलता है। एक सांप है, अगर सांप के मुंह पर चले गये तो पूंछ तक लौटकर आना पड़ता है। अगर सीढ़ी के नीचे पहुंच गये तो ऊपर चले जाते हैं। ऐसा आखिर तक जाना पड़ता है। विदेशी खेल में आप क्यों नीचे आए और क्यों ऊपर गये उसका कारण नहीं है। किस्मत से पासे पड़े और सांप के मुंह पर चले गये तो नीचे आ गये। और किस्मत से पासे पड़े और सीढ़ी के नीचे पहुंच गये तो ऊपर पहुंच गये।

ऐसा ही सैकड़ों साल पुराना एक खेल केरल में मिला। वे लोग उसको वैकुंठम कहते थे। उसमें भी सौ खानें हैं। उसमें भी सांप है, उसमें भी सीढ़ी है, सांप के मुंह पर भी कुछ लिखा हुआ है और सीढ़ी के नीचे भी कुछ लिखा हुआ है। सांप के मुंह पर कहीं पर लिखा है-चोरी, कहीं पर व्यभिचार, कहीं पर जुआ, कहीं पर व्यसन। अलग-अलग तरह के सांप और अलग-अलग उनके काम लिखे हैं। आपको पता रहेगा कि नीचे क्यों आये हो। यहां गये इसके कारण हमको नीचे आना पड़ा। और जो सीढ़ियां हैं उसके नीचे लिखा है दान, ज्ञान दान, अन्न दान, फलाना दान। आप ऊपर क्यों गये, आपको उसका कारण बताया हैं। खेल है, खेल-खेल के साथ जीवन की एक दिशा है। उसमें एक विशेषता और है। जो सबसे बड़ा सांप है उसके अन्दर जिस पर 98 अंक है। उसके परम पद दो खाने दूर रह जाता है। पूंछ जो है दो पर है। उस मुंह पर लिखा हुआ है तृष्णा, जहां से मैंने बात शुरू की। ये जो भूख है, ग्रीड जिसको कहते हैं, वह मुंह पर लिखा हुआ है। अब कहने का तात्पर्य यह है कि वह खेल है, कारीगर ने खेल का एक प्रकार बनाया है। लेकिन उसमें एक संदेश है। चाहे वस्त्र की कलाकृति हो, चाहे बांस की कलाकृति हो, हर चीज के अन्दर कोई न कोई संदेश कलाकार अपनी सोच और अपनी दर्शन से दे सकते हैं। आने वाले समय में परिवर्तन तो निश्चित आयेगा। वह समाज का एक स्वभाव है।

समाज का एक स्वभाव है कि पहले समझाने से जल्दी समझ जाते थे। अब जमाना जरा प्रगतिशील

हो गया है। भुगतने के बाद समझने का स्वभाव बन गया है। समझाने से कोई नहीं समझता है। कुल मिला कर आज सारी दुनिया के अन्दर धीरे-धीरे लोग इस निष्कर्ष पर आ रहे हैं कि जब संकट बढ़ता है तो समझने की मानसिकता में कुछ बदलाव आ जाता है। जैसे तीस साल पहले अगर जैविक खेती की बात किसान से करो तो बात कहने वाले को पागल समझते थे। मैं तीन फसल ले रहा हूं। लेकिन, आज जब अन्न में जहर हो रहा है और लौकी से लेकर खीरे से तक सब चीजें क्या-क्या तरीके अपना कर धन कमाने का प्रयत्न आदमी कर रहा है तो हर एक को आज डर लगता है कि अन्न सब्जी के द्वारा शरीर के भीतर क्या जा रहा है?

जैविक की बात तीस साल पहले भी कर रहे थे। आज भी कर रहे हैं। फर्क क्या है। पहले कोई सुनता नहीं था। आज सुनता भी है, समझता भी है और प्रयोग भी करता है। इस नाते धीरे-धीरे ये परिवर्तन की प्रक्रिया चलेगी। विकास यानि आगे बढना। आगे कैसे बढ़ते हैं? हम लोग पैदल चलते हैं। एक पांव जमीन पर रहता है और एक पांव ऊपर रखते हैं। फिर, जो ऊपर रखा उसको जमीन पर रख देते हैं। जो जमीन पर था उसको उठाकर आगे रखते हैं। यही प्रक्रिया है। हमारे पूर्वजों ने कहा कि अगर निरंतर विकास करना है तो दोनों को संभालो। जो जमीन पर रखा हुआ पैर है-वह परंपरा है। वह अपने पुराने अनुभव हैं। और जो उठा हुआ पैर है जिसको आजकल मॉडर्निटी, आधुनिकता, जो नई-नई चीजें आ गई वह है। लेकिन वह लाभदायक तभी है जब आपका एक पांव जमीन पर रहे। कोई कहे कि ये तो दकियानूसी पुराना विचार है। मैं तो एक पांव ऊपर करूंगा और बिना उसे नीचे रखे दूसरा भी ऊपर करूंगा। करो-तभी समझ आएगा, जब अनुभव में आएगा और जब असंतुलित होकर नीचे गिरोगे। अतः परंपरा को पकड़कर आधुनिकता को ले लो। जो जरूरी है, उतना ही लेना।

अपनी प्राचीन परंपरा की जो विशेषताएं हैं, जो दर्शन हैं, जो जीवन-मूल्य हैं उसको लेकर चलें। आज के समय में और इस संघर्षशील जगत में मुकाबला करने के लिए एक दृष्टि से आधुनिक सारी तकनीकें है। उसमें से जो लेने लायक है उसको लेने के सन्दर्भ में, अलग-अलग विद्याओं के अन्दर चिन्तनशील लोग इसका विचार करें। समाज में सामाजिक संस्थाओं का इन सारे कारीगरों के सन्दर्भ में एक सम्मान का भाव उत्पन्न हो। बिहार में एक प्रयोग शुरू हुआ था-'ग्राम गौरव' का। हर साल एक समारोह करते थे। गौरव किसी बड़े आदमी का नहीं। गांव में जो सबसे अच्छा जूता बनाने वाला है, सबसे अच्छा लोहार है, लकड़ी में अच्छे से अच्छा काम किया है, ये व्यक्ति हमारे गांव का गौरव हैं। गांव की सब जातियां और सब मुखिया मिलकर के उनका अभिनन्दन करना, उनका सम्मान करना, उनका गौरवगान करना। आज की तारीख में जैसा कि इस कारीगरी की विद्या को सर्टिफिकेशन या मान्यता की बात है। उसी तरह से कारीगर को समाज की मान्यता, समाज की प्रतिष्ठा मिलेगी। आदमी ये नहीं सोचेगा कि ये गया-बीता काम है, इसको हमको छोड़ देना है। धीरे-धीरे इनके सन्दर्भ में सम्मान का भाव पैदा करना है और कुल मिलाकर एक दृष्टि से आने वाले समय के अन्दर जो एक ऐसा भारत जो दुनिया को

दिशा देगा। वह करना है। जहां परंपरा और आधुनिकता दोनों का समन्वय है इस प्रकार का रहेगा।

कारीगरों का संरक्षण, उनकी गुण वृद्धि, उनका विकास, उनको संसाधन, उनको मान्यता और इसके साथ-साथ और भी नई-नई चीजें जो विलुप्त होने के कगार पर हैं उन सबको पुर्नजागृत किया जाए। कुछ मॉडल खड़े करें और समाज के सभी संवेदनशील लोग, सामाजिक संस्थाएं, सरकार इस दिशा में प्रयत्न करें। सरकारी नीतियों में भी उचित परिवर्तन के लिए नीति को प्रभावित कर सकने की क्षमता वाले लोग, उनको सहमत करने में सक्षम लोग, ऐसा समग्र प्रयत्न चले, तो इसमें कोई दो मत नहीं कि फिर से वह गौरवशाली दिन लौटेंगे।

दीनदयाल जी ने कहा था कि कई बार हमको भय लगता है कि विकृति ही विकृति है। विकृति पर प्रकृति और प्रकृति पर संस्कृति की विजय सुनिश्चित है। भारत की मिट्टी का मुझे भरोसा है। हम सब भारत की मिट्टी में पैदा हुए हैं। भारत बार-बार नीचे गिरकर फिर उठा है। वह हम सब के प्रयत्नों से उठेगा।

❖❖❖

भू-सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

– मा. दत्तात्रेय होसबाले, सहसरकार्यवाह, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

हमारे देश में जिन बातों में कुछ समस्याएं हैं, उनमें से एक है-देश में क्रेडिबिलिटि की। जैसे करेक्टर की समस्या है, वैसे ही कॉन्सेन्सस की समस्या है। अपने देश के इतिहास, अपने देश के एकता-एकात्मता, इस देश का नाम, इसके स्वभाव, इसके गुण धर्म, इसकी चिति-इन सारे विषयों के बारे में एक सर्वसम्मति, आम सहमति देश के विद्वत जगत में नहीं है। एक दृष्टि से यह भी एक विडंबना है।

दुनिया में ऐसा और कोई राष्ट्र नहीं होगा, जिसे अपने राष्ट्रत्व के बारे में इतना भ्रम हो। हमारे देश में लोग आर्य बाहर से आए या नहीं आए, आज तक इस पर चर्चा करते रहे हैं। आर्य और द्रविड़ ऐसी दो जातियां इस धरती पर रही हैं। यही हम पढ़ते आए हैं और आज के बच्चे भी पढ़ रहे हैं। जबकि, दुनिया में कई प्रकार से इस विषय को नकारते हुए यह वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध हो गया है कि ऐसी कोई बात नहीं है। लेकिन अपने देश के कुछ विद्वान कहलाने वाले लोग, बुद्धिजीवी लोग, इतिहासकार इसी विषय को अभी भी किसी-न-किसी रूप से सामने रखने का प्रयास करते आए हैं।

अपने देश के इतिहास के और भी आयामों के बारे में ऐसा है। जैसे इस देश की राष्ट्रीयता और राष्ट्र के बारे में आधारभूत तत्व क्या हैं? कुछ वर्ष पहले किसी ने लिखा कि भारत को राष्ट्र बनाने के लिए जो आधारभूत तत्व हैं, वो है-सेक्युलरिज्म और डेमोक्रेसी। मूल रूप से सेक्युलरिज्म या डेमोक्रेसी के जो तत्व हैं, उनसे भारत का कोई विरोध नहीं है। लोकतंत्र को अथवा सेक्युलरिज्म को जिस प्रकार से विचार करना चाहिए, उस पर भी विरोध नहीं है। लेकिन क्या भारत के आधारभूत तत्व यही है। भारत को भारत बनाने वाले कौन-से तत्व हैं? भारत ही एक राष्ट्र है, तो किस आधार पर? किन बातों के तत्व के आधार पर? वास्तविकता के आधार पर हम इसको राष्ट्र मानते हैं। और राष्ट्र होता भी क्या है? संयुक्त राष्ट्र संघ, राष्ट्र संघ नहीं है। दीनदयाल जी ने यही कहा था कि यूएनओ यानी संयुक्त राष्ट्र संघ नहीं है। यह नेशन स्टेट ऑर्गेनाइजेशन यानी राष्ट्र राज्यों का संगठन है। इंडोनेशिया से ईस्ट तिमोर यदि अलग हो गया, उसको यदि यूएन ने मान्यता दे दी है, तो वह एक राष्ट्र हो गया, तो दूसरे दिन में, दूसरे महीने में, दूसरे वर्ष में जो प्रक्रिया है, उसके आधार पर उसको संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त हो जाएगी। इसका अर्थ यह हुआ कि आप ने संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त कर ली है, तो आप एक नए राष्ट्र हैं। लिहाजा संयुक्त राष्ट्र संघ राष्ट्र राज्य का संगठन है। यही दीनदयालजी का कहना था। तो इसलिए राष्ट्र और राष्ट्र राज्य इन दोनों में अंतर है। वैसे कहा जाए तो नेशन और राष्ट्र यह भी समानार्थी नहीं है। हम और कोई शब्द के अभाव में राष्ट्र और नेशन ये दोनों को समान मान बैठे हैं। ठीक उसी तरह जैसे रीलिजन और धर्म दोनों अलग-अलग हैं।

रिलीजन धर्म का एक हिस्सा हो सकता है, लेकिन धर्म बहुत व्यापक है। यह समग्र और सर्व समावेशी है। रिलीजन उसका एक अंग है। आप रिलीजीयस न होते हुए भी धार्मिक बन सकते हैं। वैसे ही राष्ट्र और नेशन एक ही नहीं है। नेशन की कल्पना, नेशन का जो शब्द है, उसका मूल अलग है। वह नेटिव से आया है। 'राष्ट्र' शब्द का मूल 'राज' व 'ट्र' से आया है। राष्ट्र शब्द एक शुद्ध भारतीय कल्पना है। इसकी विवेचना के लिए भाषा शास्त्र की और गहराई में जाना पड़ेगा। अपनी अनुकूलता के लिए नेशन और राष्ट्र को हम लगभग समान मानें। उसी तरह कल्चर और संस्कृति समान नहीं है। लेकिन आज समझने की दृष्टि से राष्ट्रीयता यानी नेशनलिज्म है। कभी-कभी नेशनलिज्म को राष्ट्रवाद कहा गया है। यह भी हुआ है। राष्ट्र का वाद–यह कैसे होता है? सांस्कृतिक राष्ट्रवाद? यह वाद का प्रश्न नहीं है। यह वाद से परे है। यह वास्तविकता है। जहां-जहां "इज्म" है, उसको वाद कहने की एक आदत बन गई है। कम्युनिज्म साम्यवाद है। सोशलिज्म समाजवाद है। क्या जर्नलिज्म भी पत्रकारवाद है? वह तो पत्रकारिता है। तो नेशनलिज्म राष्ट्रीयता क्यों नहीं है? राष्ट्रवाद क्यों हैं? यह इसलिए राष्ट्रवाद नहीं है, क्योंकि यह सांस्कृतिक राष्ट्रीयता है।

राष्ट्र एक सांस्कृतिक अवधारणा है। दुनिया में राष्ट्र कैसे बने हैं? पश्चिम के यूरोप के देश, पश्चिम के जगत में वहां के राष्ट्रों में, जैसे कभी वहां पोप का अधिपत्य चलता था। उनके आधिपत्य से मुक्त होने

के लिए वहां के लोगों ने आवाज उठाई तो राजा लोग आए। राजा लोगों ने एक प्रकार का शोषण किया, तो उस कारण वहां के लोगों ने फिर आवाज उठाई। फिर, संघर्ष हुआ उसके पश्चात् लोकतंत्र की आवाज तब बुलंद हो गई। लोगों ने कहा हमको सेक्युलरिज्म चाहिए।

लोगों ने रिलीजन के, मजहब के आधार पर हर चीज को उसी के दायरे में, उसी की चौखट में रखने के प्रयास का प्रतिरोध किया। उन्होंने कहा कि हमें एक लौकिक राज्य चाहिए। हमारी शिक्षा, हमारी राज्य व्यवस्था यह केवल आपके रिलीजन की चौखट में बांधकर न चलाएं। यह अलौकिक राज्य है। इस प्रकार के विषयों से वहां लोकतंत्र की आवाज बुलंद हुई। इसलिए संघर्ष होते-होते राजाओं के उस शिकंजे से मुक्त होने के लिए वहां के समाज ने प्रयास करते हुए अपने को स्वतंत्र रूप से पाने के लिए संघर्ष किया। इस कारण आधुनिक राष्ट्र निर्मित होते गए। उसी को उन्होंने नेशन स्टेट कहा। भारत इस प्रकार से संघर्ष के कारण उत्पन्न होने वाला राष्ट्र नहीं है। भारत ऋषियों की सद्इच्छाओं के कारण, उनके ओजस्व के आधार पर लोक कल्याण के लिए है। यहां के लोगों की अपनी मनुष्यता के विकास के एक महत्वपूर्ण चरण के नाते राष्ट्र का विकास हुआ।

मनुष्य अपने परिवार में रहता है। अपनी बिरादरी में रहता है। अपने गांव में, अपने जनपद में रहता है। यह सब उसके व्यक्तित्व का एक हिस्सा हैं। मैं एक ही साथ, अपने परिवार, अपने ग्राम समुदाय का सदस्य हूं। साथ ही, मैं अपने राष्ट्र-राज्य का भी सदस्य हूं। मैं उसी समय इस राष्ट्र का भी सदस्य हूं। ''राष्ट्रांग भूतः। और उसी के साथ मानवता के मानव कुल का भी एक सदस्य हूं। इस सृष्टि की संतान भी हूं। इसलिए एक ही व्यक्ति का विभिन्न प्रकार के आयामों में, परिचय होता है। राष्ट्र का विकास, मानव विकास के चरणों में एक महत्वपूर्ण चरण है। हमारे ऋषियों ने ऐसा विचार किया। उन्होंने राष्ट्र का संयोजन करने का काम किया। किसी के खिलाफ नहीं, किसी के विरूद्ध संघर्ष नहीं, प्रतिक्रिया के आधार पर नहीं, सत्ता के मोह या लालसा के कारण नहीं। सैनिक शक्ति के आधार पर अपनी सीमाओं को सींचकर राष्ट्र बनाने का प्रयास ऋषियों ने नहीं किया। इसलिए राष्ट्र का विकास भारत में कैसे हुआ है—यह विषय आज विश्व में इस अध्ययन करने का विषय बना है।

राष्ट्र बनता कैसे है? राष्ट्र तीन तत्वों के कारण बनता है। भूमि चाहिए। उस भूमि को माता मानने वाला, उसके प्रति श्रद्धा रखने वाला, उसके प्रति लगाव, जुड़ाव रखने वाला, खुद को उस भूमि की संतान समझने वाला एक जन समाज होना चाहिए। भूमि और जन के माता और पुत्र के जो संबंध हैं। इसके बारे में अथर्ववेद का वाक्य है-"माता भूमिरू पुत्रो अहं पृथिव्या"।

इसके साथ-साथ जो परम्परा है, जन समाज का एक अतीत है। उसका एक इतिहास है। वह इतिहास समान है, उसका बोध समान है। इतिहास को देखने की दृष्टि समान है। हम कहते हैं-घर के सदस्यों का नाम रावण या कंस नहीं रखते हैं। आदर्श राम का है। वो जम्मू कश्मीर के हों, केरल के हों, मेघालय के हों, अरूणाचल के हों या गुजरात के हों। एक समान आदर्श है। भविष्य के प्रति एक समान

आकांक्षा है। जीवन के जीने का तरीका समान है। खान-पान के, वेश-भूषा के, परिधान के, भाषा के, बोली के, इस प्रकार बाहर से दिखने वाले दृश्यों में विविधताएं दिखती होंगी, लेकिन एक अंर्तनिहित एकता है, एक प्रवाह है, एकात्मकता है, वह किसी भी राजसत्ता के कारण, या किसी राज्य सीमा के कारण अलग नहीं है। यह एकात्मकता हम साधारण कहावतों में भी देख सकते हैं। इतनी कहावतें हैं।

मेरी मातृ भाषा कन्नड़ भी है। हम दो लोग लोग बात कर रहे हैं। मान लीजिए, मैं और रमेश जी, अतुलजी के बारे में बात कर रहे हैं। अतुलजी विद्यमान नहीं है। हम कमरे में बैठकर बात कर रहे हैं, अतुलजी आ गए, उन्होंने कमरे में प्रवेश किया। हम दोनों कहेंगे–अतुलजी की सौ वर्ष की आयु हो, लंबी आयु हो। यही हिंदी में, गुजरात में भी है, ये असमिया में भी है, कन्नड़ में भी है और मलयालम में भी है। समस्त हिंदुस्तान में यही है। सौ वर्ष जियो, दीर्घायु हो, वगैरह-वगैरह। पश्चिम में क्या कहते हैं, थिंक ऑफ द डेविल एण्ड डेविल इज हियर। अतुलजी डेविल हो गए, दीर्घायु नहीं हैं। यह संस्कृति का भेद है। जीवन मूल्य एक हैं, इसलिए संस्कृति एक है।

हमारे रिश्ते-नाते कैसे होते हैं? चंद्रमा के बारे में 'मामा' कहना किसने सिखाया, मालूम नहीं है। लेकिन, हिंदुस्तान की हर भाषा-बोली में ये है। कविताएं हैं। ये जो सांस्कृतिक मूल्य हैं, जीवन के मूल्य हैं, यह हमको राष्ट्र बनाते हैं। इसलिए, भूमि, जन और संस्कृति है। जमीन, जन और जीवन मूल्य ये तीनों मिलकर राष्ट्र बनाते हैं। हम टेक्स्ट बुक में हमारे विद्यार्थियों को, आप अपने घर में स्कूल-कॉलेज में जाने वाले बच्चे को, सोशल स्टडीज, पोलिटिकल साइन्स पढ़ने वाले बच्चों को कहो तो वह कहेंगे, नेशन यानी पीपल है। यही चीज नेशनलिटी वगैरह-वगैरह में प्रवेश करती जाती है। क्योंकि हम नेशन स्टेट को ही नेशन मान बैठे हैं। इसलिए सन् 1947 में, 1971 में या 2000 में एक ही व्यक्ति की तीन राष्ट्रीयता नहीं हो सकती। एक पोलिटिको-लीगल कॉन्सेप्ट है, सिटिजनशिप में बांग्लादेश के नागरिक। वह बांग्लादेश का नागरिक है, भारत का नहीं है। उनके पासपोर्ट अलग हैं। यह पोलिटिको लीगल स्टेट ऑफ ए परसन है। लेकिन कल्चरल, रिलिजियो, स्पिरिजुअल कॉन्सेप्ट हैं, जो संस्कृति आधारित हैं, वह राष्ट्रीयता है। सिटिजनशिप अलग चीज है। कोई भी सरकार या राष्ट्र सिटिजनशिप दे सकती है, पर क्या वह राष्ट्रीयता दे सकती है? ये दोनों चीजें आपको नेशनलिटी नहीं दे सकतीं। देश केवल नागरिकता दे सकता है। ये दोनों कॉन्सेप्ट अलग हैं। तो इसलिए राष्ट्र बनता है, इस कारण से कि मनुष्य के जीवन में जीवन मूल्य का एक स्थान है। उस कारण से इतिहास के साथ एक बंधन है। एक समाज के साथ एक नाता है। इसलिए पूरे देश के लोग एक प्रकार से ही सोचते हैं।

तमिलनाडु के मुख्यमंत्री रहे अन्नादुरई द्रविड़ मुनेत्र कड़घम के नेता थे। कुछ समय राज्य सभा सदस्य भी रहे हैं। 1962 में चीन का आक्रमण हुआ और युद्ध हुआ। तो उस समय उनका उद्‌गार, ये सिद्ध करता है कि पूरे देश के लोग संकट के समय में भी एक प्रकार से सोचते हैं। वैसे तमिलनाडु में द्रविड़ कड़घम और द्रविड़ मुनेत्र कड़घम के लोगों ने कहा हम उत्तर से अलग हैं, हम हिंदी नहीं चाहते

हैं। हमको अलग सेना चाहिए। तमिल राष्ट्र के बारे में विचार रखते रहे हैं। 1962 में जब चीन का आक्रमण हुआ, तो इस प्रकार की सारी विचारधारा के व्यक्ति ने राज्य सभा में कहा हमारी सब प्रकार की ताकत लगाई जाए, कोई कमी न रहने दी जाए। हमको हिमालय को बचाना चाहिए। देश को शत्रुओं से बचाना चाहिए। ऐसा जोरदार भाषण राज्यसभा के सदन में दिया। बाहर आने के बाद अन्नादुरई से लोगों ने, पत्रकारों ने पूछा। आप तो अलग तमिलनाडु, अलग राज्य, अलग सेना मांगते थे। आक्रमण तो उत्तर में हुआ। आप तो दक्षिण भारत से आए हैं। दक्षिण अलग है। ये कैसे हो गया? उनका उत्तर था कि हम इस राष्ट्र के हैं। हमारे जो शिवजी हैं, जिनकी आराधना हम करते हैं, उन शिव का जो स्थान है, वह कैलाश है। नास्तिकवाद के द्रविड़ मुनेत्र कड़घम के अन्नादुरई कहते हैं कि हमारे शिव के आवास स्थान पर आक्रमण हुआ है, यह हमारे राष्ट्र पर आक्रमण हुआ है। यह सांस्कृतिक राष्ट्र है।

तो इस राष्ट्रवाद को अपने लोगों ने कैसे समझाया, भारत के प्रत्येक संत-महात्मा ने, पंथ संप्रदाय को प्रारंभ करने वाले लोगों ने समय-समय पर अपने अनुयायियों को, उस पंथ के लोगों को उन्होंने यही कहा कि समग्र भारत यह एक राष्ट्र है। इसको भारत माता के रूप में देखना चाहिए। यह एक दैवीय भूमि है। आध्यात्मिक भूमि है। पुण्य भूमि है। इसलिए उन्होंने हमेशा यही कहा कि हिमालय से लेकर समुद्र तक।

'उत्तरम् यत् समुद्रस्य हिमाद्रेः चैव दक्षिणम्। वर्षम् तद् भारतम् नाम भारती यत्र संततिः'

हमारे लोगों ने कहा-'हिमालयं समारंभम् यावद् हिंदु सर्ववरम् वसं हिंदुस्तान प्रक्षष्यते।' उसी को हिन्दुस्तान कहा। आज से नहीं हजारों साल पहले लोगों ने कहा। इसलिए यात्रा भी कैसे की? केरल के कालड़ी में जन्मे शंकराचार्य पूरे देश की यात्रा पैदल करते हैं। तो उनकी सीमा ये भारत की सीमा कैसे आ गई? रामायण में अयोध्या में जन्मे रामजी ने रामेश्वरम् में आकर वह समुद्र के तट पर रेत की शिवलिंग बनाकर उसका अभिषेक किया। भगवान कृष्ण के जीवन में द्वारका से लेकर आज का जो मणिपुर है, वहां तक उनका जीवन है। इसलिए डॉ. राममनोहर लोहिया जैसे समाजवादी भी अपने 'राम कृष्ण शिव' इस शीर्षक के लेख में उन्होंने यही कहा कि भारत को जोड़ने वाले जो तत्व हैं, वो उत्तर से दक्षिण राम के तत्व, पश्चिम से पूर्व तक कृष्ण के तत्व और समग्रता से शिव तत्व हैं, जिन्होंने भारत को जोड़कर एक राष्ट्र बनाया है। ये समाजवादी डॉ. राममनोहर लोहिया कहते हैं।

हमारे सभी पंथ समुदाय के लोगों ने, उदाहरण के लिए सूर्य पंथ समुदाय के लोगों ने, मंदिर बनवाए। शैव लोगों ने बारह ज्योर्तिलिंग 'सौराष्ट्रे सोमनाथं च श्रीशैले मल्लिकार्जुनम' की स्थापना की, गणपति के द्वादश विनायक की परिकल्पना की, शाक्त लोगों ने 52 शक्तिपीठों की कल्पना की। पूरा भारत पवित्र है, पुनीत है, पुण्य भूमि है। तो इसलिए अपने लोगों ने तीर्थ यात्रा की परिकल्पना की। जवाहरलाल नेहरू जैसे सेक्युलर राजनेता ने कहा कि भारत अद्भुत देश है। मैं हमारे पूर्वजों के चरणों में नतमस्तक हूं। उन्होंने कैसे सोचा इस देश को एक बनाए रखने के लिए तीर्थ यात्रा की। उन्होंने कल्पना करके उसकी

एक परम्परा प्रारंभ कर दी ताकि, सर्वसामान्य लोग भी पूरे भारत का प्रतिदिन विचार करें, सोचें। दक्षिण भारत में जन्मे एक व्यक्ति को लगता है कि मुझे काशी में जाकर विश्वनाथजी का दर्शन करना चाहिए। मुझे अमरनाथ जाना चाहिए। ऐसा क्यों लगता है? मुझे परशुराम कुंड तक हो सके तो जाकर दर्शन करना चाहिए, ऐसा क्यों लगता है? दक्षिण में रहने वाले रामेश्वरम में जाकर वहां अभिषेक करना चाहिए, कन्याकुमारी में जाकर भारत के उस छोर तक जाना चाहिए, इस पवित्र भावना से क्यों उत्तर भारत के लोग भी स्वाभाविक रूप से प्रफुल्लित हो जाते हैं। यह किस राजा ने कानून बनाकर ऐसा किया? कौन से संविधान ने कहा कि आपको तीर्थ यात्रा में जाना चाहिए।

प्रतिदिन अपने बाथरूम में स्नान के समय 'गंगे च यमुनेश्चैव गोदावरी सरस्वती। 'नर्मदे सिंधु कावेरी जलेस्मिन संनिधिम कुरू'।।-यह हम कहते हैं। अपने नल के नीचे बैठकर, वहां के कॉरपोरेशन के पानी से नहाते हुए कहते हैं। न वहां गंगा है, न यमुना है, न कावेरी है। लेकिन कहते हैं इसमें गंगा है, इसमें यमुना है, इसमें कावेरी है। भावना को इस प्रकार जागृत करते हुए, हमारे पूर्वजों ने पूरे भारत के साथ एक अभिनव संबंध बनाए रखने का प्रयास किया। व्यक्ति शायद, अपने जिले से भी बाहर नहीं गया होगा। लेकिन, फिर भी उसको लगता है कि मेरा देश कश्मीर से कन्याकुमारी तक है। उसको रामायण के, महाभारत के कहानी सुन-सुन कर लगता है कि सरयू के तट पर अयोध्या है। उसको लगता है वह भारत मां है, जहां हमारे भगवान कृष्ण ने जन्म लिया वह मथुरा है। कभी देखा नहीं होगा, अपने जीवन में। लेकिन, एक जगह वह बैठकर सोचता है कि समग्र भारत के साथ मैं जुड़ा हुआ हूं। इसलिए स्वामी रामतीर्थ कहते हैं कि मेरा सिर हिमालय है। मेरा पैर कन्याकुमारी है, मेरे दोनों जंघाएं कोरोमंडल सहयाद्रि हैं। मैं भारत हूं। भारत मेरे भीतर है।

भारत के साथ एक तादात्म्य हो चुके शंकराचार्य या विवेकानंद कोलकाता से निकल कर पूरे भारत की परिक्रमा करते हुए कन्याकुमारी तक पहुंचे। क्यों पहुंचना था? भारत का दर्शन करना एक सांस्कृतिक बोध है। इस संस्कृति परंपरा के साथ जुड़ने का एक अत्यंत अद्भुत आनंद का अनुभव है। यह है राष्ट्रीयता। तो इस राष्ट्रीयता के संदर्भ में दीनदयालजी ने यही कहा कि इतने लोगों ने राष्ट्रीयता का महत्वपूर्ण हिस्सा जो है, वह स्वदेश है।

देश का अर्थ है जो भौगोलिक दृष्टि से जो भूमि है। देश, जन और संस्कृति के कारण राष्ट्र बनता है। देश की एक भौगोलिक सीमा हो सकती है। तो इसलिए इस भूमि पर राम की लीला, कृष्ण की लीला हुई है और शिव के तत्व है। इसलिए वह भू सांस्कृतिक बन जाती है। इस भूमि के साथ जुड़ाव है। इसलिए टेरीटोरियल नेशनलिज्म, रिलिजियस नेशनलिज्म या पॉलिटिकल नेशनलिज्म, या नेशन स्टेट के कारण नेशनलिज्म ये सब दुनिया के अन्य-अन्य भागों में, अनुभव में आए होंगे, विकसित हुए होंगे, लेकिन सैकड़ों वर्षों के बाद वह सब अस्थिर है। यदि एक मजहब के आधार पर राष्ट्र बनता है तो इस्लाम के कितने ही राष्ट्र हैं। अमेरिका-कनाडा दो अलग-अलग क्यों होना चाहिए? यूरोप के इतने राष्ट्र राज्य क्यों

होना चाहिए? 'रिलीजन इज नॉट दी बेसिस फार दी नेशनलिज्म।' कौन है? प्रादेशिकवाद है, पॉलिटिक्स है। 1944 में द्वितीय विश्व युद्ध के अंत में जर्मनी दो भागों में बंट गया और दो नेशनल स्टेट बन गए और दीवार खड़ी की गई। लेकिन, 1989 में उस दीवार को वहीं के लोगों ने तोड़ा। क्यों तोड़ा? पूर्व और पश्चिम दोनों जर्मनी की संस्कृति, उनके जीवन मूल्य, उनका इतिहास , अतीत और जीवन मूल्य एक थे।

यह समाज है। प्रतिदिन इवॉल्व हो रहा है। डयू टू दी पॉलिटिक्स एंड पॉलिटिकल कान्सपिरेसी दी वॉर वाज क्रिएटेड आर्टिफिशियली। सामान्य लोगों ने अपने अद्भुत पराक्रम के कारण से दो जर्मनियों के बीच की दीवार को तोड़ा। केवल भौतिक दीवार को तोड़ा। उनके मन के बीच, जनता के बीच जो दीवार खड़ी की गई थी, एक राजनीतिक कॉन्सपिरेसी के कारण, उसको उन्होंने तोड़ा। दूसरा भी एक पक्ष है। स्टालिन और बाकी लोगों ने जोर जबरदस्ती से और जुल्म से अपने राजनीतिक और सैनिक शक्ति के आधार पर सोवियत संघ को रूस से जोर जबरदस्ती जोड़ दिया था, वह टूट गया। उनके अंदर की राष्ट्र भावना जग गई। टुडे देयर इज नो यूएसएसआर इन दी वर्ल्ड मैप। उत्तर और दक्षिण दोनों वियतनाम अपने बीच के इस भेद को भूलकर, हम एक इतिहास के हैं, एक सांस्कृतिक मूल्य के हैं, एक जीवन मूल्य के हैं, एक राष्ट्र, एक जन, हम एक लोग हैं। इसलिए हम एक राष्ट्र बनें। बल्कि, उत्तर और दक्षिण दो वियतनाम आज नहीं हैं।

वर्तमान में ब्रिटेन यूरोपियन यूनियन से बाहर है। उत्कृट राष्ट्रीयता के कारण बाहर है। उसका पॉलिटिकल डिस्कशन खूब चल रहा है। उसके आधार पर चुनाव हो रहे हैं। मेनिफेस्टो में लिखा जा रहा है। गहराई से अध्ययन करने वाले पश्चिम के इस परिवर्तन को ऑब्जर्व करने वाले जो पॉलिटिकल साइंटिस्ट हैं, यह मानते हैं कि ब्रिटेन की राष्ट्रीयता के कारण यह डेवलपमेंट हुआ। अब उसका दूसरा एक पक्ष, आयाम है।

व्यथित होने के बाद, स्कॉटलैंड के लोगों ने कुछ समय पहले अपनी राष्ट्रीयता के कारण वोट डाले, लेकिन वह हार गए थे। उनके अंदर वही एक आशा फिर से जग गई।

यूनाईटेड किंग्डम जो आज है, ब्रिटेन, स्कॉटलैंड, आयरलैंड और वेल्स इनको मिलाकर एक राष्ट्र राज्य बनाने का प्रयास है। उसके अंदर स्कॉटलैंड और आयरलैंड कहीं-न-कहीं बाहर जाने का प्रयास कर रहे हैं। एवरी आइरिश मैन थिंक दैट आई एम नॉट ए ब्रिटिश, ही ऑर शी मे बी ए सिटिजन ऑफ यूके। लेकिन उनके अंदर की राष्ट्रीय भावना अलग है। पॉलिटिकल साइंटिस्ट सैमुअल हटिंग्टन ने 9-11 के बाद, एक पुस्तक लिखी। उस ग्रंथ में उन्होंने 'हू आर वी' में उन्होनें ये विचार रखा कि अमेरिका का एक नेशनलिज्म है। उनके हिसाब से वह नेशनलिज्म क्या है? उन्होंने कहा कि यह व्हाइट एंग्लो-सेक्सन प्रोटेस्टेंट हैं। व्हाइट-कलर ऑफ स्किन, एंग्लो-सेक्सन ऑफ रेस, प्रोटेस्टेंट-इज रिलीजन। यानि तीनों के मेल से अमेरिकी राष्ट्रीयता बनती है। यह उनका विचार है। आगे जाकर, उन्होंने एक अंतरराष्ट्रीय

सेमिनार का आयोजन किया। उस सेमिनार में दुनिया के कई देशों के विद्वान लोग आए। राष्ट्र कैसे बनता है? इसके आधार क्या हैं? इस विषय के बारे में दो सेमिनार हुए। उस अंतरराष्ट्रीय सेमिनार में विद्वान लोगों ने जो विचार व्यक्त किए, उन्हें संकलित करते हुए सैमुअल हटिंग्टन ने एक और पुस्तक प्रकाशित की। उस ग्रंथ का नाम है-'कल्चर मैटर्स।' माने संस्कृति महत्वपूर्ण है। राष्ट्र को राष्ट्र बनाने वाला तत्व संस्कृति है। यह दुनिया भर के विद्वान लोगों के उस सेमिनार में कहने पर सैमुअल हटिंग्टन ने उस ग्रंथ को प्रकाशित किया। भारत के ऋषि-मुनियों ने हजारों वर्ष पूर्व अपने जो विचार से दुनिया के लिए उसके सम्मुख रखे थे, उस विचार को रखा था। उस विषय को पंडित दीनदयाल जी ने भू सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के नाम से पहचाना था। आज दुनिया के अंदर फिर से एक बार ऐसा मानने की स्थिति आ गई है कि यही राष्ट्रीयता का आधार है। इसी के आधार पर आप देखें तो नेशनलिज्म शब्द के बारे में यूरोप में कहीं-न-कहीं वहां के हिटलर एवं मुसोलिनी के कारण जो भयंकर जुगुप्सा थी, विरोध था। राष्ट्रीयता यानी हिंसा के मूलक। राष्ट्रीयता कहने से असहिष्णुता आ जाती है। राष्ट्रीयता कहने से दूसरे के प्रति विद्वेष-नफरत की भावना आ जाती है। हम राष्ट्रीयता न कहें। हम अंतरराष्ट्रीय विचार के हैं। ऐसा कम्युनिज्म प्रेरित विचार विकसित हुआ था।

लेकिन, आज यूरोप में ग्लोबलाइजेशन का जो जबरदस्त प्रयोग हुआ, उस प्रयोग में दुनिया में कोई बॉर्डर नहीं है, बॉर्डरलेस वर्ल्ड। दुनिया को, विश्व को, इकॉनोमिक इंटरेस्ट के आधार पर सोचना चाहिए। पॉलिटिकल बॉर्डर्स मायने नहीं रखतीं। लेकिन ग्लोबलाइजेशन की जो कल्पना चली, उससे लोग सुखी नहीं हुए। समृद्ध नहीं हुए। न ही शांति रही। इसलिए ग्लोबलाइजेशन के इतने वर्षों के अनुभव के बाद, वहां के लोगों के इकॉनोमिक इंटरेस्ट वहां की अस्थिरता के कारण, उनके राष्ट्र के आर्थिक हित, इसके साथ-साथ सामाजिक हित, इसके साथ-साथ भविष्य के आकांक्षाएं, इन सारे चीजों को सोचते-सोचते वहां के लोग अब फिर से एक बार अपनी राष्ट्रीयता के आधार पर सोचने के लिए मजबूर हो गए और उसी विचार को वे लोग आज प्रकट कर रहे हैं। इसलिए दूसरे देश से आने वाले जो रिफ्यूजी हैं, सारे यूरोप में, कई देशों के अंदर दूसरे देश के लोग बड़े झुंड के झुंड हजारों की संख्या में दूसरे देशों में घुस रहे हैं। संघर्ष हो रहा है। एक विश्व शांति ग्लोबलाइजेशन, विश्व की एक ही वर्ल्ड गवर्नमेंट, कम्युनिस्ट में देयर इज नो बॉर्डर ऐसा कहने वाले सारे तत्व आज मायने नहीं रख रहे हैं। विश्व की एकता, विश्व की शांति, 'वसुधैव कुटुम्बकम', ये सारी चीजें श्रेष्ठ हैं, आदर्श हैं। भारत के ऋषि-मुनियों से लेकर आज तक भारत के लोगों ने 'लोकातस्य समस्ते सुखिन भवतु।' विश्व की एकता, एकात्मकता और शांति इसके बारे में हमने विचार किया। लेकिन, राष्ट्रीयता को नकारते हुए, राष्ट्र के सांस्कृतिक अवधारणा को नकारते हुए, विश्व की एकता संभव नहीं है।

यही परम पूजनीय गुरुजी ने अपने विचार में कहा था कि यही राष्ट्रीयता है। जैसे महर्षि अरविंद ने कहा था-यह पहला पड़ाव है। आप राष्ट्रीयता के साथ मानसिक रूप से, सांस्कृतिक रूप से, भावनात्मक

रूप से, आध्यात्मिक रूप से, आप इससे जुड़े नहीं हैं। आप विश्व मानव समाज के सदस्य बनने लायक नहीं बने। क्योंकि आपकी कोई जड़ चाहिए, मूल चाहिए, कोई रूट चाहिए। वहां आपकी संस्कृति, आपके जीवन मूल्य है। अपने देश की परम्परा है, उससे कटे हुए लोगों का विश्व मानवता की बात कहना अशिष्ट है, फिजूल है। इसलिए दुनिया में जो प्रयोग हुए वह विफल हुए। अब एक बार फिर से, राष्ट्रीयता के एक नए प्रकार के अवतार, नए संदर्भ में उभर कर आ रहे हैं।

सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की अवधारणा निसर्ग विरोधी नहीं है। यह नैसर्गिक है। यह मानव विरोधी नहीं है। यह मानव विकास के लिए है। यह विश्व शांति की बाधक नहीं है। पोषक है। इसलिए भू सांस्कृतिक राष्ट्रीयता जो भारत की चिति ने, भारत की प्रतिभा ने, भारत के प्रयोग ने, विश्व के सामने रखी है, वह विश्व मानवता के लिए स्वीकारने के लिए है। क्योंकि, वास्तविक सत्य होने के कारण आप इसे स्वीकारें या न स्वीकारें, सत्य आपके सिर के ऊपर बैठकर बोलेगा। भू-सांस्कृतिक राष्ट्रवाद दुनिया की वास्तविकता है, वास्तविकता है, वास्तविकता है।

❖❖❖

सिद्धांत शाश्वत हैं

– राम माधव, सदस्य–अ.भा. कार्यकारी मंडल, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

हमने वर्ष 2000 में अगले लगभग 15 वर्ष की अवधि में मिलेनियम डेवलपमेंटल गोल्स नाम से कुछ करने का फैसला किया था, जो अपने आप में पिछली शताब्दी का महत्व प्रदर्शित करता था। 20वीं सदी वास्तव में विचारों की प्रयोगशाला थी। यदि आप पिछले 100 वर्षों की योजना को देखें, तो आप शासनों की समग्रता देखते हैं, आप तानाशाहों को देखते हैं, आप राजतंत्रों को देखते हैं, आप लोकतंत्रों का उदय देखते हैं, और पूंजीवादी विचारों के उदय को देखते हैं। आपने यह भी देखा है कि 20वीं सदी में समाजवाद की साम्यवादी विचारधारा के क्रियान्वयन का उदय और अस्त हुआ था। हमने इन सभी विचारों का प्रदर्शन देखा है, जो प्रतिभाशाली मनुष्यों के अविष्कार थे। लेकिन अंत में हमने पाया कि इनमें मूलभूत बातों की चर्चा नहीं की गई है। मिलेनियम डेवलपमेंटल गोल्स (एमडीजी) क्या हैं? वे मानव के लिए मूल बातें हैं। आप भूख के भय से, मलेरिया से मुक्ति की बात कर रहे हैं। ये मूल बातें हैं, व्यक्ति को प्रसन्न, स्वस्थ होना चाहिए, उसका पेट भरा होना चाहिए। 20वीं शताब्दी में जिन विचारों के साथ प्रयोग किया गया था, उन सभी में कुछ न कुछ गलत था। 20वीं सदी के प्रयोगों से यह एक सबक लेना होगा, हालांकि वे सभी महत्वपूर्ण प्रयोग हैं। उनके प्रणेता प्रख्यात लोग थे।

इनको दो व्यक्तियों द्वारा रेखांकित किया गया था, उनमें से एक फ्रांसीसी कैथोलिक दार्शनिक जैक मॉरिटैन थे। वह मौजूदा मॉडलों के बारे में विवादास्पद बात करने वाले पहले व्यक्ति थे, चाहे वह अधिनायकवादी तानाशाही हो, साम्यवादी हुकूमत हो या समाजवादी मॉडल हो। उन्होंने कहा इसमें मनुष्य एक अभिन्न इकाई के रूप में उपस्थित नहीं है। या तो मनुष्य राजनीतिक इकाई के रूप में देखा जा रहा है, उसे एक मत का अधिकार दे दें, जिसे हम लोकतंत्र कहते हैं।

मनुष्य एक राजनीतिक पशु है या जैसा कि समाजवादी या साम्यवादी विचार है। वास्तव कम्युनिस्ट विचार थोड़ा सा विचलित होकर समाजवाद बनने पर कहता है कि मनुष्य कुछ भी नहीं है। यह तो राज्य है, जो सब कुछ है और सबसे महत्वपूर्ण है। दोनों विचारों में व्यक्ति को एक अभिन्न अंग के रूप में मान्यता नहीं दी गई है, जैसा कि जैक मॉरिटैन ने सबसे पहले 1930 के दशक में पहली बार पहचाना और उस पर प्रकाश डाला। एकात्म मानववाद का उनका सिद्धांत, दीनदयालजी के एकात्म मानवदर्शन के सिद्धांत से 30 वर्ष पुराना है। उन्होंने इसके बारे में 1936 में लिखा था। उन्होंने एकात्म मानववाद के अपने सिद्धांत को प्रतिपादित करते हुए समकालीन सामाजिक-राजनीतिक वास्तविकता को भी ध्यान में रखा था।

रोचक बात यह है कि 1947 में भारत के स्वतंत्र होने के लगभग 3 दशक बाद, दीनदयाल उपाध्याय ने भी उन्हीं बातों पर प्रकाश डाला, जिनमें कहा गया था कि विश्व में मौजूद सभी मॉडल बहुत ही संकीर्ण हैं, वे समस्या के केवल एक हिस्से को संबोधित कर रहे हैं, वे इसे समग्र रूप में नहीं देख रहे हैं। हमें समग्र को एक के रूप में देखना होगा। उस समग्र में, मनुष्य उपरिकेंद्र पर है, लेकिन चिंतन को एकीकृत होना होगा। यह किसी अलग खंड में नहीं हो सकता। मनुष्य अलग है, समाज अलग है, प्रकृति अलग है, विश्व अलग है, ब्रह्मांड अलग है-यह खंड-खंड करने वाली सोच वास्तव में कारगर नहीं होती है, क्योंकि यह रचना का मूल स्वभाव नहीं है। जब आप इसे खंड-खंड कर संबोधित करते हैं तो आप किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचते हैं। अंत में आप मनुष्य को यह सोचकर एक मताधिकार देते हैं कि वह एक राजनीतिक जीव है। मताधिकार लो और प्रसन्न रहो। लेकिन कुछ देर बाद वह मनुष्य वापस आ जाता है और कहता है कि मैं प्रसन्न नहीं हूं। मेरे पास खाने के लिए भोजन नहीं है, लेकिन एक वोट है। आप कहेंगे कि ठीक है, वोट आपके लिए महत्वपूर्ण नहीं है और भोजन महत्वपूर्ण है। फिर मैं आपको खाना और नौकरी दूंगा और आप शांत हो जाओ। कुछ समय बाद हम कहेंगे कि मैं कुछ बोलने की आजादी चाहता हूं। इसलिए मनुष्य को समग्र दृष्टिकोण से देखने की आवश्यकता है, और यही बात दीनदयालजी ने एकात्म मानवदर्शन के माध्यम से 1960 के दशक में प्रस्तावित की थी।

जैक मॉरिटैन ने लोकतंत्र और यीशु मसीह को एकात्म मानववाद के अपने विचार के आधार के रूप में रखा। उन्होंने कहा कि मनुष्य को एक राजनीतिक सोच के रूप में लोकतंत्र दें और एक सामाजिक विचार के रूप में धर्म दें, ताकि आप एक मनुष्य के सभी पक्षों को संबोधित कर सकें। वास्तव में उनके

प्रयासों से ही विश्व में सामाजिक लोकतांत्रिक आंदोलनों का जन्म हुआ।

यूरोप के कुछ देशों में जो सामाजिक लोकतांत्रिक पार्टियां हैं, वे सभी जैक के एकात्म मानववाद के सिद्धांत की उत्पाद हैं। दीनदयालजी ने जो कहा, उसमें उन्होंने लोकतंत्र या ईसा मसीह की बात ईश्वर या रिलीजन के अर्थ में अलग से नहीं की थी। उन्होंने धर्म की बात की थी, जो यह दो चीजों को तो शामिल करता है, लेकिन उनके एकात्म मानवदर्शन सिद्धांत की धुरी के रूप में कई और चीजों को भी शामिल करता है। उनके लिए धर्म धुरी के रूप में वह अवधारणा है, जिसे मानव जाति का भविष्य होने की आवश्यकता है। जब हम मिलेनियम डेवलपमेंटल गोल्स और सस्टेनेबल डेवलपमेंटल गोल्स के बारे में बात करते हैं, तो ये मूल रूप से मानव जाति के दो पहलुओं या दो आयामों को संबोधित कर रहे होते हैं। इसमें से एक मनुष्य की भौतिक आवश्यकताएं हैं।

मनुष्य एक भौतिक प्राणी भी है। कैथोलिक विचारधारा मानती है कि मनुष्य केवल भौतिकवादी है। आप उसकी भौतिक आवश्यकताओं को पूरा कर दें, तो बात समाप्त हो जाती है। भारत में हम यह नहीं मानते हैं कि मनुष्य केवल भौतिकवादी है। लेकिन हमें याद रखना चाहिए कि मनुष्य भौतिक प्राणी भी है। वास्तव में, मनुष्य को सुखी जीवन जीने के लिए मनुष्य की बहुत सारी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति इनसे होती है।

मैं चीन में एक संगोष्ठी में था, एक चीनी विद्वान ने एक बहुत ही रोचक टिप्पणी की। उन्होंने कहा, आप भारतीय कभी भी हमारी बराबरी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि आप गरीबी के उपासक हैं। आपके लिए कच्छा पहनकर रहने वाले आदर्श हैं। क्या यह सही है? क्या हम वास्तव में गरीबी के उपासक हैं? निस्संदेह हम त्याग के उपासक हैं। उन लोगों की पूजा करते हैं, जो त्याग करते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि हम गरीबी के पूजक हैं। भारतीय दर्शन भौतिक सुख के बारे में भी उतनी बात करता है, जितना कोई अन्य भौतिक दर्शन, चाहे वह साम्यवाद हो या पूंजीवाद। हमारी दैनिक प्रार्थना है-सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु (सब प्रसन्न रहें), सर्वेसन्तु निरामयः (सब रोगों से मुक्त हों), सर्वे भद्राणि पश्यन्तु' (सभी को जीवन में भौतिक आनंद हो) मा कश्चित् दुखः भाग्भवेत' (जीवन में किसी को कोई दुःख नहीं होना चाहिए)। आपके घर पर फ्रिज होना चाहिए। एक कार होनी चाहिए, एसी कमरे होना चाहिए, बिस्तर, सोफा आदि होना चाहिए। यह सबसे भौतिकवादी प्रार्थना है। लेकिन यह ध्यान रखें कि इसमें कार्यकारी शब्द सर्वेऽपि है, माने यह सभी के लिए उपलब्ध होना चाहिए। यह हमारी प्रार्थना रही है। हम प्रसन्नता के उपासक हैं, लेकिन सभी के लिए प्रसन्नता के, सिर्फ उन लोगों के लिए नहीं जो इसका आनंद लेने में सक्षम हैं, इसे प्राप्त करने में सक्षम हैं।

पश्चिमी दर्शन-पूंजीवाद और साम्यवाद का मानना था कि यदि आप सक्षम हैं, तो आप इन सभी चीजों को प्राप्त कर लेंगे। आप अमीर बन जाएंगे। लेकिन हमने कहा कि नहीं। वास्तव में दीनदयालजी ने कहा कि जो लोग कमाएंगे, वे खाएंगे। जो कोई पैदा हुआ है, उसे खाने का अधिकार होना चाहिए, जिसे

'सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु' कहा गया है। लेकिन हर किसी के पास खाने के लिए कुछ न कुछ हो, इसके लिए हर किसी को कुछ न कुछ योगदान देना होगा। इसलिए दीनदयालजी कहा करते थे, जो पैदा हुआ है वो खाएगा, जो कमाएगा, वो खिलाएगा। जो कमाएगा वही खिलाएगा। हमने इस प्रकार के जीवन का विचार किया है।

1947 में जब हम स्वतंत्र हुए, तो हमारे पास इस मुद्दे का समाधान करने का एक शानदार अवसर था। हम इसके बारे में विचार कर सकते थे। कोई संदेह नहीं कि 1947 में चेतावनी देने के लिए दीनदयालजी नहीं थे। वह उपस्थित थे, लेकिन वह उस समय देश को चेतावनी देने की स्थिति में नहीं थे। जैक यूरोप में थे। लेकिन हमारे पास गांधीजी जैसे हमारे अपने लोग थे, जो हमें सावधान कर रहे थे। देखो, उस यूरोपीय मार्ग पर मत जाओ, तुमको भुगतना पड़ जाएगा और गांधीजी तो कहा करते थे कि यूरोपीय भुगतेंगे।

आज ये मिलेनियम डेवलपमेंटल गोल्स और सस्टेनेबल डेवलपमेंटल गोल्स इसलिए हैं, क्योंकि विश्व भुगत रहा है और यहां तक कि मिलेनियम डेवलपमेंटल गोल्स के 15 वर्ष भी याद कर रहा है। संयुक्त राष्ट्र के अधिकारी जानते हैं कि हमने उनमें शतप्रतिशत सफलता हासिल नहीं की है। अभी भी ऐसे क्षेत्र हैं, जहां हमें अभी भी काम करना है। ये क्षेत्र उन समाजों में हैं, जो मूल रूप से यूरोपीय या पश्चिमी नहीं हैं। कारण यह है कि आपने एक ऐसा मॉडल लागू करने की कोशिश की है, जो देशज नहीं है, जो उनकी प्रतिभा के अनुरूप नहीं है। आपको उन मॉडलों के बारे में विचार करना होगा, जो उनकी प्रतिभा के अनुरूप हों। 1947 में हमारे पास एक उत्कृष्ट अवसर था। स्वतंत्र भारत के लिए आगे का रास्ता क्या होना चाहिए, वास्तव में इस बारे में बहस 1947 से कुछ वर्ष पहले शुरु हो गई थी, और यह बहस किसी और ने नहीं, स्वयं गांधीजी ने शुरु की थी।

रोचक बात यह है कि, जब भी किसी ने गांधीजी से स्वतंत्र भारत के दृष्टिकोण के बारे में पूछा तो वह कहते थे-रामराज्य। अब कोई कह सकता है कि रामराज्य एक नाटकीय विचार है। नहीं, रामराज्य लोकतंत्र का भारतीय मॉडल है, जिसमें अंतिम व्यक्ति का दृष्टिकोण निर्णायक होता है। आप रामायण में कहानी सुनते हैं कि जब राम लंका पर विजय प्राप्त करके वापस सीता को लेकर अयोध्या आते हैं, तो उनके राज्य में उनके सामने एक धोबी सीता के बारे में कुछ कहता है। राम कहते हैं कि अगर एक व्यक्ति का इस बारे कुछ विचार है, तो मुझे उसके विचार का सम्मान करना होगा। अब उस पर नारीवादी तर्क हो सकता है, उस पर एक लिंग तर्क हो सकता है, लेकिन तथ्य यह है कि रामराज्य में अंतिम व्यक्ति का दृष्टिकोण प्रबल था। लोकतंत्र की हमारी अपनी अवधारणा है।

गांधीजी ने ग्रामराज्य, ग्राम स्वराज्य की बात की। वास्तव में, आज भी जब हम ग्रामराज्य की बात करते हैं, तो उनका उपहास किया जाता है। यह तथाकथित प्रगतिशील समाज हमारा उपहास करता है। आप क्या कहना चाहते हैं? आप चाहते हैं कि भारत गांवों में रहे? ये मिलेनियम डेवलपमेंटल गोल्स क्या

हैं? यह उन लोगों की बेहतरी के बारे में हैं, जो शहरी केंद्रों से आम तौर पर दूर रहते हैं। यह शहरी केंद्रों के मुद्दों को भी संबोधित करता है। भारत में वास्तविकता यह रही है कि बहुसंख्यक आबादी गांवों में रहती है, लेकिन आजादी से ठीक पहले जब यह मुद्दा सामने आया तो एक व्यक्ति जिसने खड़े होकर गांधीजी से कहा कि आप गलत हैं, वह कोई और नहीं बल्कि नेहरू थे। नेहरू ने कहा, भारत को यूरोपीय मॉडल को अपनाना चाहिए। उन्होंने कहा कि आगे का रास्ता समाजवाद का है। हमारा उस समय विवाद हुआ था। नेहरू ने गांधी जी से कहा कि आप गांवों की बात कर रहे हैं।

वास्तव में 9 सितम्बर 1945 को लिखा गया एक पत्र है। गांधीजी को लिखे पत्र में नेहरू कहते हैं, गांधीजी आप गांवों की बात करते हैं, मैं कहता हूं कि गांव संकीर्णता, पिछड़ेपन और स्वार्थ के केंद्र हैं। अगर देश को समृद्ध बनाना है तो आपको शहरों का विकास करना होगा और शहरी संस्कृति को विकसित करना होगा। गांधीजी का तर्क अलग था। उन्होंने कहा, भारत गांवों में बसता है। जब मैं गांव केंद्रित विकास मॉडल कहता हूं, तो मैं यह नहीं कहता हूं कि गांवों को पिछड़ा बना रहना चाहिए। मैं कह रहा हूं कि आपके पास एक मॉडल हो, जो गांवों का विकास करता हो। भारतीय गांवों के बारे में मेरा एक सपना है। मैं चाहता हूं कि मेरा सपना पूरा हो। मुझे आज आदर्श गांव चाहिए। आपको अच्छा मॉडल गांव बनाना होगा जो गांव के स्तर पर रोजगार प्रदान करे। लेकिन किसी कारण से नेहरू का मॉडल अलग था। उनके मन में एक यूरोपीय मॉडल था।

यदि आप नेहरू सरकार के शुरुआती 14-15 वर्षों का अध्ययन करें, तो आप देखेंगे कि नेहरू कभी भी समाजवाद की अपनी अवधारणा को लेकर सुसंगत नहीं रहे। पहले उन्होंने समाजवाद का इस्तेमाल किया, फिर उन्होंने समाज के समाजवादी पैटर्न की बात की। जब किसी ने पूछा कि समाजवाद और समाज के समाजवादी पैटर्न के बीच अंतर क्या है, तो एक अवसर पर वह कहते हैं कि दोनों एक ही हैं और एक अन्य अवसर पर जब संसद में समाजवाद की विफलता पर सवाल उठाए गए थे, तो उन्होंने कहा कि आप समझते नहीं हैं। समाजवाद अलग है और समाज का समाजवादी पैटर्न अलग है। और बहुत ही रोचक बात यह है अपने पूरे जीवन में उन्होंने कभी भी यह परिभाषित नहीं किया कि समाजवाद या समाज के समाजवादी पैटर्न से उनका आशय क्या है।

पश्चिम के कुछ तरीके और मॉडल हम पर थोपे गए थे। हमने कभी अपने स्वयं के मॉडल को नहीं आजमाया। दीनदयालजी ने यह बताने की कोशिश की कि तीन सिद्धांतों पर आधारित आपका अपना मॉडल है। इनमें से दो सिद्धांत सस्टेनेबल डेवलपमेंटल गोल्स के तहत आते हैं, लेकिन तीसरा नहीं आता है।

पहला सिद्धांत गरिमा का है। मनुष्य गरिमा चाहता है। विकास के आपके सभी मॉडलों को मनुष्य की गरिमा को बनाए रखना होगा। इसमें महिलाएं भी शामिल हैं।

दूसरा सिद्धांत है स्वतंत्रता। मनुष्य का अंतिम आग्रह स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता से अर्थ सिर्फ राजनीतिक

नहीं है। वास्तव में, यह बहुत महत्वपूर्ण कथन है जिसे गांधीजी ने 27 जनवरी, 1948 को मीराबेन को लिखवाया था। यह इंटरनेट पर उपलब्ध है। इसमें उन्होंने एक राजनीतिक दल के रूप में कांग्रेस को भंग करने की सिफारिश की थी। उन्होंने जो तर्क प्रस्तुत किए थे, वह बहुत रोचक हैं। उन्होंने कहा कि अब हमने अपनी स्वतंत्रता हासिल कर ली है, लेकिन यह केवल राजनीतिक स्वतंत्रता है। 15 अगस्त, 1947 को हम राजनीतिक रूप से स्वतंत्र हो गए। लेकिन भारत के 5,00,000 से अधिक गांवों में रहने वाले लोगों के लिए सामाजिक, आर्थिक, नैतिक और नीति-विषयक स्वतंत्रता आना अभी बाकी है। वे सामाजिक रूप से स्वतंत्र नहीं हैं। आर्थिक पिछड़ेपन, अशिक्षा, नैतिक पतन आदि से निपटे जाने की आवश्यकता है। समाज में महिलाओं की स्थिति, समाज में अनुसूचित जातियों की स्थिति, समाज में हरिजनों की स्थिति पर ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है। इसके लिए उन्होंने जो समाधान सुझाया था, वह यह था कि एक राजनीतिक दल के रूप में कांग्रेस को भंग किया जाए, और लोकसेवक संघ का निर्माण किया जाए और इन तीनों मुद्दों का समाधान किया जाए, तभी मैं मानूंगा कि भारत स्वतंत्र और मुक्त हो गया है।

स्वतंत्रता का इतना व्यापक अर्थ होता है। इसीलिए मनुष्य स्वतंत्रता और शांति चाहता है। तीसरा सिद्धांत एकता है, जिस पर मिलेनियम डेवलपमेंटल गोल्स और सस्टेनेबल डेवलपमेंटल गोल्स के माध्यम से विचार नहीं किया जा सकता है। यह उससे उच्च स्तर का विचार है।

एकता का अर्थ एकरूपता नहीं होता है। विश्व में विचारधारा विशेष के नाम पर शक्तियां हैं। कम्युनिस्टों ने इसकी कोशिश कर ली, पूंजीपतियों ने इसकी कोशिश कर ली, लेकिन अंत में 1981 के दस्तावेज में यूनेस्को ने इस बात को स्वीकार किया कि विश्व इतना विविधतापूर्ण है कि आपके पास पूरे विश्व के अनुकूल कोई एक मॉडल नहीं हो सकता है। मॉडल्स को भिन्न होना ही होगा।

आप एकरूपता के बारे में नहीं सोच सकते, लेकिन आपको एकता के लिए प्रयास करना होगा। जो दीनदयालजी कहते हैं, जो भारतीय दर्शन मूलभूत रूप से कहता है, वह विविधता के सम्मान के साथ एकता है। भारत के पास वह दर्शन है, जिसे स्वामी विवेकानंद ने 1893 में शिकागो भाषण में विश्व धर्म संसद में कहा था। मैं एक ऐसे देश से आया हूं जहां हम स्वयं को सिर्फ सहिष्णुता तक सीमित नहीं करते हैं। उन्होंने कहा कि रिलीजन की सहिष्णुता एक तुच्छ विचार है। क्योंकि सहिष्णुता का अर्थ है कि आप बुरी तरह से व्यवहार करें और फिर भी मैं आपको सहन करूं। सहनशीलता में अहंकार होता है। विवेकानंद कहते हैं, मैं उस दर्शन से आता हूं जो न सिर्फ सहन करता है बल्कि विविधता को स्वीकार करता है। हम विभिन्न विचारों और विभिन्न दर्शनों को मान्य करते हैं। हम विविधता का सार्वजनिक रूप से सम्मान करते हैं। विविधता का उत्सव मनाते हैं, उसके अंदर एकता का निर्माण करते हैं।

इस प्रकार एकता, स्वतंत्रता और गरिमा वे तीन पहलू हैं, जिनकी मानव जाति को आवश्यकता होती है। एकात्म मानवदर्शन एक ऐसा विचार है, जो इन तीनों महत्वपूर्ण पहलुओं को संबोधित करता है।

शांति के बारे में 16वें सस्टेनेबल डेवलपमेंटल गोल्स में मैंने सबसे महत्वपूर्ण पहलू, संभवतः तीसरे

पहलू-'एकता' के तहत आने वाले के बारे में बात की है। सार्वभौमिक सृजन की प्राकृतिक स्थिति शांति है। युद्ध प्राकृतिक अवस्था नहीं है। यह एक और बात है कि आज हम मानव जाति को जो इतिहास पढ़ाते हैं, वह युद्धों और संघर्षों का इतिहास है। आप यूरोपीय इतिहास या किसी भी देश के इतिहास को पढ़ें, तो आप जो मानक देखते हैं, वह युद्धों, विजय और साम्राज्यों के होते हैं। आपको समुदायों के इतिहास, लोगों के इतिहास के बारे में बात करनी होगी, जो विश्व में शांति लाने का तरीका है। शांति सृष्टि की प्राकृतिक अवस्था है। हम भारत में अपनी पौराणिक कथाओं में पढ़ते हैं कि एक संन्यासी के आश्रम में एक बाघ है, एक गाय है, एक मनुष्य है, बच्चा है और वे सभी एक साथ रहते हैं।

अपने संस्थानों के माध्यम से, अपने संविधानों के माध्यम से, हमने संघर्षों को जन्म दिया है, जिसमें हर व्यक्ति दूसरे के साथ अत्यंत क्रोध और व्यथा से लड़ता है। हर व्यक्ति दूसरे पर विजय पाने की कोशिश करता है। हम प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। जब प्रकृति हम पर विजय प्राप्त करने की कोशिश करती है, तो हमारे सामने जलवायु परिवर्तन जैसे मुद्दे आ जाते हैं।

भारतीय दर्शन, जिस पर दीनदयालजी प्रकाश डालते हैं, वह सृष्टि के शांति नामक मूल प्राकृतिक विचार के बारे में है। इसी कारण कोई भी भारतीय प्रार्थना 'ओम शांति शांति शांति' से शुरू होती है और इसी से समाप्त होती है कि विश्व में सर्वत्र शांति स्थापित हो। दीनदयालजी चाहते थे कि विश्व इस दिशा में विचार करे।

दीनदयालजी ने कोई मॉडल नहीं दिया, उन्होंने केवल विचार की रचना की। यह दीनदयालजी का विचार एक नितांत मूलभूत भारतीय चिंतन का विचार है, जिसे हमने अपने सहस्त्राब्दियों के अस्तित्व में अर्जित और विकसित किया है। 21वीं सदी के अनुरूप संस्थानों का निर्माण इस विचार के आधार पर करना होगा। इस मॉडल को समसामयिक होना चाहिए। शाश्वत सिद्धांत होते हैं, लेकिन मॉडल बदलती परिस्थितियों के अनुरूप बदलने होंगे।

❖❖❖

पं. दीनदयाल उपाध्याय जन्मशताब्दी व्याख्यानमाला के संदर्भ में Research & Information System for Developing Countries के साथ India Habitat Centre, New Delhi में व्याख्यान: 23 सितंबर 2017

पर्यावरण और लोक संवेदी शिक्षा

– ओम प्रकाश कोहली, राज्यपाल, मध्य प्रदेश

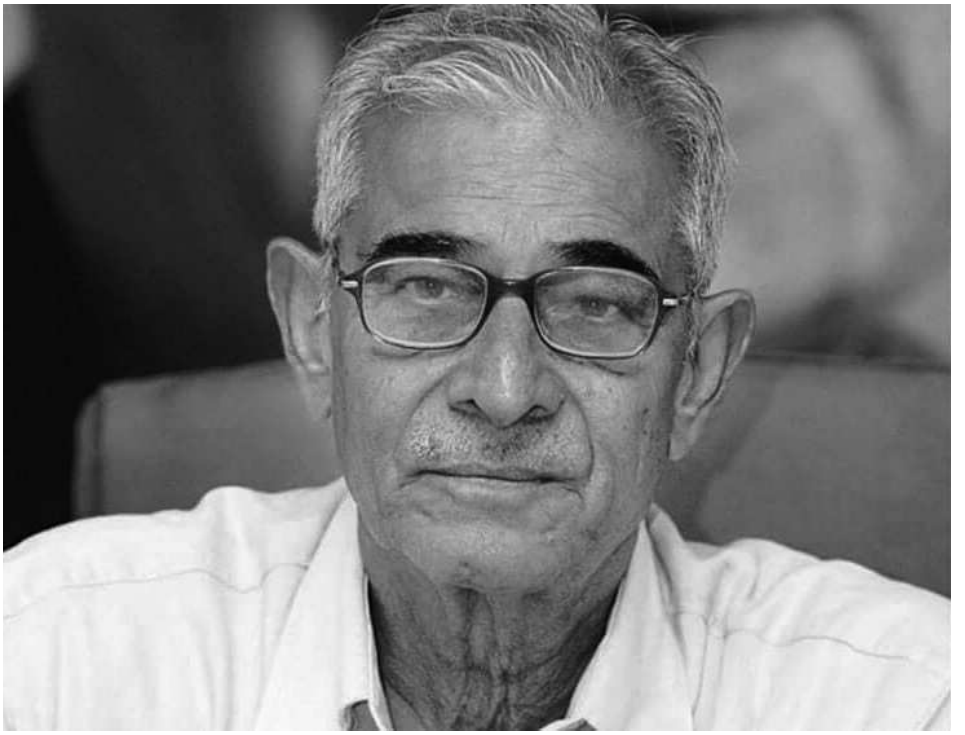

शिक्षा को भारतीय स्वरूप दें, पं. दीनदयाल जी का ऐसा आग्रह दिखाई पड़ता है। शिक्षा को भारतीय स्वरूप देने की जब बात आती है, तो भाषा का सवाल आता है। आज अंग्रेजी को अपरिहार्य मान लिया है। शिक्षित होने का अर्थ है कि अंग्रेजी पढ़ा-लिखा होना और उच्च शिक्षा के क्षेत्र में हम लोगों ने घुटने टेक दिये हैं। यह मान लिया है कि अंग्रेजी के बिना उच्च शिक्षा प्रदान नहीं की जा सकती है। केवल भाषा के संबंध में ही नहीं, अपनी बात को प्रमाणित भी करना होता है तो हम विदेशी अथॉरिटीस के उदाहरण देकर अपनी बात को प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं। भाषा का प्रश्न हो या अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए उद्धरण देने का प्रश्न हो, हम अभारतीय होते जा रहे हैं। हम भारतीयता से कटते जा रहे हैं। पं. दीनदयाल जी ने इसके संबंध में भी चिंता व्यक्त की है और उन्होंने कहा है कि बच्चे को शिक्षा उसकी मातृभाषा में दी जानी चाहिए।

संस्कृत का महत्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत हमारे धर्म की भाषा है। बच्चे को संस्कृत का ज्ञान भी कराना चाहिए। बच्चे को राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का शिक्षण दिया जाना चाहिए। राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी पढ़ाई जानी चाहिए और अपनी प्रादेशिक भाषा के अलावा बच्चे को एक और प्रादेशिक भाषा पढ़ाया जाना चाहिए। ऐसी भाषा के समन्वय के संबंध में पं. दीनदयाल जी का यह आग्रह महात्मा गांधी जी के आग्रह से मिलता-जुलता है। महात्मा गांधी जी ने यह बात कही है कि एक बच्चे को उसकी मातृभाषा की शिक्षा मिलनी चाहिए। उसको अपने धर्म की भाषा पढ़ाई जानी चाहिए। हिन्दू हैं तो संस्कृत पढ़ लें, अगर मुसलमान हैं तो अरबी-फारसी पढ़ना चाहें तो पढ़ लें। अपने मजहब की भाषा पढ़ें। राष्ट्रभाषा हिन्दी पढ़ें। अपने प्रदेश की भाषा के अलावा, किसी और प्रादेशिक भाषा को भी पढ़ें। अगर गुजराती हैं तो मराठी पढ़ लें, बांग्ला पढ़ लें, असमी पढ़ लें, उड़िया पढ़ लें और एक अन्य प्रादेशिक भाषा को जानें और इसके बाद अंग्रेजी या किसी विदेशी भाषा को पढ़ लें।

पं. दीनदयाल जी के और महात्मा गांधी जी के भाषा के संबंध में विचारों में बहुत साम्य दिखाई पड़ता है। दोनों करीब-करीब एक-सी बात करते हैं। अंग्रेजी का जो वर्चस्व शिक्षा के क्षेत्र में अपने पाँव जमाए हुए हैं। आज उसके खिलाफ बोलने के लिए साहस की जरूरत है। अंग्रेजी के विरोध में बोलना अनफैशनेबल हो गया है, लेकिन महात्मा गांधी जी और पं. दीनदयाल उपाध्याय जी ने बहुत आग्रहपूर्वक, बलपूर्वक शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेजी का जो वर्चस्व स्थापित हो गया है, उसके विरुद्ध आवाज उठायी थी। उनका मानना था कि उसके कारण से शिक्षा का स्वरूप अभारतीय होता जा रहा है। यह पं. दीनदयाल उपाध्याय जी के शिक्षा संबंधी विचारों में देखने को मिलता है। शिक्षा का संचालन कौन करे? इस पर नियंत्रण किसका हो, स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय इनका संचालन किसके हाथ में हो? क्या शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण रहे या शिक्षा पर समाज का नियंत्रण हो? पं. दीनदयाल उपाध्याय जी शिक्षा पर सरकार के नियंत्रण को पसंद नहीं करते। उनके अनुसार शिक्षा संस्थाएं स्वायत्त होनी चाहिए और शिक्षाविदों के द्वारा शिक्षा का संचालन होना चाहिए। आजकल हम स्वायत्तता की बात करते हैं। स्वायत्तता यानी ऑटोनॉमी की बात करते हुए हम कहते हैं कि सरकार शिक्षा को नियंत्रित करने और शिक्षा को अपनी मर्जी से चलाने का प्रयास करती है। सभी सरकारों को शिक्षा पर अपना नियंत्रण बनाए रखने का मोह होता है। लेकिन पं. दीनदयाल जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण वांछनीय नहीं है।

शिक्षा का संचालन कौन करे? समाज शिक्षा का संचालन करे। इसका अर्थ है कि शिक्षाविद् शिक्षा का संचालन करें, प्रबंधन करें। शिक्षा राज्य नियंत्रित न हो। शिक्षा समाज नियंत्रित हो। आज जो हम स्वायत्त शिक्षा की बात करते हैं। पं. दीनदयाल उपाध्याय जी से उस एजुकेशन आटोनॉमी की बात को बहुत बल मिलता है। हमारे देश में अंग्रेजों के आने से पहले तक एक मजबूत परम्परा रही थी कि शिक्षा संस्थान को समाज चलाता था। राज्य की भूमिका शिक्षा संस्थान को चलाने में बहुत ही नाममात्र थी।

समाज शिक्षा को चलाता था। यह प्रवृत्ति बदलती गई। धीरे-धीरे यह स्वरूप बन गया कि शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण हो गया। इस सरकारी नियंत्रण के विरूद्ध एजुकेशन ऑटोनॉमी की बात अब बार-बार उठाई जाती है।

पं. दीनदयाल उपाध्याय जी के एकात्म मानवदर्शन की बात करते हैं तो उनके इस सुझाव को बहुत गंभीरता से लेने की जरूरत है। इसे क्रियान्वित करने की क्या व्यवस्था हो, क्या तंत्र हो, क्या स्वरूप हो, इस तरफ आगे बढ़ने की आवश्यकता है। शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण न हो, कम से कम हो, वह न्यूनतम हो। सोशल इनीशिएटिव से, समाज की अपनी पहल से, शिक्षा का संचालन व प्रबंधन हो। शिक्षा राज्य नियंत्रित न होकर, शिक्षा समाज नियंत्रित हो। यह पं. दीनदयाल जी के एकात्म मानवदर्शन में प्रवाहित होती है।

पं. दीनदयाल जी के एकात्म मानवदर्शन का कुल निचोड़ यह है कि यह सारे दृश्यमान जगत में जो विविधता दिखाई पड़ती है, यह दिखाई पड़ने वाली विविधता की तह के मूल में एकात्मता है। एकात्मता में दिखाई पड़ने वाले इस जगत में जो विविधता है। उसके मूल में एकात्मता है। एकात्मता है-वह व्यक्ति के शरीर में, मन में, बुद्धि में, आत्मा में है। यह सब एक हैं-शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा।

यह हमारे यहां के दर्शन का निचोड़ है। एक तत्व यह है-उसको आप ब्रह्म कहें, ईश्वर कहें या परब्रह्म कहें। वही सब में व्याप्त है। वही अगर सब में व्याप्त है, हमारे चारों ओर जो पर्यावरण है, प्रकृति है, पर्वत हैं, नदियां हैं, मेघ हैं, धरती है। यह सब भी एक है। इनके साथ हमारा रिश्ता क्या हो? पर्यावरण के साथ हमारा रिश्ता कैसा हो? घोंसले को तोड़कर हम अपने मन को तो खुश कर सकते हैं पर यह सच्चा आनंद नहीं है। घोंसले को बचाकर रखने का आनंद एक है। घोंसले को तोड़ने का सुख नहीं मिल सकता है।

पं. दीनदयाल उपाध्याय जी कहते थे कि हमारी शिक्षा को पर्यावरण के प्रति संवेदनशील बनायें। हमारी शिक्षा हमें पर्यावरण के प्रति निष्करूण न बनाए। हमारी शिक्षा हमारे भीतर इस प्रकार की प्रवृत्ति पैदा न करें। इस पर्यावरण को निचोड़कर सारा सुख हमें भोगना है। पर्यावरण से, प्रकृति से, संवेदनशीलता से जुड़ें। हम प्रकृति का शोषण न करें। हम प्रकृति का उतना ही उपभोग करें, जिसकी क्षति की हम पूर्ति कर सकें। जितना हम प्रकृति का इस्तेमाल करें, उतना ही उसको लौटाएं। यह जो पर्यावरण के साथ जुड़ने वाली बात है, इसको प्रकृति प्रेम कह सकते हैं। शिक्षा का एक काम छात्रों को, बच्चों को पर्यावरण के प्रति संवेदनशील बनाना है। पं. दीनदयाल उपाध्याय जी ने बहुत जोर दिया है। उन्होंने पर्यावरण संवेदनशील शिक्षा की बात की है। पर्यावरण संवेदी शिक्षा का अर्थ है-पर्यावरण के प्रति हमारे मन में आत्मीयता का, अपनेपन का, करुणा का भाव हो। पर्यावरण का क्षय न करें और पर्यावरण को संभालकर रखें। पर्यावरण के प्रति आत्मीयता का यह भाव अनुपम है। पर्यावरण सभी को परमार्थ सिखाता है। एक दोहा है, इसमें पर्यावरण हमें परमार्थ की शिक्षा देता है। दो प्रकार की प्रवृत्तियां होती है एक स्वार्थ की

प्रवृत्ति और दूसरी परमार्थ की प्रवृत्ति होती है। साधारणतः मनुष्य में स्वार्थ की प्रवृत्ति हावी रहती है। इस स्वार्थ की प्रवृत्ति को नियंत्रित करके मनुष्य दूसरे के परहित की बात सोचे यह परमार्थ की प्रवृत्ति है। कबीर का दोहा है-

सरवर तरवर सन्त जन, चौथा बरसे मेह। परमारथ के कारने, चारों धारी देह।।

तरूवर या वृक्ष-अपना फल स्वयं नहीं खाता। वृक्ष अपनी छाया अपने ऊपर नहीं ओढ़ता। वृक्ष की लकड़ी का उपयोग हम करते हैं। वृक्ष के पत्तों का, फल का, लकड़ी का, उसके बीज का सब उपयोग करते हैं। वृक्ष अपनी सम्पदा का उपयोग खुद नहीं करता। थका हुआ पथिक आता है वृक्ष के नीचे विश्राम करता है। यह तरूवर का परमार्थ भाव है। तरूवर परमार्थ सिखाता है। परमार्थ अपने लिए नहीं बल्कि दूसरे के लिए जीना। सरोवर का अर्थ है-तालाब, जलाशय, नदी, झरने। यह अपना जल स्वयं नहीं पीता। यह भी अपना जल प्यासे व्यक्तियों को दान दे देते हैं। दूसरों के लिए जीते हैं। तरूवर, सरोवर और संतजन परमार्थी होते हैं।

संत उसको कहते हैं जिसका हृदय करूणा से भरा हो। संत लोग अपने लिए नहीं जीते। स्वार्थ के लिए नहीं जीते। परमार्थ के लिए जीते हैं। तरूवर, सरोवर, संतजन और बरसते मेघ सभी परमार्थी हैं। आसमान से मेघ बरसते हैं। बादल भी अपना जल स्वयं नहीं पीते। वो अपना जल धरती को दे देते हैं। धरती नरम होती है। नदियां पानी से भर जाती हैं, उनसे नहरें निकलती है, खेती सींची जाती है। यह चारों तरूवर, सरोवर, संतजन और बरसते मेघ परमार्थ के कारण चारों देह धारण करते हैं। हमारा सबसे बड़ा टीचर, सबसे बड़ा शिक्षक, सबसे बड़ा गुरु है, तो वह पर्यावरण हो सकता है या फिर प्रकृति हो सकती है। पर्यावरण व प्रकृति परमार्थ सिखाती है। दूसरे के लिए जियो, अपने स्वार्थ के लिए नहीं जीना है।

पं. दीनदयाल उपाध्याय जी पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता रखने और पर्यावरण से सीखने की बात करते हैं। पं. दीनदयाल उपाध्याय जी के शिक्षा संबंधी विचारों में हमको ऋण से उऋण होना है, तो देकर ही हम ऋण से उऋण हो सकते हैं। भारतीय संदर्भ में तीन ऋणों का जिक्र मिलता है। एक देव ऋण है, पितृ ऋण है। हम पर राष्ट्र का ऋण है। हम पर विश्व मानवता का ऋण है। कई प्रकार के ऋण हम पर हैं। इन ऋणों से अगर मुक्त होना है तो हमारी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो देने के लिए तत्पर करें, लेने के लिए तत्पर न करें। अगर ऐसी शिक्षा प्रदान की जाती है जो लेने के लिए तैयार करती है। लेकिन, देने के लिए तैयार नहीं करती तो इन ऋणों से मुक्त कैसे होंगे?

पं. दीनदयाल उपाध्याय जी ऐसी शिक्षा की वकालत करते हैं जो कि शिक्षित व्यक्ति को अपने ऊपर चढ़े ऋणों से मुक्त होने के लिए प्रेरित करे और हम पर जो ऋण चढ़े हैं वह केवल देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण ही नहीं समाज ऋण भी है। राष्ट्र ऋण भी है, मानवता का ऋण भी है। इन सब प्रकार के ऋणों से अपने आपको मुक्त करना है तो हमारी शिक्षा का स्वरूप परमार्थ भाव का होना चाहिए।

पं. दीनदयाल जी ने जहां एक तरफ पर्यावरण संवेदी शिक्षा की, वहीं दूसरी तरफ लोक संवेदी शिक्षा की बात कही है। लोक संवेदी शिक्षा का अर्थ है कि हमारे समाज में जो लोग कमजोर हैं, जो लोग दौड़ में पीछे रह गये हैं, जो सीढ़ी में सबसे नीचे खड़े हैं, जो निर्धन हैं, जो दरिद्र है, उनके प्रति शिक्षित व्यक्ति में आत्मीयता का, संवेदना का, करूणा का भाव जगाने वाली शिक्षा ही सच्ची शिक्षा है। अगर हमारे भीतर अपने ही समाज के दौड़ में रह गये लोगों के प्रति ममत्व का, आत्मीयता का, संवेदना का, कर्म का भाव नहीं जगाते तो, ऐसी शिक्षा किस काम की। इस प्रकार की लोक संबंधी शिक्षा का आग्रह पं. दीनदयाल उपाध्याय जी ने रखा है। इसे हम अन्त्योदय से जोड़ सकते हैं। पं. दीनदयाल उपाध्याय जी के जो अंत्योदय संबंधी विचार हैं उसमें दौड़ में पीछे रह गये व्यक्ति से अपना लगाव पैदा करने पर बल दिया गया है। ध्यान रखें कि दरिद्र नारायण की बात स्वामी विवेकानंद जी ने कही है, महात्मा गांधी जी ने भी कही है। दरिद्र नारायण की बात अंत्योदय के रूप में पं. दीनदयाल उपाध्याय जी ने भी कही है।

❖❖❖

पं. दीनदयाल उपाध्याय जन्मशताब्दी व्याख्यानमाला के संदर्भ में रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर में व्याख्यानः 27 जनवरी 2017

दिल और दिमाग में परिवर्तन लाना बहुत जरूरी

– कप्तान सिंह सोलंकी, राज्यपाल, हरियाणा

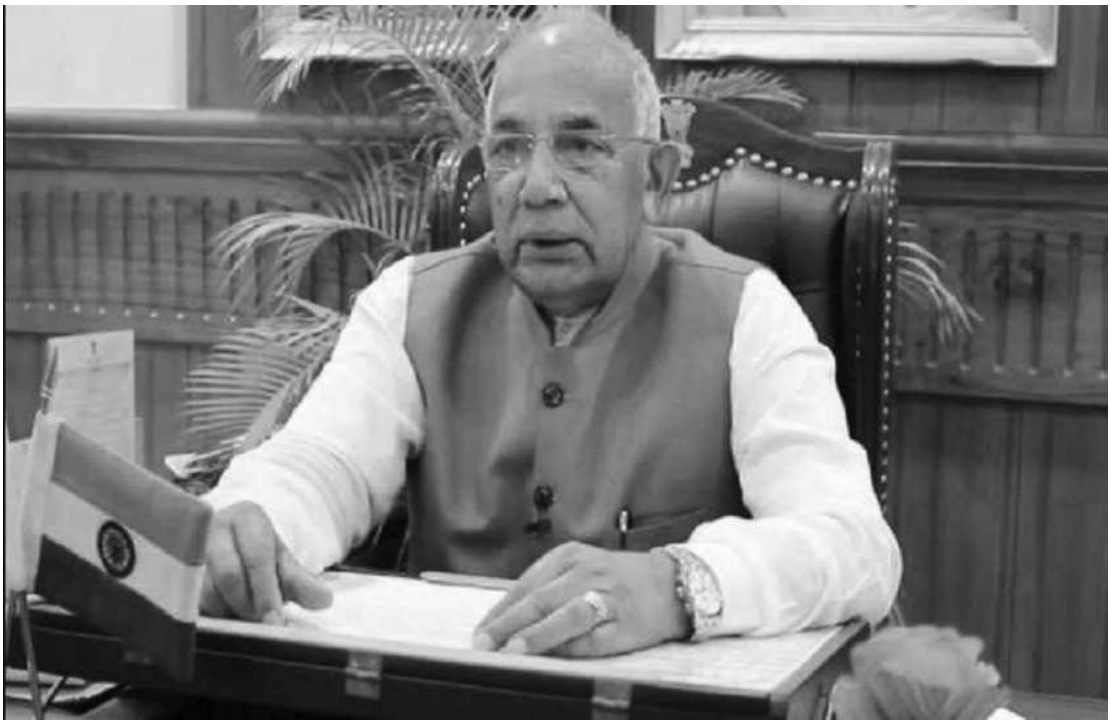

देश को स्वतंत्रता मिली। उसमें कई तरह के प्रयास थे। कई तरह के बलिदान थे। लेकिन स्वतंत्रता मिलते-मिलते उनका नेतृत्व महात्मा गांधी को मिला। महात्मा गांधी ने हमको स्वतंत्रता दी। इसलिये हम उनको राष्ट्रपिता भी कहते हैं, सम्मान देते हैं। लेकिन जो स्वतंत्रता मिली वह संपूर्ण स्वतंत्रता नहीं थी। जो स्वतंत्रता मिली उस पर डॉ. संपूर्णानंद ने भी अपने उद्‌गार व्यक्त किए और कहा था कि क्रांति अधूरी हुई है क्योंकि कुर्सी पर बैठने वाले लोग बदले थे और सिर्फ लोगों के बदलने से स्वतंत्रता नहीं होती। स्वतंत्रता वास्तव में तब मिलती है, जब उस पर बैठने वाले लोगों के दिल और दिमाग बदलें। जब तक दिल और दिमाग नहीं बदलेगा तब तक कुर्सी पर बैठने से काम नहीं होगा। महात्मा गांधी अंत्योदय की बात करते थे। वह वी.आई.पी. की बात नहीं करते थे, वह आखिरी व्यक्ति की बात करते थे और वह कहते थे कि संपूर्ण स्वतंत्रता तब मानेंगे जब देश के गरीब से गरीब व्यक्ति को यह लगे कि

देश मेरा है यह सरकार मेरी है, यह सरकार मेरी चिंता करती है, यह सरकार मेरे लिए बनी है। यह कितनी बड़ी बात है। अंत्योदय का मतलब क्या था? अंत्योदय का मतलब यही था कि आप किसकी चिंता करते हैं। महात्मा गांधी की कल्पना शासन करने की नहीं थी। आज लोकतंत्र में जो सरकार बनती है। सरकार में बैठे हुए लोग या सरकार के अधिकारी या सरकार के अंग जिनके माध्यम से सरकार काम करती है, योजना लागू करती है और अगर उनके दिमाग में यह बात बैठी हुई है कि वह शासन कर रहे हैं या पुलिस के किसी अधिकारी को यह लगता है कि मैं अधिकारी हूं, जिले के कलेक्टर को यदि यह लगता है कि मैं कलेक्टर हूं, मैं शासन कर रहा हूं या सरकार का कोई भी अंग उसको अगर यह लगता है कि मैं गवर्नमेंट हूं, मैं शासन कर रहा हूं तो लोकतंत्र में यह कल्पना नहीं है। एक अधिकार प्राप्त कुर्सी पर बैठे व्यक्ति के मन में, दिल-दिमाग में यह बात आ जाए कि मेरा काम सेवा करना है और एक के मन में यह आ जाए कि मेरा काम शासन करना है। मैं बॉस हूं। दिल-दिमाग में परिवर्तन लाना बहुत जरूरी था और महात्मा गांधी की स्वतंत्रता का यही मतलब था। वह कहते थे मुझे देश में ऊंच-नीच की भावना नहीं चाहिए। यह छोटा है और यह बड़ा है, यह अमीर है यह गरीब है, यह भाव हमको नहीं चाहिए। हमको अनटचेबिलिटि नहीं चाहिए, अस्पृश्यता नहीं चाहिए और जिस देश में महिलाओं को समान अधिकार, समान अवसर नहीं मिलता, जब तक महिलाओं का सशक्तिकरण ठीक प्रकार से नहीं होता, तब तक देश में स्वतंत्रता नहीं है।

अंग्रेजों ने क्या किया था? अंग्रेजों ने हमारा दिल-दिमाग ही तो बदला था। अंग्रेजों के पहले परकीय शासन इतना नुकसान नहीं कर पाए, जितना अंग्रेजों ने किया। अंग्रेजों ने हमारा सोचने का ढंग बदल दिया। आज भी क्या 70 वर्ष पश्चात् भी दिल और दिमाग हमारा बदल गया है? और वह जब तक नहीं बदलता है तब तक हमको पूरी स्वतंत्रता मिली है, यह हम नहीं कह सकते। देश के प्रधानमंत्री जब यह कहते हैं कि मैं देश का प्रधानमंत्री नही हूं। वह देश के प्रधानमंत्री के स्थान पर कहते हैं मैं इस देश का प्रधान सेवक हूं। प्रधानमंत्री और प्रधान सेवक, एकदम मतलब बदलता है। और इसलिए गांधीजी के नेतृत्व में हम स्वतंत्र तो हो गए, लेकिन वह स्वतंत्रता अधूरी थी। पूरी स्वतंत्रता चाहिए हो तो लोगों का दिल और दिमाग बदलना होगा और वह दिल-दिमाग बदलने का काम एक दर्शन के रूप में पं. दीनदयाल ने किया। कुछ लोग इसे एकात्म मानववाद कहते हैं और कुछ लोग एकात्म मानवदर्शन कहते हैं। कई बार कन्फ्यूजन होता है न कि एकात्म मानववाद है कि एकात्म मानवदर्शन।

यह एकात्म मानववाद इसलिए है क्योंकि उन्होंने यह शब्द दिया, क्योंकि उस समय वाद की परम्परा थी। देश के अंदर, विदेश के अंदर कई तरह के इज्म (वाद) चल रहे थे। कई तरह के वाद चल रहे थे लेकिन जो इज्म (वाद) होता है जो वाद होता है, वह बंद किताब होती है। इसमें आगे परिवर्तन का गुंजाइश नहीं होती। परिवर्तन करने की अनुमति भी नहीं है। यह क्लोज्ड बुक हैं, जो उन्होंने कह दिया वही सही है। लेकिन समय बदलता है। परिस्थिति के अनुसार जो चीज नहीं बदलती वह चीज मर जाती

है। समय बदलेगा, परिस्थिति बदलेगी, आवश्यकता बदलेगी, उसके अनुसार यदि आप अपने आपको बदल रहे हो तो, तब तो आप जिंदा रह पाओगे, नहीं तो समय आपको ठुकरा देगा। लोग आपको नहीं मानेंगे, इसलिए दीनदयाल उपाध्याय जी ने जो विचार दिया, वह वाद उन्होंने इसलिए कहा, क्योंकि युग वाद का था। लेकिन उन्होंने कहा है हमारा जो विचार है यह वाद नहीं है, यह दर्शन है और दर्शन शासित होता है। दर्शन समय के अनुसार अपने आपको परिवर्तित करता है। जैसी परिस्थिति या परिस्थिति की मांग रहती है वह अपने आपको एडजस्ट करता है और जिन्दा रहता है। उसको दर्शन कहते हैं और एकात्म मानववाद में जो वाद लगा है वह इसलिए लगा है क्योंकि वह युग वाद का था। वास्तव में यह वाद नहीं है। यह दर्शन है। यह साझा विचार है। एकात्म मानव जब पंडित जी ने कह दिया, तब से शुरू हो गया है, ऐसा नहीं है। एकात्म मानव अपने देश के अंदर हमेशा से है यह आदमी का दर्शन है। आदमी कैसा होना चाहिए। आप सोच सकते हैं कि अच्छा शासन अच्छे आदमी के बिना चल सकता है? हर चीज कोई भी सिस्टम जब आप लायेंगे तो सिस्टम को चलाने वाला कौन है, वह कैसा है। आचार्य चाणक्य तो चन्द्रगुप्त को तैयार कर रहे थे ताकि शासन अच्छा चले, जनता के हित का ही चले और सुशासन चले। जब तक वैसा व्यक्ति आप तैयार नहीं करोगे, तब तक कोई भी सिस्टम आप लाइए वह नहीं चल पायेगा। इसलिए किसी भी सिस्टम की सफलता किसी भी सिस्टम से आप उद्देश्य प्राप्त करना चाहते हो तो जरा इस पर विचार करो कि इन सिस्टम को क्रियान्वित करने वाले लोग कौन हैं?

देश तो 1947 में स्वतंत्र हो गया, लेकिन स्वतंत्रता प्राप्त करने के पीछे जो सपना और संकल्प था हम वह पूरा क्यों नहीं कर पाए? क्योंकि सिस्टम को चलाने वाले लोग अच्छे नहीं थे। देश 1947 में स्वतंत्र हो गया। 1997 में हमने स्वर्ण जयंती मनाई। देश भर में संगोष्ठी की। छः दिन का लोक सभा और राज्य सभा का अधिवेशन हुआ। विषय क्या था कि देश के 50 वर्ष स्वतंत्र होने के बाद उस सिस्टम को चलाने वाले लोगों का दिल-दिमाग नहीं बदला और यह बदलना बहुत जरूरी है। अब भारत को बनाना चाहते हो तो बनायेगा कौन? अगर आप यह मानते हो कि सरकार बनाएगी तो सरकार को चलाएगा कौन? जो सरकार को चलाऐगा वह कैसा हो? इसलिए पंडित जी ने कहा कि मनुष्य को बनाओ। और मनुष्य के पीछे यह विशेषण लगाया एकात्म। ये एकात्म मानव जब तक नहीं बनेगा तब तक देश के अंदर जैसा हम परिवर्तन चाहते हैं वह नहीं आ सकता। इसलिए व्यक्ति की मूल पहचान एक है।

दो-चार महापुरूषों के उदाहरण देता हूं। डॉ. राधाकृष्णन आदमी के बारे में क्या कहते थे? वह कहते थे भारत का आदमी आध्यात्मिक है। इसलिए वह मानव के विश्लेषण के पहले आध्यात्मिक लगाते थे। आध्यात्मिक मानव और विश्व के अन्य देशों का मत वही समझ में आऐगा और भारत का व्यक्ति यदि आध्यात्मिक नहीं है तो वह भारत का, वह भारत के चरित्र का और भारत की संस्कृति का नहीं है तो भारत की आत्मा से उसका सरोकार नहीं है। डॉ. राधाकृष्णन के बाद महर्षि अरविन्द क्या कहते थे? व्यक्तियों से वह कौन का विशेषण लगाते थे? वह कहते थे महा मानव। मनुष्य के वह 5 तत्व बताते

थे। (1) शरीर, (2) मन, (3) बुद्धि, (4) प्राण और (5) आत्मा। कभी व्यक्ति के बारे में सोचा है। हम तो शरीर के बारे में ही सोचते है, मन के बारे में नहीं सोचते। वह कहते हैं कि त्याग को आप संपूर्ण बनाना चाहते हैं, महामानव बनाना चाहते हैं तो इनके पांचों का विकास करो और शरीर को वह कहते हैं अंतमय कोष। मन को कहते थे मनोबल कोष। बुद्धि को कहते थे विकास मय कोष। प्राण को कहते थे प्राणमय कोष। आत्मा को कहते थे आनंद मयकोष। ये पांच कोषों का विकास करो और ये पांच कोषों का विकास जिस व्यक्ति का हो जायेगा, वह व्यक्ति आदमी से ऊपर सुपरमेन बन जायेगा। स्वामी विवेकनंद जी क्या कहते हैं। हम मनुष्य तो कॉमन होते हैं। ये तो प्रोनाउन की बात करते थे और वह शिक्षा के बारे में भी यही कहते थे। शिक्षा का मतलब है संपूर्ण। शिक्षा आदमी को संपूर्ण आदमी नहीं बनाती तो शिक्षा का मतलब क्या है? वह एक वाक्य में बोलते थे। शिक्षा का मतलब है कि व्यक्ति के अंतःकरण का विकास करो। आज जरा देखो तो मनुष्य का दिल कितना छोटा हो गया है, कितना संकीर्ण हो गया है। वह अपने सिवाय किसी और का सोचता ही नहीं है। कई बार अपने माता-पिता और पत्नि एवं बच्चों के बारे में भी नहीं सोचता है। कैसे कहें कि इस आदमी का दिल और दिमाग बदल गया है। इसलिये डेवलप दी हार्ट। किसी व्यक्ति के अंतःकरण का इतना विकास कर दो कि वह समाज के साथ एकाकार हो जाये, तब ऐसे विकसित हार्ट वाले व्यक्ति के मन में से ईश्वर बोलेगा। इसे महात्मा की आवाज कहते हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघसंचालक गुरुजी कहते थे परिपूर्ण मानव। और गीता में व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ कहा गया। कैसी भी स्थिति आ जाये दुःख, समता और विषमता की कोई भी परिस्थिति आ जाये कोई फर्क नहीं पड़ता। हर परिस्थिति में स्थित है और ये आता है अनासक्ति से। जब आदमी की किसी में आसक्ति नहीं होती है, जैसे भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को कुरुक्षेत्र में सिखाई थी। जो देख रहा उससे आसक्ति मत रख, ये अनासक्ति स्थितप्रज्ञता है। पूरा दर्शन हमारे देश का इस पर निर्भर है। इसी को पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने एकात्व मानव 'इंटीग्रेटेड मेन' कहा। जिस आदमी को आप देख रहे हो इस आदमी के ताल, इस आदमी के सुर, इस आदमी का संबंध उस भगवान से 'आलमाईटी' से है। जब व्यक्ति विकसित होता हुआ, इच्छाओं पर नियंत्रण करता हुआ, विशाल अंतःकरण को लेकर के कुर्सी पर बैठता है, अधिकार लेकर के समाज के सामने आता है तो कल्पना करो कि वह व्यक्ति क्या करेगा? आप जिस सुशासन की कल्पना करते हैं उस सुशासन के भी दो शब्द हैं। स्वशासन ऊपर छोटी 'उ' की मात्रा सुशासन। एक स्वशासन एवं स्व 'सेल्फ' स्वशासन। 'गुड गवर्नेंस' माने अच्छा शासन वह दे सकता है जिसने अपने आपको नियंत्रित किया है। अपनी इच्छाओं को नियंत्रित किया है, जो अनासक्त है, जिसने अपनी आत्मा का इतना विस्तार किया है कि पूरे समाज के साथ उसकी आत्मीयता है। और इसलिये पं. दीनदयाल उपाध्याय जी ने जिस एकात्म मानववाद की बात की है, उस एकात्म मानव को वह कहते थे कि वह चार चीजों का समुच्चय है। जैसे महर्षि अरविन्द ने पाँच चीजों का बताया है। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा ये इच्छाओं का पुतला नहीं है, ये 'मैकनिकल बीईंग' भी नहीं

है, ये शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा इन चार का समुच्चय है। इसलिये व्यक्ति का दिल दिमाग बदलने का मतलब है कि इन चारों चीजों का समुचित विकास करो, इसके शरीर का भी विकास करो, इसके साथ-साथ इसके मन का भी विकास करो, इसके मन को भी बड़ा करों, इसकी बुद्धि को कुशाग्र करो। और शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा इन चारों के बीच में जो इच्छायें हैं, जो इसकी लालसायें हैं उसको नियंत्रित करो। इसको नियंत्रित करों। गड़बड़ कहां होती है? जब कई बार व्यक्ति शरीर और मन ये दो तो चलायमान रहते हैं, लेकिन बुद्धि और आत्मा गौण हो जाती हैं। उस पर इच्छाएं काबू कर लेती हैं। आदमी के ऊपर उसकी इच्छाएं उसको इतना वशीभूत करती हैं कि बुद्धि कहती है कि ये गलत है लेकिन फिर भी इच्छाएं उसको कर बैठती है। एकात्म मानव के अंदर कल्पना ये थी कि मन, बुद्धि, शरीर और आत्मा इन चारों का विकास करो, इच्छाओं को रास्तों में मत आने दो। आप क्या कानून से करप्शन मिटा सकते हो ? करप्शन होता क्या है? करप्शन इच्छाओं के कारण होता है। सारी समस्याओं की जड़ आपकी इच्छा है। इच्छाओं का मतलब ये नहीं कि आप सभी इच्छा न करें, लेकिन जो इच्छा करें, वह ऐसी करें, जो आपके शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के अनुकूल हो और जिसको आप सुख कहते हैं, जिसकी लालसा में आप सब लगे हुए हैं, वह भी सुख अगर आपको प्राप्त करना है तो जब तक आप एकात्म नहीं बनेंगे तब तक शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का विकास आप नहीं कर पायेंगे। आपको परम सुख नहीं मिलेगा जो सुख मिलेगा वह अस्थायी होगा और दुःख देगा। एकात्म मानव में दिव्य दृष्टि से तीन-चार चीजें बहुत महत्वपूर्ण हैं-

1. शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा
2. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष
3. भारत के पुरूष का अर्थ क्या है। पुरुषार्थ

पुरुषार्थ का अर्थ क्या है? धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। आपकी जीवन रचना इस प्रोसेस में चलती है क्या? अर्थ और काम इसका उपयोग आप करिये और पैसा कमाईये। पैसे के माध्यम से आप उपभोग भी करिये। लेकिन अर्थ और काम ये करते समय इसका ध्यान रखिए कि आपका कर्तव्य क्या है? आपका धर्म क्या है? मानव धर्म क्या है, इसको जरा याद रखिए और अर्थ और काम का उपयोग इस तरह करिये आपकी जीवन रचना धर्मदृष्टि होना चाहिए। धर्म का मतलब रिलिजन नहीं है। धर्म माने वह जो आपको इंसान बनाता है, आदमी बनाता है, आदमी की पहचान क्या है?

आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषाम् अधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।

आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये तो आदमी और जानवर में समान है। आदमी में धर्म ही एक विशेष चीज है, बिना धर्म के लोग पशुतुल्य हैं। इसलिये आपके अर्थ और काम का उपयोग धर्म के आधार पर होना चाहिए। मानव धर्म क्या है, इंसानियत क्या है, समाज के प्रति कर्तव्य क्या है? समाज के बल पर

आप सब कुछ पा रहे हैं। उस समाज के बारे में आप क्या सोचते हैं? आप ऐसा नहीं करेंगे, जिससे समाज को नुकसान पहुंचेगा। ये धर्मदृष्टित जीवन रचना बनाते हुए अर्थ और काम उपभोग जो भी करेगा, उसकी अंतरात्मा इतनी विशाल होगी कि अंततोगत्वा वह ईश्वर के साथ एकाकार हो जायेगा और उसे मोक्ष प्राप्त हो जायेगा। और इसलिये शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा धर्म, अर्थ, कर्म और मोक्ष और तीसरा है वृष्टि, समष्टि, सृष्टि और परमेष्टि। वृष्टि याने व्यक्ति, समष्टि याने समाज, सृष्टि जिससे समाज जिंदा रहता है और उसके ऊपर परमेष्टि। यह एक-दूसरे पर अन्योन्याश्रित है, इंटरडिपेन्डेबल है। व्यक्ति को अपना ऐसा जीवन बनाना चाहिए कि वह सृष्टि के साथ एकाकार हो जाये। समष्टि को अपना सारा जीवन ऐसा यापन करना चाहिए जो सृष्टि के अनुकूल हो। आप प्रकृति का दोहन करें प्रकृति का शोषण नहीं। प्रकृति के विपरीत आप कोई चीज न करें। आज प्रदूषण से इतनी समस्याएं खड़ी हो रहीं हैं। जलवायु परिवर्तन हो रहा है। क्योंकि समाज सृष्टि के अनुकूल नहीं चल रहा है। पाश्चात जगत के आदमी और भारत के आदमी में एक ही फर्क है कि भारत का आदमी जब विकसित होता है तो वह सृष्टि, समष्टि, परमेष्टि सब में एकाकार होता चला जाता है और इनको हिन्दी में कहा गया है अखंडमंडलाकार। आप एक बिंदु को सेंटर बनाकर सर्कल खीचिए। फिर सारे सर्कल जो हैं एक ही बिन्दु में से बनते चले जायेंगे। इसी को कहते हैं अखंडमंडलाकार। एक यह होता है कि बिंदु है, उसको सेंटर बनाकर एक सर्कल खीचिए और उसको रेडियस बनाकर दूसरा सर्कल खीचिए। उस बिंदु को सेंटर मानकर, रेडियेस बनाकर, तीसरा सर्कल खीचिए। ये जो जितने भी सर्कल हैं, जो कि मैट्रिक हैं यह सारे के सारे सर्कल का एक दूसरे से कोई संबंध नहीं है, खण्ड-खण्ड हैं सब कुछ। विदेशों का जो दर्शन है वह इस खण्ड-खण्ड दर्शन को बताता है। भारत का दर्शन एक बिंदु से सर्कल खींचते-खींचते सबको एक करता है, एकाकार करता है और इसलिए इस एकात्म मानव की जरूरत है। ऐसा व्यक्ति जब खड़ा होगा, जो सिस्टम को खड़ा करेगा, शासन पर बैठेगा तब फिर वह अपनी नहीं सोचेगा पूरे समाज की सोचेगा, देश की सोचेगा और ऐसा व्यक्ति इतना शक्तिशाली होगा कि किसी भी प्रकार के उसके मन में डर भी पैदा नहीं होगा। प्राचीनकाल से चले आ रहे इस दर्शन को पं. दीनदयाल उपाध्याय जी ने नये शब्दों में एकात्म मानवदर्शन के रूप में हम सब के सामने रखा है।

❖❖❖

पं. दीनदयाल उपाध्याय जन्मशताब्दी व्याख्यानमाला के संदर्भ में रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर में व्याख्यानः 28 जनवरी 2017

राष्ट्रधर्म का दर्शन

–डॉ. कृष्णगोपाल जी, सहसरकार्यवाह, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

आवश्यकता तो इस बात की थी कि स्वतंत्रता के तुरंत बाद इस राष्ट्र का दर्शन निश्चित होता। दुर्भाग्य से वह नहीं हो सका। कारण जो भी रहा हो, कहना कठिन है। पर एक बड़ा संभ्रम उत्पन्न हुआ। संभ्रम इस कारण से उत्पन्न हुआ कि जो हमारे देश में राज्यकर्ता थे, शासन में थे, स्वतंत्रता के पूर्व अर्थात् जो ब्रिटिशर्स थे, उन्होंने सारी दुनिया भर में एक विचार फैलाया था। वह विचार यह था कि दुनिया में सब लोग निम्न हैं। हेय हैं। इंफीरियर हैं। वह जीते हुए लोग थे और यही विचार लेकर वह भारत में आए थे। अर्थात् उन्होंने हम लोगों को पराधीन किया था। वे शासक थे। हम शासित थे। सब कुछ उन्हीं के हाथ में था। साहित्य का निर्माण करना। बड़े-बड़े ग्रंथों का लेखन करना, उनका प्रकाशन करना, लाइब्रेरी में उनको रखना। बच्चों को पढ़ाना। नए-नए शोध प्रबंध लिखना।

एक सौ या सवा सौ वर्षों के कालखंड में चार-पांच या कई पीढ़ियां बीत जाती हैं, हर पच्चीस साल के बाद, परिवार में एक नया बच्चा आ जाता है, एक पांच-छह पीढ़ियां बीत गईं। सारे देश का दृश्य बदल गया। सबसे पहले बात थी कि हमारे जो ब्रेंस थे, वह कोलोनाइज्ड ब्रेन्स बन गए। हमारे मन अपने नहीं रहे। हमारा चिंतन अपना नहीं रहा। हमारा विचार अपना नहीं रहा। हमारा सोचना अपना नहीं रहा। सब कुछ पराया हो गया। यह बड़ा संकट था। और इसलिए हमलोग अपने बारे में ही सोचने लगे कि हम कौन हैं?

तब सबसे पहले अंग्रेजों ने हमारे दिमाग में डाली कि आप लोग बाहर से आए हैं। हमको लगने लगा कि हम बाहर से आए हैं। देश का क्या दुर्भाग्य आया कि सात-आठ क्लास में पढ़ने वाला नन्हा बालक कहता है कि वह बाहर से आया है। हम लोग बाहर से आए हैं। हम लोग इन्वेडर्स हैं। क्या बकवास है?

दुनिया का कोई भी वैज्ञानिक आज इस बात को मानने को तैयार नहीं है कि भारत के लोग बाहर से आए हैं। आर्य यहीं के थे। दूसरी बात, 'भारतीय' जो शब्द थे, भारतीय विचार को देने वाली, जो शब्दावलियां थीं, उनको या तो वह जानते नहीं थे, या जानबूझ कर भ्रम उत्पन्न करते थे। उदाहरण के लिए धर्म के बारे में उन्होंने कहा रिलीजन, तो बड़ा कन्फ्यूजिंग शब्द हमको दे दिया था। धर्मशाला को आप क्या कहेंगे। कोई धर्म बहन है तो आप क्या रिलीजियस सिस्टर कहेंगे? आज तक धर्म के लिए अंग्रेजी में शब्द की कठिनाई खड़ी हो गई और आज तक इसके लिए अंग्रेजी में कोई शब्द मिलना कठिन है और रिलीजन के लिए हमारे लिए भी शब्द मिलना कठिन है। क्योंकि रिलीजन का मतलब संप्रदाय होता है। उसी प्रकार से एक 'नेशन' नाम का शब्द दुनिया में पैदा हुआ था, उन्होंने कहा भारत नेशन है कि नहीं इस पर डिबेट शुरू कर दिया। हम लोग नेशन से अपरिचित थे। हम राष्ट्र से परिचित थे।

राष्ट्र और राज्य ये दो शब्द भारत में चलते थे। सबसे पहले उन्होंने यही कहा कि भारत कोई नेशन नहीं है। क्यों नहीं है? क्योंकि पाश्चात्य जगत के द्वारा जो डेफिनेशन निर्धारित की गई थी, उसमें भारत फिट नहीं बैठता था। उसकी तुलना में यहां के लोगों का मानना था, भारत एक राष्ट्र है। भारत एक सनातन राष्ट्र है। उनका कहना था, भारत नेशन नहीं है। इस पर डिबेट होना चाहिए। पर वह अच्छे से नहीं हो सकी थी। उन्होंने एक नई थ्योरी प्रोपागेट की और कहा कि भारत में बहुत सारे नेशंस हैं। और एक सब-कॉन्टिनेंट है, नेशंस का। क्योंकि उनकी परिभाषा में एक छोटा-सा समूह एक नेशन बना सकता है। उन्होंने कहा तमिल एक नेशन है। बांग्ला भाषी एक नेशन है। मराठी एक नेशन है। सिक्ख एक नेशन है। नगा एक नेशन है। मिजो एक नेशन है। असमिया एक नेशन है। नेशन को लेकर उनका तर्क यह था कि कोई जाति, कोई रेस, कोई क्लान, कोई लैंग्वेज, कोई रिलीजन, कोई भी प्रकार की आइडेंटिटी एक नेशन को जन्म दे सकती है। उन्होंने तभी कहा, भारत बहुत से देशों का एक सब-कॉन्टिनेंट है। हमारे लोगों ने कहा ऐसा नहीं है। भारत एक महान और दर्शन वाला राष्ट्र है।

चार मुद्दे हमारे सामने हैं-भारत एक नया राष्ट्र है। भारत एक नया नेशन बन रहा है। हम उनकी परिभाषा में फिट नहीं बैठते। क्योंकि उन्होंने भ्रम पैदा किया कि एक नेशन का मतलब-एक भाषा। एक नेशन का मतलब-विशेष प्रकार का समूह। सैकड़ों भाषा वाला, सैकड़ों संप्रदाय वाला, दसियों-बीसीयों प्रकार के ज्योग्राफिकल कंडीशंस वाला, सैकड़ों प्रकार का वेश-भूषा वाला और खान-पान वाला एक नेशन कैसे हो सकता है? एक नेशन तो नहीं हो सकता है।

इसलिए, जो पाश्चात्य जगत की थ्योरी थी, वह अपने देश के लोग ही बोलने लगे। भारत कोई नेशन था ही नहीं। भारत को नेशन का कोई कॉन्सेप्ट भी नहीं था। संविधान निर्माताओं में से भी कुछ को यही

बात ध्यान में आने लगी। उन्होंने कहा कि हम कोई देश बन रहे हैं। वह पाश्चात्य देशों के लेखकों ने, बड़े-बड़े लेखक हैं–मैक डोनाल्ड है, म्यूर है, मैक्समूलर है, मैकाले है, मून है, सबने एक बात बोली दी, भारत कोई नेशन नहीं है। नेशन बन रहा है। नेशन बन सकता है।

यह पाश्चात्य विचारकों के अनुभव के आधार पर है। उन्होंने कुछ पैरामीटर्स तय किए और उन पर आकर भारत को फिट करने की कोशिश की। अगर यह भारत पर फिट नहीं होता है तो भारत एक नेशन नहीं है। नेशन और राष्ट्र दोनों शब्दों को अलग-अलग प्रकार से समझने की आवश्यकता है। यह महत्वपूर्ण बात है। हम नेशन को समझेंगे तो अपने राष्ट्र के दर्शन को हम लोग समझ सकते हैं। ये नेशन शब्द की उत्पत्ति कहां से हुई? वर्तमान युग का जो नेशन शब्द है, यह फ्रांस से उत्पन्न हुआ है। ऐसा समझते हैं। नेशियन शब्द था उसमें से निकला है। नेशन की जो दुनिया भर में परिभाषाएं दी गईं, वह सैकड़ों परिभाषाएं नेशन के बारे में आ गईं। पर आश्चर्य की बात है कि पांच से दस पॉलिटिकल थिंकर्स है, जो किसी एक परिभाषा पर सहमत नहीं होते हैं। हर एक अपनी एक नई परिभाषा देता है। जैसे-जे एस मिल, क्राइस्ट गिल, गारर्नर, ब्राइस, स्टालिन, गिब्बन, फिशर, जूलियन हक्सले, कोहेन, गूच, जिमारेन आशीर्वादन, कितने नाम हम गिनाएं। सबने एक अलग तरह की परिभाषा दी। नेशन को डिफाइन करने की कोशिश की है कि नेशन क्या होता है? सबकी परिभाषा में कोई-न-कोई अलग आइडेंटिटी है। एक स्पेशल फीचर उसमें रहता है। वह डिफाइन करता है, नेशन क्या है? कैसा है? और कैसा नहीं है?

और आश्चर्य तो तब हुआ, जब देश में आजादी की लड़ाई चल रही थी, हमारे देश में उस समय बहुत से आंदोलन इस देश में सुधार के लिए चलते थे। किसी कारण से बाल विवाह, किसी कारण से सती प्रथा शुरू हो गई, कहीं बहु विवाह हो गया या अस्पृश्यता आ गई। देश में ऐसी कुछ कुरीतियां थीं। देश में कुछ समस्याएं खड़ी हुई थीं। समाज की इन समस्याओं को दूर करने के लिए जो मूवमेंट चलते थे, उनको नेशनलिस्टिक मूवमेंट नाम दिया गया। गजब! ये समाज सुधार के मूवमेंट थे। चाहे राजा राम मोहन राय चला रहे थे या दयानंद सरस्वती चला रहे, महात्मा फूले चला रहे, सावरकर चला रहे, गांधीजी ने चलाया, ये सारे समाज सुधार के आंदोलन थे। इनको उन्होंने कहा, ये नेशनलिस्टिक मूवमेंट है। भारत एक नेशन का शेप ले रहा है और भारत की जो समस्याएं थीं, जो 800-900 वर्षों की गुलामी के कारण समस्याएं तो थीं, और जैसा वे चाहते थे, लेकिन होमोजीनस स्ट्रक्चर नहीं था। छोटे-मोटे जो भेद दिखते हैं। उत्तर वाले हिंदी बोलते हैं, दक्षिण वाले नहीं बोलते हैं। अन्य भाषा बोलते हैं। इसमें प्रॉब्लम क्या है? हिंदी-अहिंदी का झगड़ा कैसे हो सकता है। उत्तर और दक्षिण का झगड़ा कैसे हो सकता है? ये दलित का और दूसरे समाज का झगड़ा, ट्राइबल और नॉन-ट्राइबल का झगड़ा कैसे हो सकता है? कैसे हम कॅन्फ्लिक्ट पैदा कर सकते हैं? इस पर उन्होंने लंबा काम किया और वे हर छोटे-छोटे ग्रुप को एक आइडेंटिटि दे देते हैं। यू आर ए नेशन। क्यों? आपकी एक सेपेरेट आइडेंटिटि है। मैं बारह साल गुवाहाटी में रहा। नॉर्थ-ईस्ट में घूमता था। वह छोटे-छोटे ग्रुप हैं। कितनी आबादी है दीमासा लोगों की। मुश्किल

से एक लाख। वे कहते हैं, वी आर अ नेशन। देखिए, हमारा ड्रेस कैसा है, हमारी म्यूजिक कैसी है? हमारी पूजा कैसी है? कारगी कहता है-वी आर अ नेशन। कितनी पॉपुलेशन है-दो लाख। नगा कहता है-वी आर अ नेशन। मिजो कहता है-वी आर अ नेशन। बोडो कहता है-वी आर अ नेशन। और कितने नेशन हैं? व्हाट इज दी कॉन्सेप्ट ऑन दी नेशन इन योर माइन्ड। ये किसने बैठाया था? यह समझने की जरूरत है। यह सामान्य बात नहीं है। अगर, हम नेशन की डेफिनेशन को लेंगे तो दे कैन बी अ नेशन। अगर, वह डेफिनेशन हमने स्वीकार कर लिया तो पक्का मानिए वह सब सेपरेट नेशनहुड को प्राप्त करने की कोशिश करेंगे। इसलिए हमें गंभीरता के साथ समझने की आवश्यकता है कि नेशन क्या है? नेशन किस भावना से उत्पन्न होता है? कहां से आता है? कैसे जन्म लेता है? उसके पीछे का सिनॉप्सिस क्या है? देशों के बारे में कल्पना क्या है? इसके बारे में हम लोग देखते हैं। थोड़ा-सा इतिहास में जाते हैं। इन लोगों का कहना है, जो नेशन है, वह फ्रेंच रिवोल्यूशन के बाद पैदा हुआ। नहीं ऐसा नहीं है। हम ऐसा नहीं मानते। वे कहते हैं लिबर्टी, फ्रेटर्निटी और इक्वालिटी आ गई और नेशन कॉन्सेप्ट शुरू हो गया। तो क्या उन सब नेशंस में वह बात हैं, जो अपने आपको नेशन मानते हैं। देश में बहुत सारे ऐसी हैं, जिनमें तीन बातें नहीं हैं। फिर भी, वह नेशन हैं। वह अपने आपको नेशन मानते हैं।

हमारा मानना है कि देश की परिभाषा बहुत पुरानी है और नेशन कॉन्सेप्ट और भारत के राष्ट्र दर्शन के कॉन्सेप्ट को बराबरी से समझने की आवश्यकता है। इन दोनों का इवोल्युशन कैसे हुआ? इन दोनों का इतिहास क्या है? दोनों की परंपराएं क्या हैं? दोनों की विशेषताएं क्या हैं? और सारे विश्व के परिदृश्य में हम कहां खड़े हैं? कैसे खड़े हैं? उदाहरण के लिए मैं चार-पांच देशों का संक्षेप में उदाहरण देता हूं। मिस्र अथवा इजिप्ट नाम का देश है। फरहों राजाओं वाला, पिरामिड वाला देश है। अलेक्जेंडर ने इस पर आक्रमण किया। बाद में, अरब लोग आ गए। आज मिस्र में क्या है? जो फराह राजाओं का देश था, फराह राजाओं की परंपरा थी, उनका एक विचार था। उन्होंने बहुत सारी खोज की थी। वह कहां चले गए। वह खत्म हो गए। आज वह पुराना मिस्र नहीं है। जो मिस्र है, दूसरा मिस्र है आज।

एक पुराना ग्रीक था। ग्रीक हम एथेंस, थर्मोपाहला युद्ध, सोक्रेट्स, प्लेटो, होमर, अपोलो देवता, सूर्य की पूजा करने वाला बड़े मंदिरों वाला, अरस्तु का वह ग्रीस कहां गया? वह देश समाप्त हो गया। आज जो ग्रीक है, वह पुराना वाला ग्रीक नहीं है। उसकी आत्मा मर गई है। पुराना पर्शिया था। पर्शिया को जो रुस्तम, डेरिस और सोहराब थे। ये पर्शिया के लोग थे। जेंतावास्ता, जरथुरस्ट की पूजा करने वाले वह लोग कहां गए? इस्लाम से बहुत पहले से वह थे? आज का जो पर्शिया, फारस बोलते हैं यानी ईरान है, वह पुराना वाला नहीं है। पुराना फारस मर गया।

रोम कहां गया? रोम की एक सभ्यता थी। रोम का एक विचार था। रोम की एक पद्धति थी। जीवन का दर्शन था। आज का जो रोम है, वह पुराना वाला रोम नहीं है। पुराना वाला रोम चला गया।

कहां चले गए ये देश? क्यों चले गए? इन देशों का जो सिस्टम था वह यूनिपोलर था। ये सारे देश

राज्य केंद्रित थे। राजा, सेना, प्रशासन, विधान, संविधान, दंड नीत, राजनीति आदि-आदि सब का सेंटर राजा था। राजा गया और देश समाप्त हो गया। इन देशों का निर्माण राजाओं ने, सेनाओं ने किया था। युद्धों से ये देश के निर्माण होते थे और युद्ध से समाप्त हो जाते थे। एक बार राजा युद्ध हार गया। खेल खत्म हो गया। जो राजा आ गया उसने प्रशासन स्थापित कर लिया। देश की अंतरात्मा मर जाती थी। उनकी आत्मा थी ही वहीं। हमारे देश पर आक्रमण हुए। उनकी कहानी सुनिए। हमारे देश पर ग्रीक लोगों का आक्रमण हुए। ग्रीक जीत गए। सारे ग्रीक कहां गए? ग्रीक जिन-जिन क्षेत्रों में जीत गए, उन-उन क्षेत्रों में भारतीय राजा हार गए। इंडोग्रीक शासन था। सारा तक्षशिला, अफगानिस्तान, पाकिस्तान के बड़े हिस्से पर ग्रीक लोगों का शासन था। ग्रीक लोग सेना के लोग अंदर तक थे। जो मनेन्डर था, वह मिलिंद हो गया। जीता हुआ राजा बौद्ध मत में आ गया। एक तरह से पश्चिमी भाषा में समझने की कोशिश करें तो कह सकते हैं, भारत में भारत का उस समय का जो नेशन था, वह हार गया था। मिनेन्डर जीत गया। लेकिन, भारत का दर्शन जीत गया। एक ओर भारत का राजा हार गया, भारत का दर्शन जीत गया। कभी आप विदिशा जाएंगे तो वहां आपको बड़ा-सा स्तंभ 77वें बीसी का है, वह हेलियोथोनेरस नाम का ग्रीक देखने को मिलेगा। उसने लिखवाया है कि मैं यहां आकर परम भागवत वैष्णव हो गया। यह हेलियोडोरस का पूरा का पूरा परिवार आ गया। शक आए। जीत गए। उज्जैयिनी, मध्य भारत तक शकों का राज्य था। शक हार गए थे। शकों ने सारे के सारे अपने नाम बदल लिए, भारतीय नामों में आ गए। उस समय शकों ने जिनको पराजित किया था, वे भारतीय राजा थे। वे हार गए थे। जीता कौन? भारत का दर्शन जीत गया। कुषाण थे, कनिष्क था, हविष्क आए थे। कुषाण लोग जीत कर आ गए थे। मथुरा कनिष्क की राजधानी थी और एक राजधानी पेशावर में थी। दो राजधानी थी, क्योंकि वह बड़ा भारी राजा था। क्रूर भी था। लेकिन, इंटेलेक्चुअल डायलॉग चलते रहे और कनिष्क बौद्ध हो गया। भिक्षुक होकर भी क्षमा मांगता था। हूण लोग बहुत बर्बर थे। आए और जीत गए। यहां आकर मिल गए। जो मिहिरकुल, कैडफिशर था, सब आकर मिल गए। असम में थाइलैंड से आहोम आए थे। मिल गए। वह जीते थे। असम का राजा हार गया था। यह डिबेट का प्रश्न है, शोध का प्रश्न है। जीती हुई जातियां दुनिया से यहां आकर कैसे पराजित हो गईं? अर्थात् यहां के विचारों में, यहां के दर्शन में डूब गई। ये भारत का खरल था। 'दिनकरजी कहते हैं-ये भारत का खरल है। सबको कूटकर एक मसाला बना देता है, घर में जैसे महिला बनाती हैं, पांच-सात प्रकार मसालों को कूटकर, भारत ऐसा ही खरल है। राजा हार सकता है, सेना हार सकती है, शासन-प्रशासन जा सकता है। लेकिन, आने वाला जीता हुआ व्यक्ति भारत में विलीन हो जाता है। एक राजा है, शासन-प्रशासन है, जो जीतता है। भारत का राष्ट्र का दर्शन जीतता है। राष्ट्र का दर्शन अलग है। राष्ट्र अलग है। नेशन अलग है। भारत में राष्ट्र मरता नहीं है। नेशन मरता है।

इसलिए, इस राष्ट्र को समझना आवश्यक है। इस्लाम आया 8-9वीं शताब्दी में तो धीरे-धीरे 12वीं शताब्दी तक इस्लाम का ही शासन 80-90 फीसदी देशों में उनका नियंत्रण था। वह जीते थे, भारत के

राजा हारे थे। आज पॉलिटिकल भाषा में कहा जाएगा कि स्टेट चला गया, सेना तो हार गई। प्रशासन तो उनके हाथ में है। मुद्रा उनके हाथ में। सेना उनके हाथ में। लेकिन, युद्ध चलता रहा। रामानुजाचार्य लड़ रहे, रामानंद लड़ रहे, सिक्ख गुरु अलग संघर्ष कर रहे, मीराबाई अलग संघर्ष कर रही है, तुलसीदास अलग लड़ते हैं, कबीरदास अलग लड़ते हैं, रैदास अलग लड़ते हैं। सारा देश युद्ध लड़ता है। आज हम दिल्ली में बैठे हैं। शासन किसका है? बोलिए! आठ सौ वर्षों तक शासन करने के बाद, शासन भारतीय राष्ट्र का स्थापित हो गया। राष्ट्र जीत गया। आठ सौ वर्षों की इस्लाम की गुलामी देखकर दुनिया का कोई देश उबरकर नहीं आया। क्या पर्शिया उबर पाया? इराक उबर पाया? नहीं उबर पाया। दुनिया के 54 देश ऐसे हैं, इस्लाम के शासन के तहत गए तो गए। भारत एकमात्र अपवाद है, क्यों? क्योंकि, यहां का राजा हारा था, सेना हारी थी। शासन बदला था। लेकिन, प्रजा का जो अंतरमन है, वह यहां कुछ और था। ये यूनिपोलर देश हमारा नहीं था। शासन व्यवस्था राज्य केंद्रित हमारी नहीं थी। शासन के अलावा, राजा के अतिरिक्त एक और व्यवस्था थी राष्ट्र। वह लोगों के मन में था। वह लोगों के हृदय में था, वह जिंदा रहा। इसलिए, हम लोग जीत गए।

ये नेशन से अलग है। अब अंग्रेज आ गए। अंग्रेज 200 साल तक यहां रहे। जहां अंग्रेज गए, वहां क्या हुआ। ये अमेरिका में गए वहां क्या हुआ? पूरा अमेरिका बदल गया। आस्ट्रेलिया खत्म हो गया? कनाडा में गए, कनाडा खत्म हो गया। जहां-जहां वे गए, वहां-वहां अपना ही प्रदर्शन करके चले आए। कुछ नहीं बचा वहां पर। भारत में 200 वर्ष रहे और भारत इन लोगों से लड़ता रहा। राज्य उनका था, वायसराय हो, गवर्नर जनरल हो, सेना हो, पुलिस हो, प्रशासन हो, सब उनके हाथ में था और एक समय ऐसा आया कि अंग्रेज हार कर चला गया। हमारा शासन फिर हमारे हाथ में आ गया। मेरा फिर प्रश्न है कि ये 200 सालों तक लड़ने वाला कौन था? राजा नहीं था, समाज था। लोकमान्य तिलक थे, गोपालकृष्ण गोखले थे, स्वामी विवेकानंद थे, स्वामी दयानंद थे, बंकिम बाबू थे, श्रद्धानंद थे। ये राष्ट्र को प्रकट करते थे। ये राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करते थे। वे शासन में नहीं थे। लेकिन, जनता के दिल में, हृदय में वे थे। और ये राष्ट्र को जीवंत रखते थे। सेना, प्रशासन, पुलिस, न्यायालय, सब उनके हाथ में था। हमारे हाथ में जनता और जनता का हृदय था। सैकड़ों-हजारों वर्षों की महान परंपरा हमारे हाथ में थी। राजसत्ता चली गई। लेकिन, राष्ट्र का मौलिक तत्व जीवित रहा। इस मौलिक अंतर को अपने को समझना है। नेशन आता है और चला ही जाता है। फिर, पलट कर नहीं आता है। राष्ट्र एक ऐसा तत्व है, जो दुनिया में अन्यत्र नहीं है। यह शासन और सत्ता से अलग है। पाश्चात्य जगत में, वहां पर जो समाज विकसित हुआ, उस समाज में अंदर बहुत सारी विविधताएं थीं। उन विविधताओं में से वह समाज अपनी-अपनी शासन पद्धतियां विकसित कर रहा था। एक आश्चर्य का, दुख का, चिंता का विषय है कि पाश्चात्य जगत ने जो डिफरेंसेस थे, उन डिफरेंसेस को संघर्ष को देखा। एक रेस वाला, दूसरे रेस वाले के साथ मिलने को तैयार नहीं है। एक रिलिजन वाला दूसरे रिलीजन के साथ मिलने को तैयार नहीं है। सब-

रिलीजन आ गए। एक भाषा-भाषी, दूसरी भाषा-भाषी के साथ मिलने को तैयार नहीं है। ये पाश्चात्य जगत की बड़ी भारी समस्या थी। वहां पर जो विकास हुआ, नेशनलिज्म का। हालांकि, फ्रेंच रिवोल्यूशन को मानते हैं कि जो मान्यताएं थी पाश्चात्य जगत में भिन्न-भिन्न प्रकार के डिफरेंसेस थे, वह कैसे इनका समाधान किया जाए। उनको समझ में नहीं आता था। फ्रेंच रिवोल्यूशन के बाद एक नेशन कॉन्सेप्ट जरूर शुरू हुआ। लिबर्टी, फ्रेटर्निटी एंड इक्वेलिटी का। 1789 के रिवोल्यूशन के बाद पहली बार नेशन कॉन्सेप्ट गहराई से लोगों के मन में बैठा, वह जर्मनी ने बैठाया।

जो फिशे ने 1884 के साथ 14 लेक्चर जर्मनी में एक साथ दिए थे। 14 भाषण उसके हैं, उसने जर्मनी के लोगों के मन में भाव भर दिया। हम जर्मन, हमारी एक रेस, हमारी एक भाषा, हमारी एक कल्चर, हमारी एक आइडेंटिटी, हमारी एक हिस्ट्री। ऐसा करके एक खड़ा हो गया, हमारा एक इंटेलेक्ट है। हमारा एक जीनियस है। हम एक एक्स्ट्रा ब्रिलिएंट, एक्स्ट्रा ऑर्डिनरी अच्छी क्षमता रखने वाले लोग हैं। हम अलग हैं। हमने सुपीरियरिटी का अहंकार लोगों के मन में बैठाया। एक जर्मन नेशनलिज्म के रूप में पूरे यूरोप में वह प्रकट हुआ। धीरे-धीरे इसको सबने पकड़ लिया। सारे यूरोप में बात फैलने लगी कि वह जर्मन तो हम फ्रेंच, तो हम नार्वे के लोग, हम स्वीडिश लोग हर एक को लगने लगा कि हम भी कुछ हैं। सेपरेट आइडेंटिटी बनने लगी। और धीरे-धीरे सबको ऐसा लगने लगा कि हम अलग हैं। हम अलग हैं। हम श्रेष्ठ हैं। हम अच्छे हैं। दीवारें खड़ी होने लगी। यह शोध का विषय है। कैसे फ्रेंच रिवोल्यूशन से जर्मन और जर्मन से नेशनहुड डेवलप हुआ। उसने सारे यूरोप में एक नई क्रांति ला दी। छोटे-छोटे समूह में लोग अलग-अलग खड़े होने लगे कि हम आपसे मेल नहीं खाते। हम अलग हैं। हम अलग हैं। आपके साथ रह नहीं सकते हैं। हम अलग हैं। अलग होने का कोई भी क्राइटेरिया हो सकता था। धीरे-धीरे इस विचार के फैलते ही सारा यूरोप टुकड़े-टुकड़े में बंटने लगा। एक ओर विज्ञान भी बढ़ रहा था। एक ओर अलग-अलग आइडेंटिटी अपने-अपने स्थान पर अलग-अलग एक नेशनहुड के रूप में डेवलप हो रही थी। देश बने और ताकत आ गई। देश बने और उनको लगा कि उनको आगे बढ़ना है। इस नेशनलिज्म ने एक खतरनाक कदम उठाया। यह खतरनाक कदम ये था कि ये इम्पीरियलिस्ट हो गए। वे सेना लेकर निकलने लगे। जब अहंकार बढ़ा और शक्ति हाथ में आ गई तो स्पेन हो चाहे पुर्तगाल, चाहे यूके, चाहे फ्रांस था, चाहे जर्मन था, चाहे कोई था, जिसके हाथ में सेना आ गई, वह निकल गया। वह गरीब देश को पकड़ता था, वह अपनी कॉलोनी बनाता था। उसको गुलाम बना लेता था। नेशनलिज्म का दूसरा सबसे खतरनाक पक्ष ये निकला। पहला तो ये निकला कि इसने टुकड़े-टुकड़े कर दिया। समन्वय की सारी संभावना खत्म कर दी। दूसरा यह निकला कि अपनी उन्नति करके हम दूसरों को गुलाम बना सकते हैं। सैकड़ों कॉलोनी डेवलप होने लगीं। हालांकि, पहले भी चलते थे, रोमन साम्राज्य, ग्रीक राजवंश, वह पहले भी था। लेकिन, सोचा गया था कि फ्रेंच रिवोल्यूशन के बाद मनुष्य-मनुष्य को समझेगा। मनुष्य-मनुष्य का सम्मान करेगा। मनुष्य के प्रति भावनाएं बदलेंगी। लेकिन, वह बिगड़ गया। पिछले 300 वर्षों

का इतिहास हमें बताता है कि किस प्रकार से इन्होंने कॉलोनी बनाई। किस प्रकार से सारी दुनिया का शोषण किया। किस प्रकार से दुनिया भर के गुलाम खरीदकर के लाकर दुनिया भर के बाजार में खरीदे-बेचे गए। वहां का रॉ मटीरियल लाए। तरह-तरह के प्रतिबंध लगाए। और क्या-क्या नहीं किया। कितना भ्रष्टाचार किया। किस प्रकार से किस आधार पर नेशन है, हम ब्रिटिश हैं। ब्रिटिश अम्पायर वहां से लेकर वहां तक रहेगा, अर्थात् सूरज कभी डूबेगा ही नहीं। 40-50 देशों को उन्होंने गुलाम बनाया। और इस प्रकार पूरे यूरोप के लोगों ने दुनिया भर के लोगों को गुलाम बनाने में जुट गए। सारी दुनिया की सम्पति हमारी है। वहां का रॉ मटीरियल हमारा है। वह ले-लेकर आते थे और अपना वैभव और अपने देश की राजधानियों में दिखाते थे। उनके जो महल बने चाहे वह फ्रांस का महल था, ब्रिटेन का महल था, उनकी जो सड़कें बनी, उनके जो कल-कारखाने शुरू हुए, वह ध्यान में रखने की बात है, गुलाम बनाए गए उन कॉलोनियों की संपत्तियों का एक वल्गर प्रदर्शन था। कह सकते हैं कि अपनी शक्ति का अहंकर, अपनी जाति का अहंकार, अपने नेशन का अहंकार, अपनी सत्ता का अहंकार। अहंकार उनको यहां तक ले आया कि मानवीय मूल्यों को तहस-नहस करके उन लोगों ने रखा। लेकिन समय बदलता है। जो बीज उन्होंने बोए थे, वही बीज अब उनके यहां भी प्रकट होने लगे। क्योंकि कोई भी बड़ा समाज होता है, उसमें डिफरेंसेस होते हैं। किसी भी प्रकार से बड़ा समाज होता है, वहां तरह-तरह के लोग रहते हैं, उनका सम्मान करना उन्होंने नहीं सीखा था। देश टूटने लगे। अलग-अलग समाज टूटता है। मिलकर रहना मुश्किल हो जाता है। हम देख रहे हैं यूगोस्लाविया सात टुकड़ों में टूट गया। वह अलग हो गए। हम नहीं रह सकते। स्लोवाकिया, क्रोएशिया, क्रोसोडो, मेसोडोनिया, बोस्निया सब अलग हो गए।

सोवियत संघ 15 टुकडों में बंट गया। केवल रूस रह गया। बाकी 14 अलग हो गए। टूट गए। स्कॉटलैंड यूके से अलग होना चाहता है। आइरिश अलग लड़ाई लड़ रहे हैं। नहीं हम आपके साथ नहीं रह सकते। हम आपसे मेल नहीं खाते। हम अलग हैं। कुछ लोग अलग लड़ाई लड़ रहे हैं कि हम अलग होना चाहते हैं। धीरे-धीरे नेशनलिज्म नैरो कॉनसेप्ट में आने लगा। चेकोस्लोवाकिया बंट गया। सेना के बल पर उनको कितने दिन रखा जा सकता है? यह बड़ा प्रश्न हमारे सामने है। उसी भाव को लेकर, हम देखें तो अन्य देशों में भी टुकड़ा-टुकड़ा होता है। क्योंकि, सहनशक्ति है, वह कम है। जो देश धर्म के आधार पर बने, जो देश लैंग्वेज के आधार पर बने, जो देश रेस के आधार पर बने, जो देश नस्ल के नाम पर बने, धीरे-धीरे टूट रहे हैं। बांग्लादेश टूट गया, पाकिस्तान टूट गया। क्योंकि, उन्होंने कहा कि उर्दू नहीं पढ़ेंगे। कोई कहता है हम उर्दू पढ़ेंगे, पख्तून कहता है हमें अलग करो। हम अलग हैं। सन् 1947 से कह रहे हैं कि हमें अलग करो। बलूच अलग कह रहे हैं कि हमें अलग करो।

सारी दुनिया में इस नेशनलिज्म का इंटॉलरेंट बिहेवियर रह गया। इस इंटॉलरेंस के रिएक्शन हो रहे हैं। जगह-जगह इसके दुष्परिणाम निकल रहे हैं। इस नेशलिज्म के कारण ही दोनों विश्वयुद्ध हुए। कुछ एग्रेसिवनेस इस नेशनलिज्म की है। कौन बर्दाश्त करेगा। ताकतवर जाति है तो लगता है सारी दुनिया में

कब्जा कर लेंगे। नेशनलिज्म के कारण दो विश्वयुद्ध देखे, बड़े-बड़े साहित्यकार, विचारक, दार्शनिक, लेखक, उनको लगा कि नेशनलिज्म बहुत खराब है। नेशनलिज्म कर्स टू दी हूमैनिटी। हो सकता है। अतः जो अच्छी बात को लेकर शुरू हुआ था, कहां पहुंच गया। जो फ्रेंच रिवॉल्यूशन के बाद जो पढ़ा था, लेकिन इस नेशनलिज्म और नेशनलिज्म में पर्याप्त असहिष्णुता दी। अपनी बहुत छोटी-सी पहचान को लेकर अलग होना, सामंजस्य, मेल-मिलाप के सूत्र नहीं ढूंढ़ना, कोई मीटिंग प्वाइंट्स है ही नहीं। अपनी अलग आइडेंटिटी को लेकर अहंकार के साथ आगे बढ़ना हमको यह समझाया, स्वार्थों को लेकर टकराव, ने हमको ये समझाया कि भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वभाव के, प्रकार के, ज्योग्राफिकल कंडीशन के लोग मिलकर नहीं रह सकते। दो भाषा-भाषी के लोग, दो संप्रदाय के लोग, दो प्रकार के ज्योग्राफिकल कंडीशन के लोग मिलकर नहीं रह सकते, क्योंकि स्वार्थ भी टकराते हैं। हम मिलकर नहीं रह सकते। इसलिए उनको आश्चर्य होता था कि भारत एक नेशन कैसे हो गया। भारत एक नेशन हो ही नहीं सकता। इतने रिलीजन, इतने प्रकार के लोग, इतने प्रकार की भाषा, इतने प्रकार की बोलियां, इतने प्रकार के संप्रदाय, इतने प्रकार के पर्व, भारत एक नेशन नहीं हो सकता है। वह जो फ्रेम लेकर आए थे, उसमें भारत को स्थापित करने की कोशिश कर रहे थे। भारत एक नेशन है। हमारे विद्वान लोग समझाते हैं कि ये बात तो सच है। भारत एक नेशन नहीं है।

अब एक प्रश्न खड़ा होता है कि दुनिया में विविधताएं तो रहेंगी ही। क्या इनको समाप्त कर दिया जाए? एक यूनिफॉर्मिटी ला दी जाए। एक तरीका हो सकता है। उन्होंने कोशिश की। डायवर्सिटी को खत्म करने के लिए जहां-जहां गए, वहां-वहां डायवर्सिटी खत्म कर दी गई। वहां के पहराये गए, वहां के पूजा पद्धति, वहां के परंपराएं सब गए। वहां की भाषा और बोली सब गए। वह इस पद्धति को मानकर चलते हैं। या एक दूसरा यह हो सकता है कि उन विविधता वालों को अलग कर दिया जाए। अलग-अलग टुकड़ा-टुकड़ा कर दिया जाए। जाओ भाई, रहो तुम अलग। तीसरा मार्ग है, भारतीय मार्ग कि हम सारी विविधताओं के बाद भी एक साथ मिलकर रह सकते हैं। हमारा मन यह है। हमारा मत यह है। हमारी परंपरा यह है।

रवींद्रनाथ ठाकुर इस पर लिखते हैं। इन विविधताओं को कैसे समझा जाए? और इन विविधताओं के साथ कैसे रहा जाए? उन्होंने सबको खत्म करो और हमारी सुपरिमेसी स्थापित हो।

आप लोगों को आश्चर्य होगा। मैं एक बार अयोध्या गया था। हनुमान गढ़ी में बहुत सुंदर मंदिर है। हनुमानगढ़ी मंदिर के दरवाजे पर देखा कि कबीर की प्रतिमा लगी है। यहां कबीर की प्रतिमा क्यों लगा दी गई है? वह तो मूर्तिपूजा का पक्का विरोधी है। पर कबीर के दोहे अच्छे हैं। कबीर के दोहे सबको पसंद आते हैं। कबीर के दोहे नीतियों के दोहे, विचार के दोहे हैं। इसलिए, हनुमान गढ़ी में कबीर की श्रद्धा होगी, नहीं होगी, छोड़ दो, उसके दोहे में हमारी श्रद्धा है। इसलिए, मूर्तिपूजा के घोर विरोधी की मूर्ति वहां लगी है। जाकर देखिए। हमने रिस्पेक्ट किया है। अपने विरोधियों को अपने मंदिर में बैठाकर रिस्पेक्ट

किया है। ऐसे नहीं कि वी टॉलरेट देम। हमने एक्सेप्ट किया। हमने उनको रिस्पेक्ट किया। जब भारतीयों ने इस चुनौती को स्वीकार किया तो हमारी भौगोलिक जलवायु विविध है। हमारी बोली-भाषा विविध है। हमारे व्यवहार अलग हैं। तीज-त्योहार अलग हैं। पर्व अलग हैं। ऋतुएं अलग हैं। वनस्पति अलग हैं। भोजन करने की व्यवस्थाएं व पद्धतियां अलग हैं। ये डायवर्सिटी हैं, विविधताएं हैं। लेकिन, विविधताओं की इस चुनौती को भारत ने स्वीकार किया। इसको खोजा कि इन सारी विविधताओं में हम कौन-सा तत्व देखते हैं? जो हमें एकात्म बोध करवा सकता है। इस सबको जोड़ने का साधन क्या है? हमको समझ में आता है, काले लोग हैं, गोरे लोग हैं, पहाड़ियों पर रहते हैं, मैंदान में रहते हैं। ये मांसाहारी हैं। ये शाकाहारी हैं। ये वैष्णव हैं। ये शैव हैं। ये मूर्तिपूजा करने वाले हैं। ये नहीं करने वाले हैं। इस पंथ के हैं, उस पंथ के हैं। ईश्वर को मानते हैं, ईश्वर को नहीं मानते हैं। हजारों प्रकार की विविधता है। लेकिन, क्या किया जाए। इस बात पर उन्होंने गहन अध्ययन किया। गहन चिंतन किया, गहन विचार किया और साधना की और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि कोई भी सूत्र ऐसा जो सबको जोड़ सकता है। आत्मिक स्वीकृति, सर्वग्राही स्वीकृति चाहिए। सब-सबको स्वीकार करें। ऐसा कोई सिद्धांत निकल आएगा तो ठीक है। एक्सक्लूसिव नहीं, इनक्लूसिव चाहिए। हम एक्सक्लूसिव है। एक कैथोलिक है, दूसरा प्रोटेस्टेंट है। वह आदमी को हेय मानता है। छोटा मानता है। इन्क्लूसिव एप्रोच चाहिए। दूर भी न जाए, सबको बांध ले सबको समेट ले। ऐसा कौन सा सर्वग्राही मत हो सकता है। सर्वग्राही विचार हो सकता है। सबको समा ले ऐसा कौन-सा चिंतन और दर्शन हो सकता है? इस पर लंबा विचार हुआ होगा। लंबी साधना की गई होगी। लोगों ने इसे गंभीरता से सोचा होगा, क्या किया जाए?

तब इस देश में साधना के बाद एक दर्शन उत्पन्न हुआ। उस दर्शन को हम कहते हैं-राष्ट्र का दर्शन। इन विद्वानों ने बैठकर लाइब्रेरी कॉन्सल्ट की, ये पढ़ा और वह पढ़ा और अच्छी थ्योरी दे दी, नहीं ऐसा नहीं। एक साधना की अवस्था में, हम सारे विश्व को कैसे जोड़ेंगे। इतनी डायवर्सिटी के बाद, डिफरेंसेस के साथ सबको कैसे जोड़ेंगे? एक भी बाहर न जाए। एक भी इधर-उधर नहीं। सबको समेट लें। तो ये ऋषियों से ही राष्ट्र का दर्शन हो सकता है। उसमें सब एक हो जाएंगे। मैं आपके सामने वेद की एक ऋचा का पाठ कर रहा हूं। वेद की इस ऋचा में राष्ट्र क्या है? यह अपने ध्यान में रखना है। हो सकता है, संस्कृत जानने वाले कम लोग होंगे। इसलिए, मैं धीरे-धीरे बोलता हूं। राष्ट्र का दर्शन कैसे मन में आया? कैसे मस्तिष्क में आया? वह अवस्था कैसी थी? वह कहते हैं-भद्रं इछंति ऋषयः। यह भद्र इच्छा उन महान ऋषियों के मन में आ गई। **'भद्रं इछंति ऋषयः सर्व विदः तपोदीक्षाम उपनिषेदुरग्रे ततो राष्ट्रम्, बलम् ओजस्व जातम्'।**

'भद्र इच्छा', लोक कल्याणकारी इच्छा पहले है। विश्व के एक भी मानव को दुख न हो। कष्ट न हो। अकल्याण न हो। सबका कल्याण हो, पहला। उसको परिश्रम करते हैं, वह ज्ञानी लोग हैं। तब उन्होंने कहा कि राष्ट्र का दर्शन यही है। सबके अंदर स्थापित करने से सब ठीक चलेगा। संघर्ष समाप्त हो सकता

है। ये जो भद्र इच्छा है, यह भद्र इच्छा क्या है? ये भद्र दृष्टि क्या है? यह भद्र कामना क्या है? यह भद्र कामना स्वार्थ की नहीं है। भद्र कामना अपना-अपना हित साधने की नहीं है। भद्र कामना अहंकार की नहीं है, भद्र कामना लोक मंगलकारी है। पहली बात भद्र बात उन्होंने कही। इस दिशा में उन्होंने कहा कि भद्र इच्छा लोकमंगलकारी इच्छा के प्रकाश में उन्होंने कहा सर्वत्र ईश्वर है। सबके अंदर ईश्वर की अनुभूति करके तो देखो। जो सामने खड़ा है, बिना पढ़ा लिखा, उसको अर्थ नहीं है, वह गरीब है। वह दूर खड़ा है, पहाड़ से आया है। वह सामने खड़ा है, सांवले रंग का है। उसके पास शक्ति कम है। कोई बात नहीं। सबके अंदर ईश्वर का वास है। यह आध्यात्मिक दर्शन था। कैसी भी एकात्म दृष्टि पैदा हो? इसे लोगों ने कहा कि किंचित मात्र भी स्थान ऐसा नहीं है, जहां परमात्मा, परब्रम्ह, ईश्वर, ज्योति या प्रकाश न हो। नाम उसे कुछ भी दे सकते हैं, विष्णु हो, शिव है, कृष्ण है, राम है। सबके अंदर विराजमान है। यह वैदिक ऋषि ने कहा है। इसलिए 'ईशावासस्य यत्किंचित जगत्याम् जगत सर्वजगतम्' था। ईश्वर सर्वत्र है। इस देश का या उस देश का मतलब ही नहीं है। सबके अंदर ईश्वर का वास होने के कारण से हमारा आचरण और व्यवहार बदल गया। भाव बदल गया। कभी-कभी हम देखते हैं कोई भिखारी हमसे पैसा मांगता है, हम हाथ जोड़ लेते हैं। हम क्या कहते हैं, हमारे पास पैसा देने को नहीं है। हम हाथ जोड़ते हैं। हम हाथ किसका जोड़ते हैं। कभी-कभी कोई भूखा आ जाता है। भूखे को खाना खिलाते हैं। फिर हम हाथ जोड़कर कहते हैं, महाराज भोजन पूरा हो गया न! कोई परिचय नहीं है। हमने किसका हाथ जोड़कर कहा, महाराज भोजन पूरा हुआ न! गरीब आदमी है, भोजन किया और हाथ जुड़ जाता है।

मैं काशी हिंदू विश्वविद्यालय में था। वहां त्रिपाठी जी सर्जन थे, सर्जरी डिपार्टमेंट में एचओडी थे। कोई भी पेशेंट आता था, वह अपने विद्यार्थियों को लेकर खड़े हो जाते थे, देखो, पेशेंट भगवान के रूप में तुम्हारे सामने आता है। ध्यान रखो। उस दिन वे पूरा ऑपरेशन डे में खाना नहीं खाते थे। भोजन नहीं करते थे। अन्न ग्रहण नहीं करते थे। पूजा कर के आते थे। नहीं, आज भगवान की पूजा का दिन है। छह-सात ऑपरेशन करते थे, फिर स्नान करते थे। कहते-हे भगवान! कोई भी ऐसा न हो कोई गड़बड़ हो जाए। तब भोजन करते थे। वह आने वाला मरीज ईश्वर का रूप है। यह राष्ट्र का दर्शन है। यह छोटा-मोटा दर्शन नहीं है। भद्र इच्छाओं से उत्पन्न हुआ दर्शन है। एक छोटे से वाक्य 'ईशावास्य जगतं' सारी दृष्टि बदल दी। पृथ्वी का कोई भी व्यक्ति है, कोई भी जीव जंतु है, वह वनस्पति है, उसके अंदर ईश्वर का वास है। ये महत्वपूर्ण बात है। ईश्वर है तो सब समान है। छोटा-बड़ा सब भेद समाप्त हो गया। अर्थात् हमको व्यवहार कैसा करना है? इस कॉन्टिनेंट का, इस देश का, उस देश का मतलब ही नहीं है। सबके अंदर ईश्वर का वास होने के कारण से हमारा आचरण और व्यवहार बदल गया।

हमारा ऋषि कहता है कि सारे दुनिया के लोग अपने हैं, ध्यान में रखना। तुम्हारे राज्य के, तुम्हारे देश के, इतना छोटा विचार नहीं। यह भद्र दृष्टि नही थी। भद्र दृष्टि में सारी दुनिया के लोग हैं। भारत के किसी भी अच्छे साहित्यकार को देखेंगें या ऋषियों के दर्शन को हम देखेंगे कोई भी बात उन्होंने अपने

लिए नहीं कही, कोई भी बात कही, सबके लिए कही। बुद्ध कहते हैं-'भवतु सर्व मंगलम्। सर्वे भवंतु सुखिनः। संस्कृति सर्वभूत हिते रताः।' सबके लिए कहते हैं। यह इन्क्लुसिव है। यह वैश्विक दृष्टि उत्पन्न की। हम जानते थे कि हमारे कई प्रकार के मत आएंगें। झगड़ा हो सकता है। झगड़ा विचारों में होता है। झगड़ा बुद्धिमानों में ज्यादा होता है। बुद्धिमान ज्यादा झगड़ते हैं। मजदूर लोग कम झगड़ते हैं। किसान कम झगड़ते हैं। वैसे ही एक नई दृष्टि ऋग्वेद के ऋषि ने दी है-ध्यान में रखना, अनेक प्रकार के विचार आएंगे। अनेक प्रकार के मत आएंगें, झगड़ा मत करना। अंततोगत्वा ध्यान में रखना सबके कथन में सत्यता होती है। सबका मार्ग एक ही है। इसलिए कहता है, हमारा ऋषि, वैदिक ऋषि कहता है-'एकम् सत्य विप्रः।' सत्य तो एक ही है-'बहुधा वदंति।' कितना सुंदर है। एक ही मंत्र ने सारी विविधताओं पर विजय पा ली। मैं कहता हूं, एक ही मंत्र ने हमारे दरवाजे पर लिखकर लगा दिया, ऋग्वेद का ऋषि है। संस्कृति के ऊषा काल था। राष्ट्र का दर्शन विकसित हो रहा था। भारतीय ऋषि ने एक मंत्र दे दिया-'एकम् सत्य विप्रः।' आप अपना मंत्र रखिए, न! आपका मत भी सही हो सकता है। आपका मत अलग हो सकता है। एक ही विचार पर सौ मत हो सकते हैं। एक बात को लेकर हजार मत हो सकते हैं। सबका सम्मान करना सीखिए। झगड़ा मत करो। सारी विविधताओं में झगड़ा समाप्त करने का एक ही सूत्र ऋषि ने दे दिया। सारी विविधताओं में झगड़ा समाप्त करने का ऐसा ही मंत्र ऋग्वेद का ऋषि है। समन्वय का, सामंजस्य का, सारे विरोधों को समाप्त करने का। वह ऋग्वेद का ऋषि है। हम कहते हैं, जितनी श्रद्धा उनके प्रति हो सकती है, वह कम है। ऐसा महामंत्र देता है, समन्वय का, सामंजस्य का, सारे विरोधों का समाप्त करने का। वह ऋग्वेद का ऋषि है, दसियों-बीसीयों हजार वर्ष पहले कहता है कि वह परम सत्य एक है। 'बहुधा वदंति।' अर्थात् उसका आंगन कितना बड़ा है। 'बहुधा वदंति' कहते ही अत्यंत विस्तीर्ण प्रांगण हो गया उसका। बैठो आपका भी मत ठीक है। अपने मत के धुर विरोधी व्यक्ति को अपने आंगन में बैठाकर सम्मानित करने की शिक्षा उस ऋग्वेद के ऋषि ने दी है। यह है, राष्ट्र का दर्शन।

ऐसे लोग जरूर निकलेगें, जो कितना भी समझाने के बाद, वह मना कर देगें कि वह इस बात को नहीं मानते। कोई दिक्कत नहीं। वह स्वतंत्र हैं। वैदिक ऋषियों को ध्यान में था कि ऐसा हो सकता है। उन्होंने दूसरा दर्शन और दे दिया। इस धरती के प्रति पवित्रता का भाव। इस धरती के प्रति दैवीय भाव। धरती के प्रति पूज्य भाव। उन्होंने उत्पन्न किया और कहा कि 'सुपोत्रो अहम् पृथ्व्याह।' कितना गंभीर सूत्र देते हैं वह। जब हम कहते हैं कि धरती पर हम मर जाते हैं। यह धरती हमको अपने अंदर समा लेती है। हजारों पीढ़ियों से यह हमारी संतति का पालन-पोषण कर रही है। यह साक्षात मां है। इसका दूसरा दर्शन-पुत्रों अहम पृथ्व्याह।' पुत्र होने की दीक्षा। हम राष्ट्र के पुत्र हैं, सारी धरती का बेटा हूं। मैं दिल्ली का बेटा हूं। ऐसा नहीं कहता। सारी धरती का बेटा हूं। मैं मथुरा में जन्म लेने वाला सिर्फ मथुरा का नहीं हूं। कितना गंभीर सूत्र देते हैं कि हम पुत्र हैं। यह दृष्टि ही बदल गई। पृथ्वी का प्रत्येक अवयव हमको पवित्र लगने लगा। हर-एक वस्तु पवित्र लगने लगी। इस धरती का सरोवर है, इस धरती के जीव-जंतु हैं, धरती का

मनुष्य है। हमको लगता है, सब पवित्र हैं। हमको लगता है-सारी वसुधा एक कुटुंब है। धरती मां है। यह दर्शन आध्यात्मिक था। इस आध्यात्मिक दर्शन ने फिर, दृष्टि बदल दी और हम देखिए, धरती हमारे लोगों ने कोई शिखर देखा, वहीं उस स्थान को पूज्य बना दिया। किसी नदी का किनारा देखा, वह पवित्र हो गया। जो जंगल देखा, वहीं पर एक आश्रम स्थापित हो गया। हर-एक वृक्ष पवित्र हो गया। हर जीव पवित्र हो गया। अर्थात् धरती मां का ही है न! इसने दृष्टि बदल दी। भाव बदल दिया। यह बुद्धि से निकला सूत्र नहीं था। यह गहराई से सोचने का सूत्र था। यह आदमी चढ़ता-चढ़ता सारनाथ जाता है, बदरीनाथ जाता है। सारी धरती को वह ऐसा मानता है कि मां है। उठते ही उसका स्पर्श कर माथे पर लगाता है। किसान हल जोतने जाता है, तो माथे से लगाता है। हम भवन बनाते हैं, धरती की पूजा करते है। धरती पूज्य है। कुछ वर्ष पूर्व भारत की टीम चाइना गई थी। टीम पूरी खड़ी की और सारी टीम ने उस धरती को प्रणाम किया। सिर से लगा लिया। चाइना की भूमि थी। वह वैदिक ऋषि बोलकर गया, आज हमारा खिलाड़ी खेलने जाता है, तो एशियन गेम्स या ओलंपिक में तो धरती को माथे से लगा लेता है। वह धरती में भेद नहीं है। सारी धरती के प्रति यह भाव जगा तो गहराई तक बैठता चला गया। इसने दर्शन बदल दिया। सारे भेदों में से अभेद की सृष्टि छोटे-से मंत्र में कर दी। क्योंकि पुत्र होने की दीक्षा बहुत गहरी थी। इसमें मंत्र कितना गहरा चला गया। उदाहरण देते समय हमारे सामने हजारों उदाहरण आएंगें।

जोधपुर में राजा ने अपनी सेना को कहा कि जाओ जंगल काटकर लकड़ी ले आओ। महल बनेगा। तब एक अमृता देवी नाम की महिला ने कहा कि जंगल नहीं कटेगा। वृक्ष में हमारा भगवान है। इसको मत काटिए। क्यों काटेंगें? लोग नहीं माने। आपको आश्चर्य होगा, 363 लोग मारे गए। क्योंकि जहां कोई पेड़ कटता लोग पेड़ से चिपक जाते थे। यह ढाई सौ वर्ष पुरानी कहानी है। शताब्दी पुरानी है। सेना के लोग कुल्हाड़ी चलाते थे, लोग पेड़ से आकर चिपक जाते थे। यह भौतिक दर्शन नहीं था। यह विद्वानों ने दी गई कोई फिलॉसफी नहीं थी। कुछ नहीं थी। यह गहराई से बैठा हुआ दर्शन था। ये भाव बहुत गहरा बैठा। एक-एक वस्तु के प्रति लोगों की श्रद्धा इतनी गहरी होती चली गई कि कहना कठिन है। भूमि पर तीर्थ स्थलों का विकास होता गया। द्वादश ज्योर्तिलिंगों का विकास हुआ। चारों धाम का विकास हुआ। हम देखते हैं सारी धरती पवित्र हो गई। हम देखते है, जो दर्शन था इस धरती पर वह प्रकट होता चला गया। लोगों के हृदय में गहराई से बैठ गया। यह पूरी भूमि जिसको हम भारतभूमि कहते हैं, दर्शन से आप्लावित हो जाए। यह दर्शन यहां के समाज के मन में गहरा बैठ जाए। और हम देखते हैं न कि जो तमिलनाडु का व्यक्ति है, कहां जाता है? केदारनाथ जाता है। 'जय केदार', 'जय केदार' इतना ही उसकी भाषा का पूरा शब्द का समझ आता है, बाकी कुछ शब्द समझ नहीं आता। वह केरल के लोग हैं, वैष्णव होने के कारण बदरीनाथ जाते हैं। कुछ समझ नहीं आता कि क्या बोलते हैं। उनकी भाषा मलयालम है। लाखों-करोड़ों लोग कुंभ में गंगा स्नान के लिए आ जाते हैं। कौन सा दर्शन है? यह धरती पवित्र है। इस धरती पर बहने वाला हर नदी प्रत्येक नदी का किनारा पवित्र है। राष्ट्र का दर्शन इतना गहरा बैठा, इसलिए

उसको हम कहते हैं कि सांस्कृतिक भाव बहुत गहरा है। और सारे देश भर में धीरे-धीरे फैलता चला गया। राज्य अलग-अलग थे, यह सच बात है, लेकिन दर्शन एक ही था। सारे देश में मकर संक्राति कैसे होती है? सारे देश में रक्षा बंधन कैसे होता है। सारे देश में जन्माष्टमी मनाई जाती है? दीपावली, दुर्गापूजा सारे देश में कैसे चली गई? संस्कृति के मंत्र सारे देश में कैसे चले गए? भागवत, रामायण, उपनिषद सारे देश में कैसे चले गए? भाषाओं की विभिन्नता होते हुए भी सारे देश ने इसको गहराई से समझा क्यों? इस राष्ट्र को दूर-दूर तक पहुंचाना है। और आज से हजारों साल पहले संस्कृति की वह एक भाषा हो सकती थी। जो सारे देश में जाती थी। स्थानीय लोग अपनी-अपनी भाषा में उसका भाष्य निर्मित करते थे।

हम कल्पना करें कि उस वैदिक ऋषि की जो बोलता है-'यस्य माहि हिमवंतु, यस्य समुद्रं रसिया सहाय।' वह वैदिक ऋषि है, वह कहता है-उत्तर में इतना सुंदर हिमालय है और दक्षिण में इतना सुंदर समुद्र है। ये कौन-से देश की व्याख्या कर रहा है। 'यस्य मेहिमवंतो स्थिता'-वह हिमवान है। 'यस्य समुद्रं रसयासहा', वह रस से भरा समुद्र है। ये कौन सा देश है। कल्पना करिए, वैदिक ऋषि की। वाल्मिकी वही चर्चा करते हैं। वाल्मिकी ने पूरे देश का भ्रमण करवा दिया। जब उन्होंने कहा कि रघुवंश के लोग, राम कहां से निकलकर कहां जाते हैं? वाल्मिकी ने, व्यास ने, पाणिनी ने क्या किया? पाणिनी ने जो अष्टाध्यायी लिखा, उसमें देश के सैकड़ों शहरों का वर्णन कर दिया। वह व्याकरण समझा रहे हैं। कालिदास ने लिखा। कालिदास का अब देखिए न! उन्होंने भी वही किया। सारे देश का वर्णन उन्होंने अपने भिन्न-भिन्न नाटकों में किया है। रघुवंश में करेंगे, मेघदूतम में करेंगे, सारे देश का वर्णन करेंगें। मैं आपको विश्वास दिलाता हूं, वैदिक ऋषियों से लेकर तमिलनाडु के सुब्रहण्यम भारती तक कोई भी ऐसा प्रसिद्धि पाने वाला लेखक नहीं हुआ, जिसने पूरे भारत भूमि का वर्णन न किया हो। पूरी भारत भूमि का वर्णन करते हैं। देखिए, असम के हमारे शंकर देव हैं। शंकर देव असम में जन्मते हैं और कोटि-कोटि जन्मों के फलीभूत होते हैं, तो भारत में जन्म मिलता है। भारत की बात करते हैं। असम की बात नहीं करते हैं। नानक हिंदुस्तान की बात करते हैं, नानक पंजाब की बात नहीं करते हैं। चैतन्य भारत की बात करते हैं। बंगाल की नहीं की। अर्थात् संपूर्ण भारत के बारे में वर्णन करना एक भद्र दृष्टि है। भद्र दर्शन उत्पन्न हो रहा है। हम सारे विश्व से अलग नहीं कर रहे हैं। लेकिन, भद्र इच्छाओं वाले इस भूमि को तो बचाकर रखना है। दर्शन एक है। क्या यूरोप में कोई भी एक व्यक्ति ऐसा खड़ा हुआ, जो यूरोप का सुंदर वर्णन करता हो। यूरोप के शहरों का वर्णन करता हो? महिमामंडित करता कुछ पुण्य जगाता हो? तो शायद, यूरोप एक होने की ओर आगे बढ़ता। एक होने के लिए कोई विकास, कोई चिंतन नही किया, कोई दर्शन नहीं दिया। हमारा देश इसलिए एक नहीं है कि राज्य एक हो गया। इसके पीछे की कामना अलग है। हम अपने देश की बात करते हैं। पर देश की बात भी सारी दुनिया के हित के साथ करते हैं। यह दूसरी महत्वपूर्ण बात है। सारे दुनिया का अहित हो हमारा भला हो, यह नहीं है। दुनिया का कुछ भी हो हमारा भला हो, यह नहीं है। राष्ट्र के दर्शन में एक मौलिक बात छिपी है। और इसलिए चाणक्य जो

है, आज से सवा दो हजार वर्ष पहले चाणक्य, मगध का मंत्री है। जब अपना अर्थशास्त्र लिखता है, लिखता है-'पृथ्व्याहः लाभ पालनो पायः शास्त्रम् अर्थशास्त्रम् इति।' आज दुनिया का कोई अर्थशास्त्री ऐसा नहीं लिख सकता। ऐसे हम लोग विकसित हुए हैं। ये हमारा विकास है। प्रोगेसिव है। हम पीछे हटे। हम मानवता से पीछे हट गए। अब हम कल्पना करें, बाकी लोगों से।

ये क्या करते हैं, फ्रांस के और ब्रिटेन के दो अफीम वार के बारे में जानते हैं। चाइना के लोग अफीम पीएं, अफीम खरीदे, उसकी आमदनी से हम अपने महल, अपने घर बनवाएं। हम ऐशो-आराम करें। उपभोग करें। वहां का राजा गिड़गिड़ाकर मना करता था कि अफीम मत बेचिए। राजा को गुलाम बनाकर लाया गया। संधि पर हस्ताक्षर हुए-हम अफीम बेचेंगे। अफीम बेचिए। चाइना पूरा अफीम में डूब गया। उनको पैसा मिला। ये भद्र दृष्टि नहीं है। हमारे भी लोग चाइना में गए। सैकड़ों लोग मारे गए। लेकिन, जो बौद्ध भिक्षु गए थे, उन्होंने चाइना में एक दर्शन दिया-शांति का, अहिंसा का, प्रेम का, त्याग का, ममता का-दर्शन। यहां के बौद्ध भिक्षुओं ने यह दिया और उन्होंने अफीम की बिक्री करके धन कमाया।

अभी थोड़े दिन पहले मैंने एक समाचार पत्र में लेख पढ़ा था। टोरंटो नाम का समुद्री टापू है। हमारा नेवी का एक समुद्री जहाज वहां आ रहा था। टोरंटो में उसका स्वागत हुआ। अब नेवी के जो ऑफिसर्स थे, सबको लगा कि टोरंटो में क्यों स्वागत हो रहा है। पूरे शहर के लोग प्रसन्न हो गए। और भारतीय लोगों को लेकर गए। उन्हें लंच और डिनर करवाया। खरीदने के लिए सामान, आज आप फ्री में जो चाहे सो खरीदिए। भारत के लोग बड़े परेशान कि ऐसा कैसे हो रहा है? अंत में उनको फेयरवेल लिए अंतिम भाषण के लिए एक हॉल में सब लोग जमा हुए, बुलाया था। भारत के सभी सैनिक, ऑफिसर्स, नगर के लोग भी आ गए थे। फिर, नगर के लोगों ने कहा कि आप लोगों को आश्चर्य हो रहा होगा। हम आपका स्वागत क्यों कर रहे हैं? आपको लंच-डिनर खिला रहे हैं। आपके लिए बाजार फ्री कर दिया है। बिल पेमेंट मत करिए। आपको आश्चर्य हो रहा है न! हां! हमको आश्चर्य हो रहा है। कारण इसका इतिहास में है। क्या कारण है? द्वितीय विश्वयुद्ध के समय भारत की सेना यहां पर थी। और उस युद्ध में सेना के साथ ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, ऑस्ट्रेलिया, कनाडा की सेनाएं भी यहां थीं। आश्चर्य की बात थी कि केवल भारत की सेना ने ही यहां की महिलाओं पर अत्याचार नहीं किया। बल्कि, उन्हें बचाया। बाकी सारे देशों के सैनिकों और अधिकारियों ने यहां की महिलाओं पर भीषण अत्याचार किए। आप लोगों की सेना ने कई-कई कंपनियों ने उस कॉलोनी में लोगों को घुसने नहीं दिया। यद्यपि, आप भी उसी सेना के हिस्सा थे। जो सेना थी उसमें थे। इसलिए भारतीय सैनिकों के बारे में पूरे टोरंटो में विशेष ख्याति हो गई। आपका महिलाओं के प्रति व्यवहार कैसा है? ये उस समय देखकर हमको आनंद भी हुआ और आश्चर्य भी हुआ। अब समय बीत गया है। उस घटना को बीस साल हो गए हैं। पर आप पहली बार यहां आए, हमने आपका स्वागत किया। यह राष्ट्र दर्शन का एक छोटा-सा हिस्सा है।

हम महिलाओं को दुनिया में कैसे देखते आ रहे हैं, जमाने से और वह कैसे देख रहे हैं, यह राष्ट्र दर्शन एक ऐसी व्याख्या है, ऐसी भद्र दृष्टि है, जो जीवन के हर कोने पर जाएगी। कोई भी कोना छोड़ेगी नहीं और पूरे देश में 558 रियासतें थीं, स्वतंत्रता के बाद और एक भी युद्ध लड़े बिना सारी-की-सारी रियासतें मिल गईं। कारण क्या था, राष्ट्र एक था। राज्य अलग-अलग थे। राष्ट्र एक होता है। राष्ट्र का दर्शन एक होता है। इसलिए राष्ट्रवाद नहीं हो सकता। 'इज्म' अलग-अलग हो सकते हैं। मां की सेवा करना और न करना इस पर द्वैत नहीं चाहिए। यह अद्वैत है। एक ही है। मां की सेवा करना है। एक ही प्रश्न है। नहीं करना, वह हो ही नहीं सकता। वह सिद्धांत नहीं हो सकता। और इसलिए राष्ट्रवाद नहीं हो सकता। इसलिए, राष्ट्र दर्शन होगा, राष्ट्र भाव होगा, नेशनलिज्म का अनुवाद किया और हम राष्ट्रवाद बोलने लगे। पर ऐसा नहीं है। इसलिए ऐतरेय ब्राम्हण में हमारा ऋषि लिखता है कि सैकड़ों प्रकार के राज्य हो सकते हैं। कहीं तानाशाही होगी, कहीं गणराज्य होंगे, कहीं स्वातंत्र्य होगा। भिन्न-भिन्न प्रकार के राज्यों की व्याख्या वह करता है। जो पॉलिटिकल साइंस के लोग हैं, वह आगे जाकर व्याख्या करेंगें। संस्कृत के शब्द हैं, आप ध्यान से सुनिए, वह कहता है-हम संपूर्ण पृथ्वी समुद्र पर्यंत एक राष्ट्र हैं। दो राष्ट्र नहीं हो सकते। एक ही राष्ट्र होता है। वह लिखता है-**'साम्राज्यं भोज्यं वैराज्यं पारमेष्ठं राज्यं महाराज्यं आधिपत्यं मयम समेत पर्यायी स्यात् सार्वभौमः सार्ववायु सहः अंततः प्राणाधार पृथ्वीहि समुद्र पर्यंत एक राष्ट्र इति।'**

और देखिए, ऐतरेय ब्राम्हण एक पुराना ग्रंथ है। हर वेद का एक ब्राम्हण ग्रंथ होता है। उसमें लिखता है-राज्यों की व्यवस्था कैसी होगी? भगवान जाने! बस! राजा होगा, वह राज्य चलाए अपना। कैसा राज्य होगा? तानाशाही हो जाएगी या और कोई सिस्टम होगा और नौ-दस प्रकार के राज्यों की उसने इसमें उल्लेख किया है। ऐसी स्थिति हो सकती है, राज्यों की। वह स्वराज्य होगा, साम्राज्य होगा, वैराज्य होगा, आधिपत्य राज्य होगा, महाराज्य होगा, लेकिन राष्ट्र एक ही होगा। ध्यान में रखना। राष्ट्र तत्व को अपने को गहराई से समझना है। इसलिए हमारा ऋषि कहता है-'वयम् राष्ट्रे जाग्रयाम पुरोहिताः।' हम मिलकर के इस राष्ट्र के दर्शन को जागृत रखें। राज्य जाने दो। सेना, प्रशासन, राजा वह अलग चीज है। राष्ट्र का तत्व, राष्ट्र का दर्शन, राष्ट्र का विचार, राष्ट्र का व्यवहार, यह जागृत रखना है। यजुर्वेद का ऋषि कहता है-'वयम् राष्ट्रे जाग्रयाम् पुरोहिताः।' हम सबलोग, जो भद्र लोग हैं, मिलकर राष्ट्र को जागृत रखें। राष्ट्र के मौलिक दर्शन को जागृत रखें। इसलिए राष्ट्र के मौलिक दर्शन को अपने को समझना अति आवश्यक है।

पश्चिम की अर्थात् यूरोप चाहे पश्चिम एशिया का, प्रकृति निष्ठुर थी। भूमि उनको कुछ अन्न-जल नहीं देती थी। कठिनाई का जीवन था। या तो बहुत ठंड थी, या बहुत गरमी थी। रेगिस्तान था, पठारी प्रदेश था। इसलिए और कोई अच्छी भूमि मिल गई तो उसे बचाकर, संभालकर रखना। लूटने वाले आएंगे। इसलिए दूसरी कोई जमीन अच्छी है तो उसको जाकर लूटना, उसको जाकर कब्जा करना। ये

निष्ठुर प्रकृति थी। वर्ष में दो-चार महीने मिलता था, जिसमें कुछ पैदा हो सकता था और इसलिए छोटे-छोटे समूह मिलकर, अपनी-अपनी जमीन की रक्षा करते थे। हजार, दो हजार लोग हो गए तो मिलकर लड़ना, मिलकर के सुरक्षा करना, आवश्यकता पड़ती है तो मिलकर भागना। पूरा का पूरा समाज लड़ाकू हो गया। पूरा का पूरा समाज इसलिए डिसिप्लीन्ड हो गया। पूरा का पूरा समाज मिलकर के काम करता था। लूटने में मन था, लूटने की इच्छा थी। क्योंकि, जीवन दूभर था। और प्राकृतिक संसाधन बहुत कम थे। उससे मूल प्रवृति बनी उनकी समूह या क्लान मिलकर रहता, मिलकर सुरक्षा करना, मिलकर के लड़ना, सबको लड़ना अनिवार्य हो गया था। इसलिए पॉलिटिकल एग्रेसिवनेस उसमें आई। उस परंपरा से उनके अंदर आई। वहां की जो भौगोलिक परिस्थितियां थी, वह ऐसी थीं। उससे इंटॉलरेंस आया। और उन्होंने जो नियम दिया, स्ट्रगल फॉर एग्जिस्टेंस सही बात है। सरवाइवल ऑफ दी फिटेस्ट यह ठीक बात है। उनकी परिस्थिति में वह यही सिद्धांत दे सकते थे। उनका जीवन संघर्ष में बीतता था। हमारे यहां ऐसा नहीं था। हमारे यहां प्रकति उदार थी। मैं असम में रहा हूं। वहां अभी भी व्यक्ति पूरी जमीन पर खेती नहीं करते। हजारों एकड़ भूमि ऐसे ही पड़ी रहती है। चाय बागान इसलिए बने थे कि कोई खेती करता ही नहीं था। आवश्यकता नहीं थी। दस-बीस बीघा जमीन एक परिवार के लिए पर्याप्त थी। बाकी हजारों एकड़ जमीन पड़ी थी। तीन लाख एकड़ जमीन पर चाय बागान अंग्रेजों ने लगाए। इसलिए, लगाए कि एक फसल लेते हैं। दूसरी फसल लेते ही नहीं है। इस देश को प्रकृति ने इतना दे दिया था, यहां की जलवायु ने इतना दे दिया था कि आवश्यकता से हजार गुणा अधिक था, उस समय। इसलिए आवश्यकता पूरी हो जाती थी। आवश्यकता पूरी हो जाने के बाद, दूसरे काम करता था, सोचता था, विचारता था। और उनके बारे में रवींद्रनाथ ठाकुर लिखते हैं कि वहां के लोगों का क्या हाल हुआ, वह किस प्रकार ऐसे हो गए और वहां की राजनीति ने इसको कैसे प्रभावित किया? रवींद्रनाथ ठाकुर कह रहे हैं कि संसाधन इतने कम है। कि पॉलिटीकल, कमर्शियल और इकॉनोमिक एग्रेसिवनेस आपके लोगों में आई। आगे वह लिखते हैं, सावधानी से अपनी सुरक्षा भी उन्हें करनी है और आक्रमण भी करना है।

उन दिनों आप संगठित रहते थे और लोगों को लूटते थे। और नए युग में क्या आया है? आज भी आप दुनिया भर का शोषण करने के लिए निकलते हैं। ये विश्व स्वास्थ्य संगठन है या बहुराष्ट्रीय कंपनियां है। ये सबका यही हाल है। ईस्ट इंडिया कंपनी का यही हाल था। दुनिया भर को उन्होंने मान लिया था कि वह दर्शन जो पैदा नहीं हो सका या भारत में ये दर्शन पैदा हुआ। उसके कुछ भौगोलिक कारण भी हैं। स्वभाव से अनुरूप जिस भौगोलिक परिस्थिति में रहते थे, लूटकर लाना था, पूरा का पूरा समाज सुरक्षा करता था। हमारे यहां जो वर्गीकरण हुआ समाज में, वह उस काम में एक्सपर्ट हो गया। बढ़ई के काम में, स्वर्णकार के काम में, पढ़ाने के काम में एक्सपर्ट हो गया। ये जूता बनाने में एक्सपर्ट हो गया। हल चलाने में एक्सपर्ट हो गया क्यों? डिविजन ऑफ लेबर के कारण। यह बहुत समय पहले से चला आ रहा था। सब काम करते थे। क्योंकि हमेशा संकट बना रहता था। हजारों साल तक ऐसा संकट बना रहा। इस

कारण ऐसी वृत्ति वहां पर आई। 'दिनकर' जी की एक छोटी-सी कविता है। जिसमें भारत राष्ट्र के बारे में वह बताते हैं। वह बोलते हैं कि भारत का इतिहास पॉलिटिकल नहीं है, कमर्शियल नहीं है, इकॉनोमिकल नहीं है। सोशल नहीं है। यह आध्यात्मिक है। इसकी एक विरासत है। इसकी एक जिम्मेदारी है। राष्ट्र दर्शन होने के कारण से वह लिखते हैं-

मानचित्र में जो मिलता है
नहीं देश भारत है,
भू पर नहीं,
मनों में कहीं शेष भारत है।

भारत एक स्वप्न भू को ऊपर ले जाने वाला, भारत एक विचार स्वर्ग को भू पर लाने वाला है। भारत एक विचार को जगाता है। भारत एक भू जिस पर जल का न दाग लगता है।

भारत संज्ञा विराग की। आत्मोदय है। भारत है, आभा! मनुष्य की सबसे बड़े विजय की। भारत है, भावना जग जीवन हर लेने की। भारत है, कल्पना! मनुज को राग मुक्त करने की। जहां एकता अखंडित है। जहां प्रेम का स्वर है। देश-देश में खड़ा, वहां भारत भास्वर है। भारत वहां, जहां जीवन साधना नहीं है भ्रम में। ब्रम्ह में धाराओं का संगम है। मिला हुआ, जहां काम माधुर्यपूर्ण हो। जहां भोग निष्काम हो। समरस हो, कामना। भारत को करो प्रणाम। वृथा मत लो भारत का नाम।

दीनदयाल उपाध्याय जी का यही मत था कि हमारा एक राष्ट्र दर्शन है। ये सनातन राष्ट्र दर्शन है। ये नेशन के कॉन्सेप्ट से बहुत भिन्न है। यह आध्यात्मिक है। हमारे राष्ट्र की आध्यात्मिक है। यह विभाजनकारी नहीं है। यह सामंजस्यकारी है। शत्रुता और संघर्ष नहीं है। सारे मनुष्य सब लोग सहकारी हो जाएं। यह कामना भारत के राष्ट्र दर्शन की है।

अंत में बोलकर, अपनी वाणी को विराम दूंगा। दीनदयाल जी का एक वाक्य है-भारत की अपनी एक प्रकृति है। उसकी एक आत्मा है। उस आत्मा के साक्षात्कार का प्रयत्न यही हमारा साध्य होना चाहिए। इसी के द्वारा हम अपनी समस्याओं का समाधान कर सकेगें। अपने देश की समृद्धि तथा जनहित के सुख की भी व्याख्या कर सकेंगें तथा मानव की प्रगति में अपना कुछ योगदान भी दे सकेंगें। इस ध्येय के सहारे ही राष्ट्र के जन-जन में प्रबल पुरुषार्थ, कामना और तपस्या का भाव पैदा कर सकेंगें। इसी स्थिति में उन्हें कार्य की प्रेरणा मिलेगी तथा उसकी आराधना में उनके जीवन का विकास होगा। इसी से उनकी आत्मा को सुर मिलेगा। इसी से भारत की आत्मा प्रसन्न होगी। हमारे पूर्वज भी इसी से प्रसन्न होंगें। उन्हीं में इसकी तृप्ति है।

❖❖❖

पं. दीनदयाल उपाध्याय जन्मशताब्दी व्याख्यानमाला के संदर्भ में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली में व्याख्यानः 16 नवंबर 2016

शाश्वत दर्शनः एकात्म मानवदर्शन

– श्री वी. भागय्या, सहसरकार्यवाह, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

श्री दीनदयाल उपाध्याय और नानाजी दोनों ऋषि परंपरा के वाहक हैं। प्राचीन ऋषियों की परंपरा और परिस्थितियां मनुष्य के जीवन को सुखी और आरामदायक जीवन की तरफ लेकर जाती हैं। उन्होंने इस उद्देश्य का अनुभव किया और प्रचार प्रसार किया। सत्य एक ही है। ये शाश्वत और कभी न मिटने वाला है। उन्होंने समझा, अनुभव किया और इसके बारे में मानव-जीवन में इसका उल्लेख किया। उन्होंने न केवल भारत के लिए बल्कि संपूर्ण मानव-समाज और निर्माण के लिए इसकी जरूरत होने की बात कही। श्री दीनदयाल जी और श्री नानाजी देशमुख को श्रीगुरुजी ने मार्गदर्शन दिया था। परंपराओं, वेदों और उपनिषदों ने श्रीगुरुजी को जीवन जीने का रास्ता दिखाया। सृष्टि और मानवजीवन अनंत हैं, मानव जीवन निरंतर सृष्टि के आरंभ से निरंतर है। हमें कैसे इस जीवन को प्रसन्नतापूर्वक जीना चाहिए?

श्री दीनदयाल ने 1964 में विजयवाड़ा में इस प्रश्न का उत्तर एकात्म मानववाद की अपनी अवधारणा से दिया। जो पूरे मानवसमाज को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में एक स्थायी दिशा की तरफ लेकर जाता है। उदाहरण के लिए आज यह धारणा है कि कोई व्यक्ति जो अंग्रेजी नहीं जानता न वह वैज्ञानिक बन सकता है न ही वह बुद्धिजीवी बन सकता है। जबकि यह धारणा पूरी तरह

गलत है। दूसरी और भाषाओं की तरह अंग्रेजी भी एक महान भाषा है। विश्व के कुछ प्रख्यात वैज्ञानिक अंग्रेजी भाषा को बोलने के पक्षधर नहीं थे। अंग्रेजी वैज्ञानिक इस्राइली, फ्रेंच और जर्मन वैज्ञानिकों के बाद ही आते थे। भाषा किसी की प्रतिष्ठा में वृद्धि नहीं करती। कहा जाता था कि न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण शक्ति के नियम का अविष्कार किया था। क्या इसका अर्थ यह मान लिया जाए कि गुरुत्वाकर्षण शक्ति कभी पहले अस्तित्व में ही नहीं थी? बोधायन पहले ही गुरुत्वाकर्षण शक्ति का व्याख्यान कर चुके थे। न्यूटन और बोधायन दोनों ही गुरुत्वाकर्षण शक्ति को प्रकाश में भले ही लाए होंगे, लेकिन यह तो शाश्वत है।

भारत में काफी लंबे समय से लोकतंत्र रहा हैं। हर्षवर्धन ने लोकतंत्र के सिद्धांतों के आधार पर ही हमारे देश पर शासन किया है। हममें से अधिकतर लोग, पूंजीवाद, समाजवाद आदि की अवधारणा को आसानी से समझ लेते हैं। 1000 वर्षों से भी ज्यादा समय से सार्वभौमिक शांति और वैश्विक एकता को स्थापित करने के लिए प्रयास किए गए, लेकिन हमें मिला वैश्विक आतंकवाद। हम सभी अच्छा पर्यावरण और जलवायु चाहते हैं, लेकिन इसके बजाए हमें मिली ग्लोबल वार्मिंग। हम आर्थिक आजादी और आराम की बजाए वैश्विक मंदी पाते हैं। विश्व के अधिकतर देश दूसरे देशों पर कब्जा करने की कोशिश कर रहे हैं। अधिकतर बुद्धिजीवी इस विषयों पर विचार कर रहे हैं।

हमें विश्व शांति कैसे प्राप्त करनी चाहिए? सभी मनुष्यों को शांति और सद्भाव के साथ रहना चाहिए। वर्ष 1964 में जब दीनदयाल उपाध्याय जी का न कोई नाम था न ही प्रसिद्धि, तब उन्होंने एक नई अवधारणा को प्रस्तावित किया कि क्या सत्य है और क्या असत्य है। क्या स्थायी है और क्या असंगत है। यह एक वैश्विक विचार है जो हर एक व्यक्ति पर लागू होता है, बावजूद इसके कि वह अल्पसंख्यक है या बहुसंख्यक है। प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक आत्मा (चित्ति) होती है और यह शुरुआत से ही नैसर्गिक रूप से उपस्थित रहती है। इसे किसी सुनियोजित प्रयास और राजनीतिक प्रक्रिया से प्राप्त नहीं किया जाता है। इसलिए हमारे राष्ट्र की भी एक आत्मा है, जो इसकी शुरुआत से ही है। राम और रावण के बीच जब युद्ध हुआ। विभीषण रावण को त्याग कर प्रभु श्री राम के साथ हो लिए। फिर भी किसी ने विभीषण को भाई से द्रोह करने वाला, दलबदलू और गद्दार नहीं कहा। इस तरह जब भगवान श्री कृष्ण ने अपने ही मामा कंस का वध किया, तो किसी ने भी उन्हें दोषारोपित नहीं किया। हम महाभारत को एक राजनीतिक युद्ध की तरह नहीं देखते हैं। हम इसे धर्म और अधर्म के बीच हुए युद्ध की तरह देखते हैं। एक सामान्य व्यक्ति भी यह मानता है कि इस युद्ध में धर्म की विजय हुई। इसका अर्थ यह नहीं कि सभी सामान्य व्यक्ति अनभिज्ञ या अज्ञानी हैं। उसी तरह सभी पढ़े-लिखे ज्ञानी नहीं होते हैं। क्योंकि धर्मराज, धर्म के साथ खड़े रहे इसलिए आज भी हम उनका अभिनंदन करते हैं। जैसे दुर्योधन ने धर्म का विरोध किया इसलिए हम आज भी उसे बुरा मानते हैं। यही हमारे राष्ट्र की आत्मा है।

आपने डॉ फ्रिटजोफ कापरा द्वारा लिखित 'द ताओ ऑफ फिजिक्स', रेनबेयर पामेला पारटूगल द्वारा

लिखित 'प्लेस फॉर हयूमन बींग्स', रिजर्ड बाख द्वारा लिखित 'नथिंग बाइ चांस' किताबें पढ़ी होंगी। आपमें से कुछ लोग सापेक्षता के सिद्धांत और क्वांटम यांत्रिकी (यह एक वैज्ञानिक सिद्धांत है, जो अणु, परमाणु और दूसरे तत्वों के व्यवहार के कारण बनने वाले ब्रह्मांड की व्याख्या करता है) की किताबों से भी परिचित होंगे। हालांकि फ्रिटजोफ कापरा के अनुसार 17वीं शताब्दी से पहले आईक्यू को ही महान बताने का प्रचार किया जाता था, लेकिन 100 वर्षों बाद इसको स्वीकार किया गया कि ईक्यू (भावनात्मक बुद्धिमत्ता) भी उतनी महत्वपूर्ण होती है जितना की आईक्यू (बौद्धिक स्तर)। उस समय आईक्यू (बौद्धिक स्तर) को आंतरिक भावना और ज्ञान से उच्च माना जाता था। 19वीं शताब्दी तक यह मान लिया गया कि एसक्यू (आध्यात्मिक बुद्धिमता) भी उतनी ही महत्वपूर्ण है, जितना की ईक्यू (भावनात्मक बुद्धिमत्ता) और आईक्यू (बौद्धिक स्तर)। अब पूरा विश्व इस बात पर सहमत हो रहा है एसक्यू (आध्यात्मिक बुद्धिमता) ईक्यू (भावनात्मक बुद्धिमत्ता) और आईक्यू (बौद्धिक स्तर) से ज्यादा महत्वपूर्ण है। इन विचारों को क्वाटंम यांत्रिकी से समर्थन भी मिल रहा है। इसको स्वीकार करने के बाद संपूर्ण विश्व प्राचीन भारतीय परंपरा पर आधारित ज्ञान और विज्ञान की प्रशंसा करने लगा है।

पाश्चात्य दर्शन के अनुसार व्यक्तिगत समाज, राष्ट्र, विश्व ब्रह्मांड अलग-अलग तत्व हैं। भारतीय परिप्रेक्ष्य इससे इतर है। हमारे लिए, परिवार, समाज, राष्ट्र, प्रकृति, विश्व और ब्रह्मांड और परमेष्ठी व्यक्ति के केंद्रीय बिंदु के इर्द-गिर्द घूमते हैं। यह किसी व्यक्ति के विस्तारित रूप हैं, अलग अलग चरणों और स्तर पर। हमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता के साथ-साथ सामाजिक नियंत्रण और अनुशासन की आवश्यकता होती है। इस बिंदु पर श्री दीनदयाल जी ने जोर दिया है। अत्यधिक व्यक्तिगत स्वतंत्रता अराजकता की तरफ ले जाती है। हमें प्रतियोगिता के लिए प्रेरणा की आवश्यकता होती है। उसी समय पर समाज के अंदर निष्पक्षता को खत्म नहीं करना चाहिए। व्यक्तिगत विकास और सामाजिक न्याय एक साथ होने चाहिए। वर्तमान समाज में हमें सामाजिक न्याय नहीं मिलता है। केवल कुछ ही लोगों को उनके विशाल बहुमत के आधार पर फायदा हो रहा है। इस तरह की स्थिति के लिए जिम्मेदार सभी व्यक्ति निश्चित ही दंड के पात्र हैं।

वास्तविक जीवन में हमें बुनियादी एकता आंतरिक तौर पर मिलती है और विविधता बाह्य तौर पर। राष्ट्रवाद और अंतरराष्ट्रीयता के बीच कोई अंतर्निहित संघर्ष नहीं है। अलग-अलग पहचान सामाजिक एकता में बाधा नहीं होनी चाहिए। हमें एकता की जरूरत है, समरूपता की नहीं। हम तब भी मोक्ष और मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, जबकि हम किसी भगवान की पूजा न भी करें। यह भारतीयों का दर्शन (चिंतन) है। भले ही हम भगवान की पूजा न करें तो भी हम शांति को सत्कर्म और अच्छे कर्म के माध्यम से प्राप्त कर सकते हैं।

कानून का शासन होना चाहिए पर हमें किसी सरकार का गुलाम नहीं होना चाहिए। किसी भी सरकार को लोगों के अधीन होना चाहिए न कि इसके विपरीत। विकास का अर्थ यह नहीं कि आप कुछ गांवों को

उजाड़ कर कुछ महानगरों को विकसित कर दें। विकास के लिए सांस्कृतिक क्षय नहीं होना चाहिए। गांवों को रेगिस्तान में नहीं बदला जाना चाहिए। श्री दीनदयाल जी ने इस सभी मुद्दों पर बड़ी गहनता से चिंतन किया। उनके तत्वचिन्तन से तत्वदर्शन का उदय हुआ। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा मिलकर एक व्यक्ति का निर्माण करते हैं। वे अलग-अलग तत्व नहीं हैं। सभी पूर्ण रूप से एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। हमें हमेशा ऐसी चीजें करनी होंगी जो इन्हें आराम पहुंचाएं। एकात्म मानववाद केवल आर्थिक पहलुओं पर ध्यान केंद्रित नहीं करता है, बल्कि मनुष्य के सर्वांगीण विकास या व्यापक विकास का लक्ष्य रखता है।

एक बार रूस का एक कुत्ता और भारत का एक कुत्ता रूस की सीमाओं पर मिले। भारत के कुत्ते ने कहा "आप बहुत मजबूत और स्वस्थ हैं"। रूस के कुत्ते ने कहा "मैं बहुत मजबूत हूं लेकिन मुझे भौंकने का कोई अधिकार नहीं है"।

उसी तरह हर इंसान का सम्मान करना चाहिए और उसे प्रसन्न किया जाना चाहिए। वह बुद्धिमान होना चाहिए। शरीर, मन और बुद्धि के बीच समन्वय होने पर ही आत्मा (आत्म) संतुष्ट होगी।

जब भूख लगती है, तब हम खाना खाते हैं, यह प्राकृतिक है। हालांकि हम भूखे हैं, लेकिन यदि हम किसी को प्रताड़ित कर उसका भोजन छीन लेते हैं तो यह अप्राकृतिक है। यदि हम अपना भोजन दूसरों के साथ मिल-बांट कर खाते हैं, तो यह वास्तविक संस्कृति है। त्याग हमारी संस्कृति की आधारशिला है। लेने में नहीं बल्कि किसी को देने और बांटने में ही आनंद है। पर राजनीतिज्ञों ने हमें केवल लेना सिखाया। मनुष्य अकेले रहने वाला प्राणी नहीं है। यदि हम पश्चिम में देखे तो वहां जीवन व्यक्तिवादी है। व्यक्तिवाद स्वार्थ लालच और अहंकार की तरफ लेकर जाता है। यह व्यक्ति और परिवार के बीच द्वेष का कारण बनता है। परिवार टूट रहे हैं। इन सब कारणों से व्यक्ति अपने मन की शांति खो रहा है। भारतीय संस्कृति में कभी व्यक्तिवाद को महत्व नहीं दिया गया। हमारी संस्कृति संयुक्त और साझा करने वाली है। दुर्भाग्य से पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के चलते हमारे परिवार भी टूट रहे हैं। हमें विजयवाड़ा, गंतूर, काकीनाडा और दिल्ली में बहुत से तलाक के मामले देखने को मिल रहे हैं। जिन लोगों के इस तरह के मामले सामने आते हैं सभी उच्च शिक्षित हैं और लाखों रुपए कमाने वाले हैं। इस तरह के मामलों में परिवारों के टूटने का एक कारण व्यक्तिवाद है। परिवार का अर्थ केवल धनोपार्जन करना और किसी से संबंध रखना ही नहीं है, बल्कि यह परिवार के लोगों के बीच का भावनात्मक बंधन हैं।

जन्म के बाद जब तक बच्चे का नामकरण नहीं होता, तब तक उसका संबंध केवल माता-पिता से होता है, लेकिन जब नामकरण हो जाता है उसका संबंध दादा, परदादा, देवी-देवताओं, देश, समाज और इतिहास से जुड़ जाता है। परिवार, प्यार और स्नेह से उसका विकास करता है। जब व्यक्ति व्यस्क हो जाता है तो स्वयं को परिवार को समर्पित करता है। ऐसे परिवार और व्यक्ति के बीच कोई मतभेद नहीं होते, जो एक दूसरे के पूरक होते हैं। जिसकी वजह से आज भी हमारे यहां परिवारों की परंपरा जीवित है। हमारे समाज में आज भी व्यक्तिवाद या व्यक्ति महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि परिवार महत्वपूर्ण है। उसके बाद कुटुंब और गांव आते हैं। दुर्भाग्य से आज परिवार टूट रहे हैं।

प्राचीन काल से हमारे यहां विभिन्न व्यवसायों को समान महत्व दिया जाता था। ऋग्वेद में एक

श्लोक है, जिसमें सभी व्यवसायों को समान महत्व दिया जाता था। परिवार व्यक्ति और व्यवसाय का एक परस्पर आदर और सम्मान होता था। धर्म और परंपरा एक नहीं हैं न, ही वह समान हैं। अंग्रेजी का कोई भी शब्द धर्म के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। कभी-कभी पूजा पद्धति को धर्म का नाम दिया जाता है। यह धर्म ही है, जो हम सबको बांधे हुए है। अपनी इच्छा और आनंद के लिए कोई काम करना धर्म नहीं है। आज समाज में जो विघटन हो रहा है, उसका एक बड़ा कारण यह है कि व्यक्ति धर्म के अनुसार आचरण न करके अपनी मर्जी से अपने भौतिक सुख के लिए काम करते हैं।

हमें अपने धर्म के अनुसार अपने परिवार, अपने बुजुर्गों, समाज, प्रकृति और देश के लिए काम करना चाहिए। यदि आप यह कहते हैं कि मेरे धर्म का पालन करो, नहीं तो आप नर्क में जाओगे यह कहना सबसे बड़ा अधर्म है।

समाज के लिए काम करके एक शिक्षक, एक कर्मचारी, एक व्यवसायी कुछ धन अर्जित करते हैं। सम्मान से जीवन जीने के लिए समाज से उन्हें साधन मुहैया कराए जाते हैं। यदि हम धर्म के अनुसार आचरण करें, अपने जीवन को धर्मानुसार जियें तो न किसी तरह का संघर्ष होगा और न ही भ्रष्टाचार होगा। यह हमारा समाज है और हम बिना समाज के नहीं जी सकते। हम और समाज एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते, क्योंकि हम एक दूसरे के पूरक हैं। हम अपना तन ढकने के लिए कपड़े पहनते हैं और कपड़ा धागे से बनता है। यदि धागा अलग हो जाए तो कपड़ा नहीं होगा और हम अपना तन नहीं ढक पाएंगे। समाज और व्यक्ति के संदर्भ में इसे ऐसे समझा जा सकता है धागा व्यक्ति है और कपड़ा समाज है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। हमें समाज के रूप में एक साथ रहना चाहिए। यह जो सामाजिक संरचना है उसे एक ईश्वरीय शक्ति चला रही है।

हमारी प्राचीन ऋषि परंपरा के अनुसार सृष्टि एक ईश्वरीय शक्ति के अधीन है। एक स्वीकृत सत्य है। पदार्थ को रुपांतरैत किया जा सकता है, लेकिन पूरी तरह नष्ट नहीं किया जा सकता। सृष्टि में एक ही ईश्वरीय शक्ति है, एक ही दर्शन है और एक तत्व है। विविधता प्रकृति की सुंदरता है। भिन्न्ता प्रकृति की सुंदरता है। दिव्यता दुश्मनी नहीं हैं। विविधता का आनंद लें। अनेकता में एकता का अहसास और एकात्मदर्शन ही हिन्दुत्व है। विविधता को तब तक स्वीकार करें जब तक कि इससे मानवता और पर्यावरण को कोई नुकसान नहीं होता। विविधता में एकता का पता करना हमारी जिम्मेदारी है। अपने परिवार, गांव और राष्ट्र को प्रेम करना एकात्म मानववाद नहीं है। हमें अपने अंदर दिव्यता को समझने, महसूस करने के लिए एक दूसरे के साथ विचारों का आदान-प्रदान करना जरूरी है। यदि एक बार हम दिव्यता को जान लेंगे, तो हमारा दूसरों के साथ कभी मतभेद नहीं होगा और हम सद्भाव के साथ रह पाएंगे।

यह बिल्कुल गलत धारणा है कि प्रकृति सिर्फ मनुष्य के आराम और सुख के लिए है। यह बताया जाता है कि जो लोग अपने भौतिक सुख के लिए प्रकृति का ज्यादा से ज्यादा दोहन कर रहे हैं, वह बहुत बुद्धिमान हैं। इसका प्रभाव अब दिखाई दे रहा है। बिना सोचे समझे जो प्रकृति का शोषण हो रहा है उसके चलते जल, वायु और पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है। श्री दीनदयाल जी ने बहुत पहले ही कह दिया था कि

प्रकृति मनुष्य के आनंद के लिए नहीं है, बल्कि हम अपने अस्तित्व के लिए प्रकृति पर निर्भर हैं। हमें प्रकृति का शोषण नहीं करना चाहिए, बल्कि उसके साथ रहना चाहिए। प्रकृति हमें जीवन जीने अपनी जीविका कमाने का साधन मुहैया कराती है। इसलिए हमें अपने पर्यावरण की रक्षा करने की जरूरत है।

मैं एक प्रदर्शनी देखने वाशिंगटन गया था। मैंने वहां यह पंक्तियां पढ़ीं कि पृथ्वी जमीन का टुकड़ा नहीं है, बल्कि हमारी मां है। इसका पोषण करो, इसका पोषण करो। इसका शोषण मत करो। मैं फिर और अंदर गया और मैंने वहां दूसरी पंक्तियां पढ़ीं। वहां लिखा था कि पानी H2O से नहीं बना, यह आपके जीवन के लिए और अधिक जरूरी है। मैं और आगे बढ़ा तो मैंने और पंक्तियां पढ़ीं, वहां लिखा था पेड़ों को न काटें और प्रकृति का शोषण न करें। मुझे आश्चर्य हुआ कि यह भारत है या अमेरिका है। प्राचीन काल से हमारे गांवों में इस बात को लेकर जागरूकता रही है। दुर्भाग्य से आधुनिक शिक्षा पर्यावरण के प्रति जागरूकता फैलाने में लंबे समय से असफल रही है। केवल पिछले कुछ दशक से ही सतत विकास पर जोर दिया गया है। यदि प्रकृति का अंधाधुंध शोषण करेंगे तो प्रकृति सबको नष्ट कर देगी। प्रकृति सभी की जरूरतें तो पूरी कर सकती है, लेकिन अपनी जरूरतों को पूरा नहीं सकती। अपनी इच्छाओं को नियंत्रण में रखना मानवता का हिस्सा है। पूरी दुनिया हमारी संस्कृति और परंपरा को देख रही है। दुनिया हमारे योग और गीता की तरफ देख रही है।

दुर्भाग्य से अमेरिका से भी ज्यादा आज हमारे मूल्यों का पतन हो रहा है। हमारे जो मूल्य वह बहुत ऊंचे हैं, लेकिन उनका पालन बहुत कम किया जा रहा है। व्यक्ति, समाज और प्रकृति हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण है। सभी एक दूसरे से जुड़े हुए हैं और एक दूसरे पर आश्रित हैं और एक दूसरे का हिस्सा हैं। जबकि हमारा समाज और राष्ट्र इस अनंत ब्रह्मांड का हिस्सा है, तो हम कैसे उन्हें दुनिया से और ब्रह्मांड से अलग कर सकते हैं। यहां राष्ट्रवाद और अंतरराष्ट्रवाद के बीच कोई संघर्ष नहीं हैं। हमने कभी किसी प्रकार का शोषण नहीं किया। हम वसुधैव कुटुम्बकम् की बात करते हैं। मैं अमेरिका के फीनिक्स में ग्रांड कैनाल (एक नहर) को देखने गया। यह लगभग 50 किलोमीटर लंबी और 50 मीटर तक चौड़ी है। वहां तीन पहाड़ों के नाम ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर हैं। हजारों वर्षों से उनको इसी नाम से जाना जाता है। अतीत में विभिन्न जातियों के लोगों के बीच संबंध और सहयोग था। इसलिए वर्तमान में भी हमें सभी देशों के साथ सहयोग करना चाहिए। हमें अन्य जातियों और अन्य देशों से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए। हमें दूसरों से घृणा नहीं करनी चाहिए।

एकात्म मानववाद इस विषय में एक व्यापक दृष्टिकोण रखता है। इसके लिए हमें आलोचनाओं का सामना भी करना पड़ेगा। हमारे समाज को एकात्म मानववाद के आधार पर एकजुट होना चाहिए। हमें बिना जाति, मत-पंथ, भाषा आदि के भेदभावों को भूलकर एक साथ आना होगा, इसके बाद ही दूसरे देश हमारा सम्मान करेंगे। अर्थ और काम आवश्यक हैं, लेकिन उन्हें धर्म के अनुसार प्राप्त करना चाहिए। यही एकात्म मानववाद का सार है। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के बीच समन्वय होना चाहिए। यदि हमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करना है, तो हमें चार आश्रम, ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और संन्यास का पालन करना चाहिए। गृहस्थाश्रम का पालन करना भी जरूरी है। गृहस्थाश्रम में सात

संतानों की अवधारणा है। यह हैं–स्वयं की संतान, समाज, दिव्यांग लोग, पेड़ लगाना, तालाबों की खुदाई, मंदिरों में दान, संतों और बुद्धिमानों की मदद करना। हमारे ऋषि गृहस्थ हैं और गृहस्थ हमारे समाज के लिए आधार हैं।

हर व्यक्ति को उसकी क्षमता के अनुसार करने के लिए उपयुक्त कार्य मिलना चाहिए। उसे कठिन परिश्रम करना चाहिए और हमारी आर्थिक नीतियां कुछ लोगों के हाथों में नहीं जानी चाहिए। गांधी जी का कहना था कि हम बहुत सारे लोगों के माध्यम से उत्पादन चाहते हैं, लेकिन बहुत सारा उत्पाद नहीं चाहते, ताकि सबको कुछ न कुछ काम मिले। इस संदर्भ में यह बिल्कुल प्रासंगिक है। आर्थिक विकास की योजना बनाने के लिए हमें गांव को एक महत्वपूर्ण इकाई रखना होगा और कृषि को इस योजना का केंद्र रखना पड़ेगा। हम हर माह हजारों, लाखों कमाने वाले लोगों के बीच रहते हैं, यह अच्छी बात है। हाल ही में मैं तुमकुर में एक आंबेडकर बस्ती में गया। दस दिनों तक वहां के लोगों को एक बार भी पानी नहीं मिला। ऐसा नहीं होना चाहिए, यह अन्याय है और अधर्म है। आर्थिक योजनाएं गांवों और खेती-किसानी को ध्यान में रखकर बनानी चाहिए। दीनदयाल जी के सिद्धांत मानवतावादी थे। आजकल धन केवल कुछ लोगों के हाथ में ही है। कुछ लोग व्यापार में वर्चस्व रखे हुए हैं, तो कुछ राजनीति में। कुछ राजनीतिक दल टीवी और प्रिंट मीडिया के माध्यम से लोगों को भ्रमित कर रहे हैं, वे वास्तव में उन्हें मूर्ख बना रहे हैं। जिन आर्थिक नीतियों का अनुसरण किया जा रहा है, वह अन्यायपूर्ण और भ्रमित करने वाली हैं। यह एकात्म मानववाद की भावना के विपरीत है। इसलिए हम भारी नुकसान में हैं। आर्थिक नीतियां ऐसी होनी चाहिए, जो एक आम आदमी और उसकी मेहनत से न्याय करती हों। अगर इस तरह की आर्थिक नीतियां बनाई जाएं और लागू की जाएं तभी हम एकात्म मानववाद का सिद्धांत समझेंगे, जो आर्थिक प्रयासों में ईमानदारी, दृढ़ता और निश्चिंतता का मार्ग प्रशस्त करेगा।

एकात्म मानववाद का मूल दर्शन हमारे सांस्कृतिक लोकाचार में निहित है और हमारे लोगों की मानसिकता और प्रकृति के अनुरूप है। फिर हमें इसे अपनाने में झिझक क्यों? हमें दूसरों पर आंख मूंद कर विश्वास नहीं करना चाहिए। इस समय हमें हमारी आर्थिक नीतियों को अपनी ऐतिहासिक और भौगोलिक स्थिति के अनुसार बनाए जाने की जरूरत है। हमें एकात्म मानववाद के बारे में जागरूकता फैलाने के लिए प्रयास करना चाहिए। श्री दीनदयाल उपाध्याय जाति, लिंग, नस्ल, धर्म भाषा आदि के आधार पर भेदभाव के खिलाफ थे। भले ही वह शारीरिक रूप से आज हमारे बीच मौजूद नहीं हैं, लेकिन उनका दर्शन और उनके सिद्धांत समय की कसौटी पर खरे हैं। हम समाज में रहते हैं, तो ही हम समाज की सेवा करते हैं। कुछ दैवीय शक्तियां है, जो हम सभी का नेतृत्व कर रही हैं। हम केवल साधन हैं। मेरा विश्वास है कि 2025 से 2050 के बीच की परिस्थितियां एकात्म मानववाद के अनुरूप हो जाएंगी।

❖❖❖

पं. दीनदयाल उपाध्याय जन्मशताब्दी व्याख्यानमाला के संदर्भ में विजयवाड़ा, आंध्र प्रदेश, में व्याख्यान: 26 मार्च 2018

भू-सांस्कृतिक राष्ट्रवाद संदर्भः एकात्म मानवदर्शन

– डॉ. महेश चंद्र शर्मा

अध्यक्ष, एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान

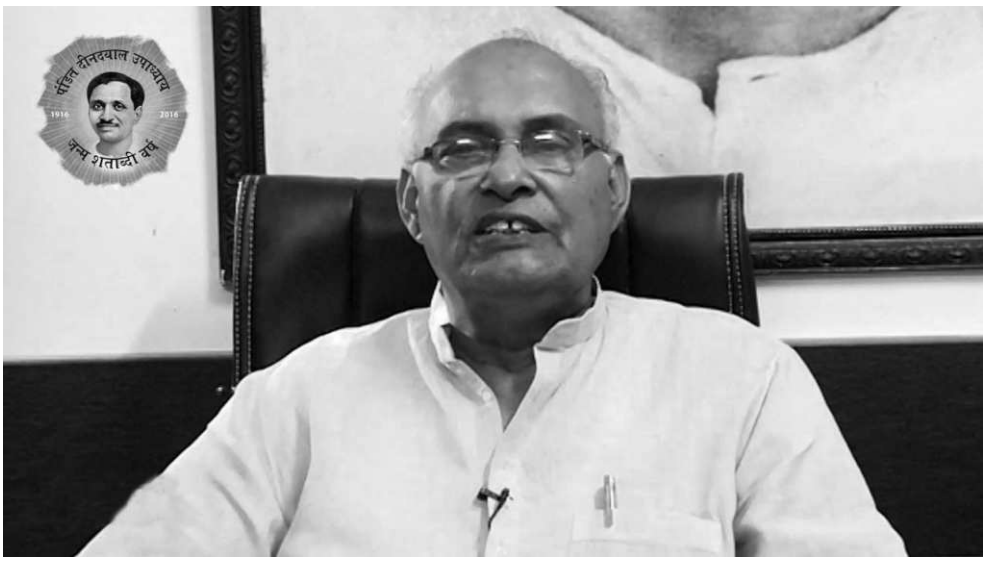

भू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का वर्तमान संदर्भ यह है कि देश और दुनिया में राष्ट्रवाद की चर्चा बहुत होती है। उसको राष्ट्र देश समाज सब के पर्यायवाची के रूप में बोला जाता है। पश्चिमी जगत में तो वहां राष्ट्रवाद एक बदनाम शब्द है। बदनामी जिस राष्ट्रवाद की है उसे वहां राष्ट्र राज्य वाद कहते हैं Nation stateism और जर्मनी में, इटली में जिस प्रकार का राष्ट्रवाद आया, वह Nazism Fascism Hitler-ism था। उसके कारण से वह राष्ट्रवाद बदनाम हो गया। भारत में हम इसका प्रयोग करते हैं वर्तमान संदर्भ में आज की मानवता के पास राष्ट्र की कोई परिभाषा नहीं है। संयुक्त राष्ट्र संघ या UNO संस्था को यह अधिकार है किसी भी संप्रभु राष्ट्र को मान्यता दे दे और वह जिसको मान्यता दे दे, वह राष्ट्र कहलाने लगता है। परिणाम तक आप पाएंगे कि पिछले कई दशकों से राष्ट्रों की संख्या बढ़ती-घटती रहती है, जब सोवियत संघ एक राष्ट्र था संख्या कम थी, अब 14 राष्ट्र हो गए तो संख्या बढ़ गई। यूगोस्लाविया एक राष्ट्र था तो संख्या कम थी, अब 8 राष्ट्र हो गए तो संख्या बढ़ गई। इंडोनेशिया एक राष्ट्र था तो संख्या कम थी, अब इससे East Timor अलग हो गया तो संख्या बढ़ गई, आप UNO

Charter पढ़ेंगे तो उसमें राष्ट्र की कोई परिभाषा नहीं है। यूएनओ के पास कोई मानक नहीं है, जिस मानक के आधार पर वह मान्यता दे, इसलिए राष्ट्र एक मजाक का विषय बन गया है। हम अपने देश में देखते हैं कि जब कोई व्यक्ति पैदा हुआ तो उसकी राष्ट्रीयता थी भारतीय, थोड़ा सा जवान हुआ तो राष्ट्रीयता हो गई पाकिस्तानी, थोड़ा सा प्रौढ़ हुआ तो राष्ट्रीयता हो गई बांग्लादेशी। एक ही व्यक्ति जहां पैदा हुआ वही, जो खाना खाता है, वही खाता है एक ही मां-बाप, जो भाषा बोलता था वही भाषा है, उसके जीवन में जो बातें थी वे भी वही है। हमने उस पर साइन बोर्ड टांग दिए कि आज भारतीय है, कल पाकिस्तानी है, परसों बांग्लादेशी है, तो क्या कोई एक व्यक्ति एक ही जीवन में इन 3-3 राष्ट्रीयता को भोग सकता है? क्या एक ही दशक में राष्ट्रों की संख्या घट-बढ़ सकती है? यह ऐसे हो सकता है कि आज की अवधारणा में राष्ट्र यह एक निर्मित इकाई है। राष्ट्र बनाया जाता है, राष्ट्र बिगाड़े जाते हैं, राष्ट्र मिटाए जाते हैं, यह कृत्रिम इकाई है। यह नैसर्गिक इकाई नहीं है, प्राकृतिक इकाई नहीं है, राष्ट्र के संदर्भ में उत्पन्न यह अराजकता आज मानवता के सामने यक्ष प्रश्न है। इस अराजकता को कौन दूर कर सकता है, कैसे दूर करें, इसमें हस्तक्षेप करता है एक संगठन, जिसका नाम है राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ।

परम पूज्य श्री गुरुजी और पंडित दीनदयाल उपाध्याय इस अनार्थिक स्टेट को इस अराजक स्थिति को दुरुस्त करने का प्रयास करते हैं। वे राष्ट्रवाद की परिभाषा करते हैं। राष्ट्रवाद क्या है? राष्ट्रवाद है भू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद। आज जो विश्व है, आज का विश्व पॉलिटिको टेरीटोरियल नेशनलिजम की बात करता है। वहां भू नहीं है, भू और टेरीटोरि में क्या फर्क है? भू प्राकृतिक होती है और टेरीटोरि कृत्रिम रुप से सीमाओं से बंधी। इस प्रकार आज मानवता ही विश्व शांति की प्यासी है। आज की मानवता युद्धों से ग्रस्त है। उसका कारण है पॉलिटिको टेरीटोरियल नेशनलिजम। यदि मानवता को सुख और शांति चाहिए और राष्ट्र की ठीक पहचान चाहिए तो वह है भू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद।

पॉलिटिकल साइंस में हमने राष्ट्र पढ़ा। उसमें राष्ट्र अंग्रेजी के नेशन शब्द का पर्यायवाची है। नेशन शब्द लैटिन Natio से बना है। उसके बाद पश्चिम में राष्ट्रवाद की परंपरा स्थापित हुई। ऐतिहासिक कारणों से जब यूरोप ने अपने सामंती राज्य खत्म कर दिए औद्योगिक क्रांति हो गई उसके बाद जो स्टेट उभरी, जो न सामंती है, न जो feudalistic है, न theocratic है। वह स्टेट क्या है? नई उभरती इस राज्य व्यवस्था को उन्हें कोई नाम देना था और उन्होंने नाम दिया its nation state यह राष्ट्र राज्य है। क्या राष्ट्र शब्द वास्तव में अंग्रेजी के नेशन का पर्याय है? भाषा विज्ञान में नेशन शब्द पहले आता है कि राष्ट्र शब्द पहले आता है? विश्व का इतिहास भाषा का विज्ञान हमें सूचित करता है कि नेशन बहुत नया शब्द है और राष्ट्र बहुत प्राचीन शब्द है। विश्व का प्रथम प्रलेख है, the first document of the world है ऋग्वेद, वेदों में राष्ट्र शब्द का एक बार नहीं अनेक बार जिक्र होता है, अब भारतीय वाङ्मय में राष्ट्र शब्द को पढ़ने के बाद यह सोचना पड़ता है कि जिस किसी ने नेशन के लिए राष्ट्र शब्द का प्रयोग किया क्या सही है? क्या भारतीय वांगमय में जिसको राष्ट्र कहता है या पश्चिम का नेशन वही

है? भारतीय वांगमय जिसको राष्ट्र कहता है उस तक यूरोप को पहुंचने में अभी बहुत समय लगेगा। अभी वह वहां नहीं पहुंचे हैं।

वेद कहता है, **'माता भूमिः, पुत्रो अहं पृथिव्याः'** यह राष्ट्र का बीज मंत्र है किसी को भी राष्ट्र बनना है किसी को भी राष्ट्र कहलाना है, तो उसके लिए जरूरी है कि उसके पास territory नहीं भूमि होनी चाहिए। Territory तो लूटपाट कर, खरीद कर बनाई जाती है, वह territory राष्ट्र नहीं होती। तो भू यह एक नैसर्गिक धरती का एक अंश है और उत्पन्न पर उत्पन्न लोग, मात्र लोग नहीं समाज हैं। समाज का मतलब हम समझते हैं, सोसाइटी होता है। शब्द है समाज, उसका अर्थ है सम्यक रुप से उत्पन्न होना। लोगों का वह स्वरूप जो सम्यक रूप से उत्पन्न हुआ है, वह समाज कहलाता है और वह समाज क्या होता है? वह समाज उस धरती का पुत्र होता है, उसकी संतान होता है।

इसलिए कहा, 'माता भूमिः, पुत्रो अहं पृथिव्याः' भूमियों से राष्ट्र नहीं बनते। उस पर समाज चाहिए। केवल लोगों से राष्ट्र नहीं बनते। उस भूमि के प्रति उसका जो रिश्ता है वह क्या है? भूमि के प्रति रिश्ते को परिभाषित करना ही राष्ट्रीयता को परिभाषित करना है। भूमि के प्रति समाज का जो रिश्ता है, उस रिश्ते से ही राष्ट्र की राष्ट्रीयता परिभाषित होती है और भारत के मनीषियों ने कहा, यह समाज जो है, उस भूमि का पुत्र है। भारत के वांगमय का वर्णन करने की यहां जरूरत नहीं. लेकिन जब वेद ने कहा, 'माता भूमिः, पुत्रो अहं पृथिव्याः' तो कौन सी माता कौन सी भूमि तो उसके जवाब में विष्णु पुराण में कहा-**'उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्। वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।।**

जो समुद्र के उत्तर में है, जो हिमालय के दक्षिण में है, उस भूमि का नाम भारत है, वहां जो लोग रहते हैं, लोग क्या हैं, संतति हैं, संतानें हैं, क्या नाम है उनका, भारती। यह देश भारत नाम का देश, उसमें भारत नाम का समाज, समाज के माता पुत्र का रिश्ता, इस को पहचानने वाली जो शब्दावली है, इसको व्यक्त करने वाली जो शब्दावली है, वह भू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद है। इस भू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को समझना जरुरी है।

जब द्वितीय महायुद्ध के बाद हमारे देश का बंटवारा हुआ, हम एशियावासी हैं, यह माना गया कि एशिया के लोग, पिछड़े लोग है, यह धर्म के नाम पर, मजहब के नाम पर लड़ते हैं। जातियों में बंटे हुए हैं। अंग्रेज ने कहा हम चले जाएंगे तो तुम राज भी नहीं कर पाओगे। उन्होंने ऐसा वर्णन किया भारत का, जिसमें माता पुत्र का सवाल नहीं, कहा गया-India is not a society, is not a culture, is not a nation, is multi-national, is multi lingual, ऐसे भारत का वर्णन किया गया और भारत बंटा, क्यों बंटा, तो कहा कि यह दो मजहब के लोग है, हिंदू जो कि यहां की राष्ट्रीयता थी, उसे मजहब कहा गया। मुसलमान जो कि मजहब था, यह साथ नहीं रह सकते इसलिए लड़ाई होगी, बंट गया, तो यह बात खत्म हो गई।

जिस द्वि-राष्ट्रवाद से 1947 में भारत जूझा था, उसी द्वि-राष्ट्रवाद से यूरोप के सभी देश जूझ रहे हैं।

आज वहां ऐसे लोग खड़े हो गए हैं, जो कहते हैं कि हम फ्रांस में पैदा हुए हैं, हम फ्रांसीसी हैं, पर हम फ्रेंच नहीं हैं, फ्रांसीसी का अर्थ है हम फ्रांस नेशन स्टेट के नागरिक हैं। फ्रेंच नहीं है, क्योंकि फ्रांस की भाषा, फ्रांस की संस्कृति, फ्रांस का इतिहास यह हमारा मुद्दा नहीं है हमारा मुद्दा है हमारा मज़हब। हमको फ्रांस के संविधान से बड़ी लगती है हमारी शरीयत। हमको फ्रेंच की बजाए मुसलमान पहचान पसंद है। इस कारण आज यूरोप के अनेक देश demographic चेंज पर रिसर्च कर रहे हैं। उनके पास फ्रेंच को, नॉर्वे को, जर्मन को राष्ट्रीयता व्यक्त करने की शब्दावली नहीं। इस कारण परेशान है और रिसर्च कर रहे हैं। मुझे ध्यान में आता है कि जिनके साथ मैंने दीनदयाल जी पर अपना PhD किया, डॉ इकबाल नारायण, वह विश्व के विख्यात राज शास्त्री थे। इनको एक प्रोजेक्ट सोवियत संघ ने दिया था, प्रोजेक्ट भारत में था, इतनी विविधताएं हैं इतनी बोलियां इतना रंग, इतनी वेशभूषाएं इतनी प्रकार की विविधताएं हैं, इतनी विविधता के बावजूद भारत एक क्यों है? सोवियत संघ में तो स्लाव संस्कृति के लोग है, हमारे यहां इतनी विविधता भी नहीं है, तो अभी हमारे यहां एकात्मता नहीं है। यदि सरकार हट जाए तो आज हम टूट जाएं। भारत एक क्यों है और सोवियत संघ क्यों नहीं एक हो सकता, इस पर अनुसंधान करने के लिए मेरे निदेशक डॉ. इकबाल नारायण जी को सोवियत संघ ने प्रोजेक्ट दिया, एक संयोग है कि प्रोजेक्ट पूरा होने के पहले सोवियत संघ टूट गया।

यूरोप के सामने, विश्व के सामने यह चुनौती है कि विश्व की अशांति का धारक बनी हुई राष्ट्र राज्य की अवधारणा मानवता के हित में है अथवा खिलाफ है? यदि आप अपनी राष्ट्रीयता को भू सांस्कृतिक रुप से व्यक्त करते हैं, अपनी चिति की पहचान करते हैं, अपने राष्ट्र का जागरण करते हैं, तो आप विश्वयुद्ध तक नहीं, विश्व शांति तक पहुंचेंगे। तब आप वहां पहुंचेंगे, जहां भारत का ऋषि पहुंचता है- 'अयं निजः परो वेति गणना लघु चेतसाम्, उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्'। यह वसुधा राष्ट्रीयताओं का कुटुंब है। यह स्पर्धी यह राष्ट्र राज्यों का डेरा नहीं, साम्राज्यवादियों का डेरा नहीं है, जब से पश्चिम में राष्ट्र राज्य आया, तो क्या पाया? राष्ट्र राज्य ने सबसे पहले विश्व को साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद दिया। विश्व को दो महायुद्ध दिए, जिसको आज Globalisation कहते हैं, वहां पर आपसी स्पर्धा में, गला काट स्पर्धा में, मानवता को त्रास दे रहे हैं। इस राष्ट्र राज्य की धारणा को विदा होना चाहिए, मानवता के सुख के लिए भू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को आना चाहिए। जब यह आएगा तो उसके परिणाम से मानवता सुखी हो पाएगी और इसको लाने का दायित्व, इस परिभाषा लाने का काम भारत ने किया है, तो इस परिभाषा को जीवन में उतारने का तो काम भी भारत को करना पड़ेगा। हमारे सामने बहुत बड़ी चुनौती है।

❖❖❖

पं. दीनदयाल उपाध्याय जन्मशताब्दी व्याख्यानमाला के संदर्भ में गुवाहटी, असम में व्याख्यानः 30 जुलाई, 2017

दीनदयाल जी का एकात्म अर्थचिन्तन

–डॉ. बजरंगलाल गुप्ता, प्रसिद्ध अर्थशास्त्री

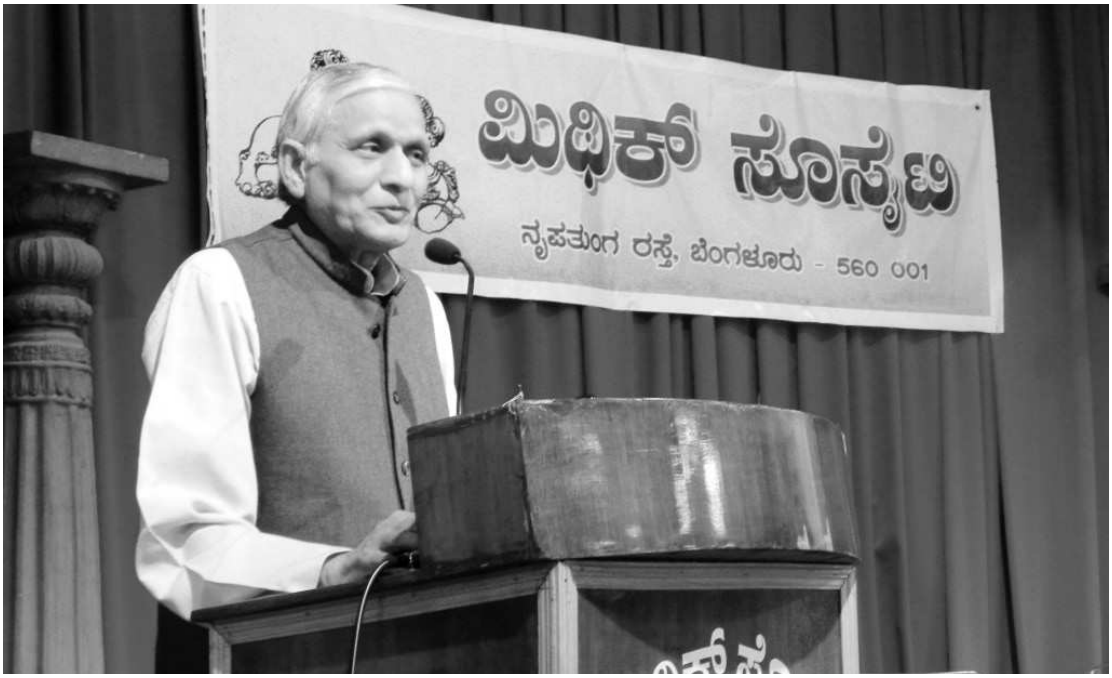

दीनदयाल जी वर्तमान तकनीकी एवं अकादमिक शब्दावली के संकीर्ण-सीमित अर्थों में अर्थशास्त्री तो नहीं थे, पर वे सचमुच अर्थवेत्ता थे, राष्ट्रोत्थान एवं समाज की सर्वांगीण प्रगति के आकांक्षी कर्मरत दृष्टा थे। उन्होंने आर्थिक परिदृश्य, सामाजिक-आर्थिक समस्याओं एवं उनके समाधान के बारे में जो विचार प्रकट किये, उसे अर्थचिंतन कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

मूलभूत मान्यताएं

ऐसा लगता है कि दीनदयाल जी का सम्पूर्ण अर्थचिंतन दो मूलभूत मान्यताओं पर आधारित था। एक, वे समाज व संसार के विभिन्न अवयवों-घटकों को अलग-थलग, पूर्णतया असम्बद्ध इकाइयों के रूप में स्वीकार नहीं करते थे। वे तो व्यष्टि, समष्टि, सृष्टि एवं परमेष्ठी के बीच संबंधों की अखंड मंडलाकार रचना के आधार पर विभिन्न इकाइयों के बीच सावयवी, परस्परपूरकता, परस्परानुकूलता, एकात्मता एवं संवेदनशीलता के सम्बन्ध मानते हैं। इसी बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था कि

"भारतीय संस्कृति सम्पूर्ण जीवन का, सम्पूर्ण सृष्टि का संकलित विचार करती है। उसका दृष्टिकोण एकात्मवादी है।" इस प्रकार वे टुकड़ों-टुकड़ों में खंडित विचार प्रक्रिया को ठीक नहीं मानते। दूसरे शब्दों में दीनदयाल जी समग्र-समन्वित एकात्म विश्वदृष्टि की मान्यता के आधार पर ही अपनी चिन्तन प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए दिखाई देते हैं। दीनदयाल जी की दूसरी महत्वपूर्ण मान्यता व्यक्ति के सम्बन्ध में है। उनके अनुसार-"पूंजीवादी अर्थशास्त्र मनुष्य को एक अर्थलोलुप प्राणी मानकर चलता है। उसके सभी निर्णय आर्थिक दृष्टिकोण से होते हैं।..."वह अर्थोत्पादन की प्रेरणा से ही काम करता है।" दूसरी ओर मार्क्स और साम्यवादी व्यवस्था ने मनुष्य को मात्र रोटीमय बना दिया। इस प्रकार आधुनिक अर्थशास्त्र 'आर्थिक मनुष्य' (Economic Man) की अवधारणा मानकर चलता है। दीनदयाल जी के अनुसार इस आर्थिक चिंतन और उस पर आधारित अर्थव्यवस्था का यह परिणाम हुआ कि हाड़-मांस का वास्तविक मानव हमारी दृष्टि से ओझल ही हो गया है। इसलिए उन्होंने कहा कि, मनुष्य मन, बुद्धि, आत्मा और शरीर इन चारों का समुच्चय है। हम उसको टुकड़ों में बांटकर विचार नहीं करते। व्यक्ति के बारे में भी हमने एकात्म एवं संकलित विचार किया है। इस प्रकार समग्र-एकात्म विश्वदृष्टि एवं व्यक्ति की एकात्म-संकलित अवधारणा, इन दो मान्यताओं पर आधारित है दीनदयाल जी का अर्थचिंतन और इसलिए इसे एकात्म अर्थचिंतन कहा जा सकता है।

विकास का समग्र चिंतन

दीनदयाल जी कहा करते थे कि आज का पश्चिम-प्रेरित अर्थशास्त्र अर्थ-काम केन्द्रित अर्थचिंतन है। यह अधिकाधिक धनोत्पादन और अधिकाधिक उपभोग के एक वर्तुल चक्र में ही घूमता रहता है, अतः यह अधूरा एवं भोगवादी चिंतन है। उनका दृढ़ मत था कि जीवन के विभिन्न आदर्शों तथा देश-काल की विभिन्न परिस्थितियों के कारण हमारे आर्थिक विकास का मार्ग पश्चिम से भिन्न होना चाहिए। हम मार्शल और मार्क्स से बंधकर विचार नहीं कर सकते। हमें विकास एवं अर्थतन्त्र के एक ऐसे प्रारूप पर काम करना होगा, जिसमें मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि व आत्मा की आवश्यकता की पूर्ति और उसके सर्वांगीण विकास का अवसर मिल सके। इस दृष्टि से हमारे मनीषियों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के रूप में चतुर्विध पुरुषार्थ की कल्पना रखी है। हमें इस संकल्पना की आज की आवश्यकता एवं सन्दर्भ के अनुसार व्याख्या एवं क्रियान्वयन करना होगा। इसे थोड़ा विस्तार से समझाते हुए दीनदयाल जी ने कहा था कि 'अर्थ' के अंतर्गत आज की परिभाषा के अनुसार, राजनीति और अर्थनीति का समावेश होता है। 'काम' का सम्बन्ध मानव की विभिन्न कामनाओं की पूर्ति व तृप्ति से है। 'धर्म' में उन सभी नियमों, व्यवस्थाओं, आचरण संहिताओं तथा मूलभूत सिद्धांतों का अंतर्भाव होता है जिनसे अर्थ और काम की सिद्धि हो। इस प्रकार धर्म आधारभूत पुरुषार्थ है, किन्तु फिर भी तीनों अन्योन्याश्रित तथा परस्पर पूरक व परस्पर पोषक है। इतना तो सब मानने लगे हैं कि व्यापार-व्यवसाय अथवा धनार्जन के किसी भी क्रियाकलाप को सुचारू रूप से चलाने के लिए ईमानदारी, संयम, सत्य आदि धर्म के गुणों का पालन लाभदायक रहता है।

इसी बात को आगे बढ़ाते हुए दीनदयाल जी कहते हैं कि, अमेरिका वालों की दृष्टि में, 'ईमानदारी सर्वश्रेष्ठ व्यावसायिक नीति है।' (Honesty is the best business policy)। यूरोप वालों के अनुसार 'ईमानदारी सर्वश्रेष्ठ नीति है', (Honesty is the best policy) किन्तु भारत की परम्परा एक कदम आगे बढ़कर कहती है कि 'ईमानदारी नीति नहीं अपितु सिद्धांत है। (Honesty is not a policy but a principle)। यहीं भारत और संसार के अन्य देशों के चिंतन में अंतर आता है। हमने धर्म को उपयोगितावादी दृष्टिकोण के अनुसार धन कमाने के लिए मात्र साधन नहीं माना है, अपितु हमारे लिए वह एक आस्था व विश्वास है और हर परिस्थिति में अपनाने लायक आचरण-शैली है। मोक्ष को हमने परम पुरुषार्थ माना है, तो भी अकेले उससे मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता। वास्तव में तो हमने इन चारों पुरुषार्थों का भी संकलित विचार किया है। शेष तीन पुरुषार्थों को लोकसंग्रह के विचार से, निष्काम भाव से करने वाला व्यक्ति कर्मबंधन से छूटकर मोक्ष का अधिकारी होता है। इसी बात को इस रूप में कहा जा सकता है कि अर्थार्जन के समस्त क्रियाकलाप और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, उपभोग के कार्य, धर्म की मर्यादा के अनुसार इस प्रकार चलाये जाने चाहिए जिससे मनुष्य मोक्ष की दिशा में अग्रसर हो सके। इस प्रकार दीनदयाल जी के विचारों के अनुसार हमें एक ऐसी अर्थरचना एवं अर्थव्यवस्था को विकसित करना होगा, जिसमें धर्म और अर्थ, सदाचार और समृद्धि दोनों साथ-साथ चल सके।

न्यूनतम आवश्यकताएं

अधिक व्यावहारिक धरातल पर उतरते हुए दीनदयाल जी निर्देशित करते हैं कि प्रत्येक अर्थव्यवस्था में न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति की गारण्टी एवं व्यवस्था अवश्य रहनी चाहिए। न्यूनतम आवश्यकताओं में वे रोटी (संतुलित व पौष्टिक आहार), कपड़ा (ऋतु के अनुसार पर्याप्त मात्रा में), मकान (पीने का पानी एवं सेनिटेशन की सुविधाओं सहित) शिक्षा, स्वास्थ्य (समुचित चिकित्सा सुविधाओं समेत) एवं सुरक्षा को सम्मिलित करते हैं। शिक्षा के सम्बन्ध में दीनदयाल जी का मत था कि वह संस्कारप्रद तथा देश व समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप होनी चाहिए। उनके अनुसार देश के प्रत्येक बालक-बालिका को बिना किसी भेदभाव के शिक्षा देना समाज का दायित्व है। फीस लेकर शिक्षा देना उन्हें मान्य नहीं, अतः शिक्षा निःशुल्क होनी चाहिए। इस बात को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार पेड़ लगाने और सींचने के लिए हम पेड़ से पैसा नहीं लेते, बल्कि उस काम में पूंजी लगाते हैं, उसी प्रकार शिक्षा भी एक प्रकार का विनियोजन ही है। इसी प्रकार चिकित्सा भी निःशुल्क होनी चाहिए। शिक्षित एवं स्वस्थ व्यक्ति ही समाज के लिए अपनी पूर्ण क्षमता से अधिकतम योगदान दे सकता है। आज प्रश्न यह है कि दीनदयाल जी के इन विचारों को कैसे एवं कितनी मात्रा में व्यवहार में लागू किया जा सकता है। इस दिशा में पूरी गंभीरता से क्रियान्वयन की व्यापक योजना बननी चाहिए।

सबको काम एवं रोजगार

अब प्रश्न यह है कि इन न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक साधन-सामग्री तथा वस्तुएं व सेवाएँ कहाँ से और कैसे मिलेंगी? यह तभी संभव है जब देश के व्यक्ति पुरुषार्थ करें और सब सक्षम एवं स्वस्थ व्यक्ति को काम (रोजगार) मिले। दीनदयाल जी कहते हैं कि मानव को पेट और हाथ दोनों मिले हुए हैं। यदि हाथों को काम न मिले और पेट को खाना मिलता रहे तो भी मनुष्य सुखी नहीं रहेगा। अतः 'प्रत्येक को काम' अर्थव्यवस्था का आधारभूत लक्ष्य होना चाहिए। अर्थव्यवस्था में सब प्रकार की बेरोजगारी-अल्प बेरोज़गारी, अदृश्य बेरोज़गारी, मौसमी बेरोज़गारी समाप्त होकर देश के प्रत्येक स्वस्थ व क्षमतावान व्यक्ति को रोजगार के अवसर उपलब्ध होने चहिए। दीनदयाल जी ने स्पष्ट रूप से कहा था कि "प्रत्येक को वोट जैसे राजनीतिक प्रजातंत्र का निकष है, वैसे ही प्रत्येक को काम" यह आर्थिक प्रजातंत्र का मापदंड है। इस संबंध में वे आगे कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा काम मिलना चाहिए, जिससे उसका ठीक से जीविकोपार्जन हो सके, उसे अपना काम चुनने की स्वतंत्रता हो तथा उसे अपने काम के बदले न्यायोचित पारिश्रमिक मिले। इसके लिए रोजगार–केन्द्रित उत्पादन, निवेश एवं विकास–रणनीति बननी चाहिए। इस प्रकार दीनदयाल जी का जोर पूर्ण रोजगार अथवा हर हाथ को काम देने वाली अर्थव्यवस्था बनाने पर था।

उत्पादन तंत्र एवं दिशा

देश व समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति सतत विकास के लिए वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन होते रहना चाहिए। उत्पादन की पद्धति, प्रक्रिया, दृष्टि व दिशा के सम्बन्ध में दीनदयाल जी ने जो महत्वपूर्ण सुझाव दिए है, उनको जान लेना उपयोगी रहेगा।

(i) दीनदयाल जी के अनुसार पश्चिम का अर्थशास्त्र, उपभोग की सतत वर्तमान आकांक्षा व लालसा को पूरा करने के लिए अमर्यादित उत्पादन वृद्धि पर जोर देता है। इससे भी आगे बढ़कर पहले तरह-तरह की वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है और फिर उसे खपाने के लिए इच्छाएं पैदा करना और बाजार तलाशने का काम किया जाता है। इसके लिए तमाम उत्तेजक, मांग परिवर्तक एवं प्रतियोगी-भ्रमात्मक (manipulative and competitive) विज्ञापनों, आकर्षक पैकेजिंग तथा बिक्री-संवर्धन के विभिन्न तौर-तरीकों का प्रयोग किया जाता है। पुराना फेंकों और नया खरीदों। नया खरीदने की चाह उपभोक्ता में पैदा करना; मांग पूरी करना नहीं, बल्कि मांग पैदा करना, यही आज अर्थव्यवस्था का लक्ष्य हो गया है। दीनदयाल जी के अनुसार यह घातक, विनाशोन्मुख एवं संसाधनों की फिजूलखर्ची करने वाला अर्थशास्त्र एवं अर्थव्यवस्था है। इसे बदलकर आवश्यकताओं की समुचित पूर्ति के लिए संसाधनों की मितव्ययी उत्पादन-प्रक्रिया को अपनाया जाना चाहिए।

(ii) हमें उत्पादन में वृद्धि तो अवश्य करना है, पर ऐसा करते समय प्रकृति या प्राकृतिक संसाधनों की मर्यादा को न भूले। इसका अर्थ है कि हमें प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध प्रयोग कर प्रकृति के साथ उच्छृंखलता करने वाली उत्पादन पद्धति व तकनीक से बचना होगा तथा पुनरुत्पादनीय ऊर्जा स्रोतों के प्रयोग एवं पर्यावरण पोषक तक तकनीक पर अधिक ध्यान देना होगा। प्रकृति से हम उतना तथा इस प्रकार लें कि वह उस कमी को स्वयं पुनः पूरित कर ले।

(iii) दीनदयाल जी का आग्रह स्वदेशी, स्वावलंबी एवं विकेन्द्रित अर्थतन्त्र एवं उत्पादन तन्त्र अपनाने पर था। वे विचार, व्यवस्थापन, पूंजी, उत्पादन-तन्त्र, प्रगति की दिशा विकास प्रतिमान एवं उपभोगशैली के बारे में अत्यधिक विदेशी निर्भरता के विरुद्ध थे। वे स्वदेशी को प्रतिगामी एवं कालबाह्य संकल्पना मानने वालों के विचारों से कतई सहमत नहीं थे। उनका स्पष्ट मत था कि हमें अपना देश, अपनी परिस्थितियों के अनुकूल ही समाधान के मार्ग तलाशने होंगे। इस सम्बन्ध में उन्होंने संस्कृत के इस सुभाषित का उल्लेख किया है-'यद्देशस्य यो जन्तुः तद्देशस्य तस्यौषधम्' (जिस देश में जो पैदा होती है, वहीं उस देश की औषधि है)। हमें इस प्रकार के अर्थतन्त्र एवं उत्पादन-तन्त्र की रचना करनी होगी, जिसमें स्थानीय संसाधनों, स्थानीय कौशल और स्थानीय श्रम के आधार पर स्थानीय आवश्यकताओं की अधिकाधिक पूर्ति की जा सके। हमें विदेशी पूंजी, विदेशी तकनीक एवं विदेशी माल कम से कम और बहुत अनिवार्य होने पर ही प्रयोग करना चाहिए। अपना विकास अपने बलबूते करने की दिशा में ही आगे बढ़ना चाहिए, तभी हम स्वदेशी-स्वावलंबी अर्थतन्त्र खड़ा कर पाएंगे। यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या हम अपनी पुरानी तकनीक, उत्पादन-पद्धति से ही चिपके रहकर विदेशी पूंजी एवं विदेशी तकनीक को पूर्णतया नकार दे अथवा अन्धानुकरण कर पूर्णतया स्वीकार कर ले? इस सम्बन्ध में दीनदयाल जी ने एक व्यावहारिक मार्गदर्शन दिया है। उनके अनुसार जो अपना है, (अपनी पद्धति, कार्यशैली, तकनीक, जीवन-शैली आदि) उसे युगानुकूल बनाकर और जो पराया विदेशी है (विदेशी पद्धति, तकनीक आदि) उसे देशानुकूल बनाकर अपनाना चाहिए। अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधो एवं व्यापार की दृष्टि से भी हम बंद अर्थव्यवस्था बनकर नहीं रह सकते और न ही हम अमीर देशों एवं बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के परावलम्बी बनकर उन्हें शोषण का अवसर दे सकते हैं। इसके लिए हमें समान धरातल पर विश्व के विभिन्न देशों के साथ परस्परावलम्बी आर्थिक सम्बन्ध बनाने होंगे। दीनदयाल जी बड़ी-बड़ी उत्पादन इकाइयों एवं बड़े-बड़े उद्योगों के सहारे ही अर्थव्यवस्था चलाने के पक्षधर नहीं थे। इससे देश में केन्द्रीयकरण पनपता है, जो विषमता और बेरोजगारी को बढ़ाता है। अतः उनके अनुसार हमें व्यक्ति व परिवार आधारित, लघुयंत्राधिष्ठित आर्थिक विकेंद्रीकरण की प्रणाली विकसित करने पर जोर देना चाहिए और श्रम प्रधान विकेन्द्रित ग्रामोद्योगों को सुदृढ़ करना चाहिए।

हमें ऐसी उद्योग व्यवस्था कायम करनी है, जो कृषि के साथ सुसम्बद्ध हो सके तथा कृषि से भार कम कर सके तो उसके लिए बड़े उद्योगों के स्थान पर छोटे उद्योगों को प्राथमिकता देनी होगी। थोड़े लोगों तथा सरल औजारों के साथ छोटी-छोटी इकाइयां ही आज की परिस्थिति में हमारे लिए सर्वोत्तम है।

कृषि एवं उद्योग

दीनदयाल जी ने भारतीय अर्थव्यवस्था के संदर्भ के कृषि एवं उद्योग क्षेत्र के बारे में समय समय पर बहुत विस्तार से (विशेषकर भारतीय अर्थनीति-विकास को एक दिशा में) अपने विचार प्रकट किए हैं। वे कृषि क्षेत्र में प्रति एकड़ एवं प्रति व्यक्ति निम्न उत्पादकता स्तर से बहुत चिंतित थे और दोनों दृष्टियों से उत्पादकता स्तर में वृद्धि करने के बारे में उन्होंने अनेक सुझाव दिए थे। उनका मानना था कि कृषि विकास की दृष्टि से हमें प्राविधिक (technical) एवं संस्थागत (institutional) दोनों प्रकार के कार्यक्रम साथ-साथ चलाने होंगे, प्राविधिक दृष्टि से हमें आधुनिक कृषि तकनीक का समुचित मूल्यांकन करते हुए भारतीय परस्थितियों के अनुरूप कृषि पद्धति में सुधार करना होगा। इस दृष्टि से भूमि की उर्वरता को बनाएं रखने वाले खाद व बीज़, फ़सल की अदला-बदली, बुवाई व कटाई के तरीकों, कृषि यंत्रों के प्रयोग, भूक्षरण को रोकने जैसी कई बातों पर विशेष ध्यान देना होगा। दीनदयाल जी ने इस बात को भली भांति समझ लिया था कि खेती की पैदावार में वृद्धि करने के लिए सिंचाई सर्वाधिक महत्वपूर्ण इन्पुट है। हमारे देश की खेती अधिकांशतया मॉनसून की कृपा पर निर्भर करती है, जो अनियमित हैं और सब जगह और सब समय समान नहीं रहती। अतः उन्होंने 'अदेवमातृक कृषि' की संकल्पना प्रस्तुत की, जिसका अर्थ है कि हमें कृषि को मॉनसून या इंद्र देव की कृपा पर ही नहीं छोड़ना चाहिए। इस दृष्टि से वे पर्याप्त मात्रा में छोटी सिचाई योजनाओं, कुओं, तालाबों, बावड़ियों एवं जलबन्ध (चैक डैम्स) के विस्तार पर अधिक बल देने के पक्षधर थे। उनकी मंशा थी कि हम सिंचाई की ऐसी व्यापक एवं पक्की व्यवस्था कर दें, जिससे हर खेत को पानी पहुंचाया जा सके। संस्थागत कार्यों की दृष्टि से भूस्वामित्व, भूमि के उपविभाजन एवं अपखंडन को रोक कर आर्थिक जोत बनाएं रखने, सहकारी खेती, विपणन, भण्डारण, साख सुविधाओं, मूल्य निर्धारण की दृष्टि से भी समुचित व्यवस्थाएं करनी होगी।

दीनदयाल जी कृषि के साथ साथ औद्योगिक विकास के बारे में भी पूर्ण सचेत थे। उनका मानना था कि बढ़ती जनसंख्या का खेती पर से भार घटाने, कृषि में उत्पन्न कच्चे माल का उपयोग करने और कृषि को आवश्यक साधन सामग्री, यंत्र-औजार प्रदान करने, रोजगार के अवसरों में वृद्धि करने, देश की निर्यात क्षमता बढ़ाने, स्वावलंबन आदि कई दृष्टियों से औद्योगीकरण अत्यंत आवश्यक है। किन्तु वे कुछ विशेष क्षेत्रों एवं विशेष वस्तुओं के उत्पादन को छोड़कर, शेष सबके लिए बड़े उद्योगों के स्थान पर श्रम प्रधान छोटे उद्योगों के अधिक पक्षधर थे। उनके अनुसार, 'हमारे लिए उद्योगों की वही प्रणाली उपयुक्त है, जिसमें हम कुटुम्ब के आधार पर काम को जीवन का अंग बना कर चल सके। इस में मालिक-मजदूर, उत्पादक-उपभोक्ता, आदि के सम्बन्धों का ठीक-ठीक निर्धारण हो सकेगा। हम इन संबंधों का नियमन पश्चिम के मूल्यों से नहीं कर सकते। देश के व्यापक औद्योगीकरण में मानव संबंधों का निर्माण हमें अपने ही मूल्यों पर करना होगा'। उद्योगों के क्षेत्र में भी दीनदयाल जी ने 'अपरमात्रिक उद्योग नीति' की संकल्पना दी थी, इसका तात्पर्य स्वावलंबन से कुछ अधिक उत्पादन करने वाली उद्योग नीति से है, ताकि

शेष बचे अतिरेक को निर्यात करके अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। इस प्रकार दीनदयाल जी देश में ऐसा औद्योगिक ढांचा बनाना चाहते थे, जिसके द्वारा आवश्यक वस्तुओं के मामले में देश स्वावलंबी बन सकें और अंतरराष्ट्रीय गुणवत्ता स्तर की वस्तुओं का निर्यात करके देश के लिए आवश्यक वस्तुओं का आयात करने की क्षमता निर्माण कर सके। प्रो विश्वेश्वरैय्या को उद्धृत करते हुए दीनदयाल जी ने कहा था कि औद्योगिक नीति का विचार करते समय हमें सात बातों पर ध्यान देना चाहिए-

(i) मनुष्य (men) (ii) माल (material)

(iii) मुद्रा (money) (iv) मशीनरी (machinery)

(v) प्रबंध (management) (vi) शक्ति (motive power) और

(vii) बाज़ार (market)

वास्तव में ये सातों परस्पर निर्भर एवं परस्परपूरक है। अतः इनके बीच योग्य संतुलन बनाकर ही हम समुचित औद्योगिक विकास कर सकते है। उनके अनुसार, हमें मनुष्य के उत्पादन स्वातंत्र्य पर आघात करने वाली पूंजीवाद की तकनीकी प्रक्रिया को आंख बंद करके स्वीकार नहीं करना चाहिए। हमें शिल्पकार एवं स्वनियोजित क्षेत्र को नष्ट करने वाला औद्योगीकरण भी नहीं चाहिए। उनके औद्योगीकरण के सिद्धांत को संक्षेप में निम्नलिखित सूत्र से बताया जा सकता है-

ज x क x य = इ

यहाँ, ज = जन, क = कर्म की व्यवस्था, य = यंत्र, इ = समाज का इच्छित संकल्प आधुनिक औद्योगीकरण में 'य' (यंत्र) सबको नियंत्रित करता है। हमें इसके स्थान पर ऐसी अर्थव्यवस्था निर्माण करना है जो 'ज' (जन) और 'इ' (समाज का इच्छित संकल्प) के नियंत्रण में 'क' (कर्म की व्यवस्था) और 'य' (यंत्र) का नियोजन करे। इसी क्रम में दीनदयाल जी ने उत्पादन में मशीन के प्रयोग एवं चयन के बारे में भी अपने विचार प्रकट किए है। वे कहते हैं-"प्रौद्योगिकी का सम्बन्ध मशीन से हैं। हमें उनका चुनाव विचारपूर्वक करना पड़ेगा। हम अपने देश में उपलब्ध उत्पादन उपकरणों के साथ मेल खाने वाली मशीन का प्रयोग करें। श्रम और शक्ति, पूंजी और प्रबंध, माल और मांग ये सब मशीन के स्वरुप को निश्चित करने वाले होने चाहिए। किन्तु आज कुछ ऐसा हो रहा है कि हम मशीन को ध्रुव मान कर उसके अनुसार शेष सबको बदलने का विचार करते हैं। मशीन के लिए मनुष्य को बदलने पर विवश कर रहे है। सम्पूर्ण उत्पादन प्रणाली एक मशीन पर केन्द्रित हो गयी है। आज देश में जहाँ एक ओर मशीन के श्रद्धालु भक्त हैं तो दूसरी ओर कट्टर दुश्मन भी मौजूद है। वास्तव में मशीन न तो मनुष्य का शत्रु है न मित्र। मशीन एक साधन है तथा उसकी उपादेयता समाज की अनेक शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया पर निर्भर करती है। एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं-"मशीन देशकाल परिस्थिति निरपेक्ष नहीं, सापेक्ष है। विज्ञान की आधुनिकतम प्रगति की वह उपज है, किन्तु प्रतिनिधि नहीं। ज्ञान किसी देश-विदेश की बपौती नहीं, किन्तु उसका प्रयोग प्रत्येक देश अपनी परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार करता है।

हमारी मशीन हमारी आवश्यकताओं के अनुकूल ही चाहिए। वह हमारे सांस्कृतिक एवं राजनीतिक जीवन मूल्यों की पोषक नहीं तो कम-से-कम अविरोधी अवश्य होनी चाहिए"। मशीन और प्रौद्योगिकी के संबंध में इससे अधिक सटीक और व्यावहारिक चिंतन शायद ही कोई और हो सकता है।

दीनदयाल जी के अनुसार आर्थिक विकास एवं औद्योगीकरण के लिए पूंजी का प्रश्न सर्वाधिक महत्व का है। पूंजी व बचत जुटाने के लिए साधारणतया दो मार्ग बताए जाते है-राष्ट्रीय आय के असमान वितरण द्वारा बचत क्षमता में वृद्धि करना; और विदेशों से पूंजी का आयात करना। पर ये दोनों ही ठीक नहीं हैं। देश के सामान्य व्यक्ति की बचत क्षमता बढ़ाने के लिए उसकी आय में वृद्धि और उपभोग का संयम ही उचित मार्ग है। दीनदयाल जी का यह भी स्पष्ट मत था कि उद्योगों में पूंजीपति एवं बड़ी कंपनियों में शेयर होल्डर्स के साथ-साथ मजदूरों का भी स्वामित्व स्वीकार किया जाए और उन्हें लाभ एवं प्रबंध में भागीदार बनाया जाएं। ऐसा करने पर हड़ताल-तालाबंदी की समस्या समाप्त होकर औद्योगिक शान्ति स्थापित हो सकेगी, श्रमिक अपनी पूरी कार्य क्षमता से मन लगा कर काम करेंगे और वितरण की समानता की दिशा में भी आगे बढ़ सकेंगे।

अर्थदृष्टि एवं अर्थसंस्कृति

अर्थ एवं अर्थाजन के संबंध में भी दीनदयाल जी ने बहुत गहराई से चिंतन किया था। उनका मानना है कि मनुष्य एवं समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में धन का होना आवश्यक है। अनुभव यह है कि कई बार अर्थ के अभाव में व्यक्ति के मन में कुंठा, निराशा एवं आक्रोश पैदा हो जाता है और वह अनाचार, अत्याचार, चोरी-डकैती, लूट-खसोट एवं अन्य अनेक प्रकार के आर्थिक अपराधों में संलग्न हो जाता है। इसीलिए तो हमारे यहाँ कहा गया है कि----

बुभुक्षितः किं न करोति पापम्, क्षीणाः नराः निष्करूणाः भवन्ति।

(भूखा व्यक्ति कौन-सा पाप नहीं करता; भूख से पीड़ित कमजोर व्यक्ति निर्दयी हो जाते हैं)। इस प्रकार से अर्थ के अभाव में भी धर्म (अर्थात समाज हित के भले काम) टिक नहीं पाता। अर्थ के अभाव के समान ही अर्थ का प्रभाव भी समाज के लिए घातक हो सकता है। अर्थ के प्रभाव से आशय है-

(i) अर्थ के कारण स्वयं अर्थ में अथवा उसके द्वारा प्राप्त पदार्थों एवं भोग विलास में आसक्ति उत्पन्न हो जाना-केवल पैसे कमाने या संचय करने की धुन लग जाना

(ii) अर्थ का ही समाज के प्रत्येक व्यवहार और व्यक्ति की प्रतिष्ठा का मानदंड बन जाना 'सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति' की उक्ति के आधार पर ही दैनिक जीवन में व्यवहार प्रारंभ हो जाना, इससे लोगों के जीवन में धनपरायणता आ जाती है, परिणामस्वरुप प्रत्येक कार्य के लिए धन की अधिकाधिक आवश्यकता महसूस होने लगती है। अंततोगत्वा धन का प्रभाव प्रत्येक के जीवन में अर्थ का अभाव भी उत्पन्न कर देता है।

अतः अर्थ के अभाव एवं अर्थ के प्रभाव दोनों से बचना चाहिए। इसके लिए दीनदयाल जी ने अर्थायाम नाम से एक नई संकल्पना दी है। उनके अनुसार, "समाज से अर्थ के प्रभाव व अभाव दोनों को मिटाकर उसकी समुचित व्यवस्था करने को अर्थायाम कहा गया है"। एक अन्य दृष्टि से अर्थ के उत्पादन, वितरण व भोग में संतुलन को भी अर्थायाम कहा जा सकता है। जिस प्रकार से व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए प्राणायाम का महत्व है, उसी प्रकार अर्थव्यवस्था के स्वास्थ्य के लिए अर्थायाम का महत्व है। इसके लिए शिक्षा, संस्कार, दैवीसम्पदयुक्त व्यक्तियों का निर्माण तथा अर्थव्यवस्था का उपयुक्त ढांचा सभी का सहारा लेना जरुरी होता है।

दीनदयाल जी का मानना था कि अर्थव्यवस्था का निर्माण एवं संचालन मानवीय उद्देश्यों को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। पश्चिमी अर्थव्यवस्था में (पूंजीवादी एवं समाजवादी दोनों में) मौद्रिक मूल्य एवं धनार्जन को ही अत्यंत महत्व का स्थान प्राप्त है। इसीलिए उनका नीतिगत नारा है, "कमाने वाला खिलाएगा" दोनों प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं की दृष्टि तो समान है, अंतर केवल राष्ट्रीय आय वितरण में प्राप्त हिस्से को लेकर है। साम्यवादी अर्थव्यवस्था के अनुसार उत्पादन में मुख्य भूमिका श्रम की होती है, अतः देश के कुल उत्पादन व उपभोग में मुख्य हिस्सा भी श्रमिकों को ही मिलना चाहिए। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में मुख्य भूमिका पूंजी व उद्यम की होती है, अतः देश के कुल उत्पादन व उपभोग में मुख्य हिस्सा पूंजीपति व उद्यमी को मिलना चाहिए। किन्तु ये दोनों विचार आधे-अधूरे एवं अमानवीय है। अतः भारतीय चिंतन ने मानवीय दृष्टिकोण से अपने लिए जो दिशा-सूत्र (नारे) निश्चित किए हैं, वे हैं–"कमाने वाला खिलायेगा" तथा "जो जन्मा सो खायेगा"। इसका अर्थ है कि कमाने वाला परिवार में बच्चे, बूढ़े, रोगी, अपाहिज, अतिथि आदि सब के भरण-पोषण की चिंता करेगा और देश में अभावग्रस्त, निर्धन-निर्बल व्यक्ति के निर्वाह का भी समाज का दायित्व होगा, इसी में से आगे चलकर 'अन्त्योदय' के लिए आर्थिक नीति बनाने की दिशा सामने आयी। और अधिक विचार करने पर यह भी ध्यान आया कि यदि कमाने वाला खिलाएगा और जन्मा सो खाएगा, इतना ही कहकर छोड़ दिया तो इससे मुफ्तखोरी और काम न करने की प्रवृति पनपने का खतरा हो सकता है, अतः इस नारे के साथ 'खाने वाला कमाएगा' भी जोड़ा गया। इस समूचे विचार को ध्यान में रखकर ही हमें भारत की अर्थरचना करनी होगी। इसी में से रोजगार-परक उत्पादन प्रणाली का ढांचा खड़ा होगा। दीनदयाल जी का कहना था कि हमें आर्थिक प्रश्नों पर विचार करते समय नैतिकता एवं आर्थिकेतर कारकों का भी विचार करना चाहिए।

दीनदयाल जी ने अपनी दूरदृष्टि से इस बात को भी भली प्रकार समझ लिया था कि हमारी अर्थव्यवस्था का उद्देश्य असीम भोग नहीं, संयमित उपभोग ही होना चाहिए। अब यह स्पष्ट हो चुका है कि आज हम उपभोक्तावाद पर आधारित उपभोग की जिस शैली एवं तौर-तरीकों को अपनाते जा रहे हैं, उसका पर्यावरण एवं सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से लम्बे समय तक टिक पाना संभव नहीं लगता। इतना ही नहीं, यह सबके लिए धारणक्षम मानव विकास की संभावनाओं को ही कमजोर किये जा रही है। यह

इस विश्वास को इंगित करता है कि सीमित-संयमित धारणक्षम व्यवहारक्षम उपयोगशैली एवं जीवनशैली अपनाकर ही धारणक्षम मंगलकारी विकास के उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है। इसके अलावा, दीनदयाल जी का एक और महत्वपूर्ण दिशा-संकेत यह भी है कि समाज को सुखी एवं संतुष्ट रखना हो तो ग्राहकाभिमुख वितरण व्यवस्था और पर्याप्त मात्रा में वितरणाभिमुख उत्पादन होना चाहिए।

दीनदयाल जी 'द्रव्य आस्तिकता' के दोष से अर्थव्यवस्था एवं आर्थिक योजनाओं को बचाएं रखने पर जोर देते थे। ''द्रव्य आस्तिकता' से आशय है, केवल अधिक पैसा खर्च करने से अधिक प्रगति होती है, यह विश्वास और उसी दृष्टि से किया जाने वाला द्रव्य का मापतौल।

इतना ही नहीं, केन्ज का यह विचार कि मंदी व बेरोजगारी दूर करने के लिए सरकारी निवेश, खर्च में वृद्धि व घाटे का बजट बनना चाहिए, दीनदयाल जी को यह कतई मान्य नहीं था। उनका कहना था कि हमें यह भी देखना होगा कि सरकारी निवेश व खर्च किन कामों पर हो रहा है। इस दृष्टि से साध्य-साधन विवेक का भी ध्यान रखना होगा। वे एक ऐसी अर्थरचना के पक्षधर थे, जिसमें कार्य की मूल प्रेरणा अनियंत्रित प्रतियोगिता अथवा लाभ की वृत्ति न होकर 'कर्तव्य सुख' हो। व्यक्ति को दिया जाने वाला पारिश्रमिक उसके द्वारा किए गए श्रम का प्रतिदान नहीं, वरन् उसके योगक्षेम की व्यवस्था मानी जाए। इसके लिए अर्थचक्र को समाजशास्त्र एवं धर्मशास्त्र (नीतिशास्त्र) के अनुकूल नियोजित करना आवश्यक है। कुल मिलाकर, वे उपभोक्तावाद, स्पर्धावाद, वर्ग संघर्ष पर आधारित अर्थरचना को ठीक नहीं मानते। उनके अनुसार मनुष्य की प्राकृत भावनाओं का संस्कार करके उसमें प्रकृति की मर्यादा के प्रकाश में अधिकाधिक उत्पादन, समान वितरण एवं संयमित उपभोग की प्रवृति पैदा करना ही आर्थिक क्षेत्र में सांस्कृतिक कार्य है। वे देश व समाज को अर्थ विकृति से हटाकर अर्थ संस्कृति की दिशा में ले जाना चाहते थे। आज पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में व्यक्ति या तो मात्र अर्थपरायण बनकर रह गया है या फिर अपने निजी व्यक्तित्व को नष्ट कर वह एक नंबर बनता जा रहा है। दूसरी ओर साम्यवादी अर्थव्यवस्था में व्यक्ति की अपनी रुचि, प्रकृति, प्रवृति, प्रेरणा व पहल को समाप्त कर उसे जेल के एक कैदी के समान बना दिया गया है। इस प्रकार दोनों ही व्यवस्थाओं में व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को खोता जा रहा है। अतः हमें ऐसी अर्थरचना बनानी होगी, जिसमें व्यक्ति को गरिमापूर्ण स्थान मिले और वह पुरुषार्थशील बनकर राष्ट्र के सार्वजनीय मंगल में अपनी पूर्णक्षमता के साथ योगदान कर सके। दीनदयाल जी के शब्दों में "विश्व का ज्ञान और आज तक की अपनी सम्पूर्ण परंपरा के आधार पर हम ऐसा भारत निर्माण करेंगे जो हमारे पूर्वजों के भारत से अधिक गौरवशाली होगा। जिसमें जन्मा मानव अपने व्यक्तित्व का विकास करता हुआ सम्पूर्ण मानव ही नहीं अपितु सृष्टि के साथ एकात्म का साक्षात्कार कर 'नर से नारायण' बनने में समर्थ हो सकेगा।

❖❖❖

पं. दीनदयाल उपाध्याय जन्मशती एकात्म मानवदर्शन, पंचदश आलेख

संगोष्ठी, गुवाहाटी, असम – 30 जुलाई, 2017

विषयः वर्तमान संदर्भ में भू–सांकृतिक राष्ट्रवाद

संगोष्ठी, हरियाणा भवन, मंडी हाउस, नई दिल्ली – 10 अगस्त, 2017

विषयः राष्ट्रीय सुरक्षा की गारंटी है सांकृतिक राष्ट्रवाद : एकात्म मानवदर्शन के संदर्भ में

संगोष्ठी, इंदौर, मध्य प्रदेश – 14-15 अगस्त, 2017

विषयः भू-सांकृतिक राष्ट्रवाद बनाम द्विराष्ट्रवाद

संगोष्ठी, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, हरियाणा – 23 अगस्त, 2017

विषयः भू–सांकृतिक राष्ट्रवाद

संगोष्ठी, अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद, छात्र नेता सम्मेलन, विज्ञान भवन, नई दिल्ली – 11 सितंबर, 2017 विषयः युवा भारत–नया भारत : एकात्म मानवदर्शन के संदर्भ में

राष्ट्रीय संगोष्ठी, RIS इंडिया हैबीटेट सेंटर नई दिल्ली – 23 सितंबर, 2017

विषयः सतत् विकास लक्ष्य और एकात्म मानवदर्शन पर राष्ट्रीय संगोष्ठी

राष्ट्रीय संगोष्ठी विज्ञान भवन, नई दिल्ली – 24 सितंबर, 2017

विषयः सतत् विकास लक्ष्य और एकात्म मानवदर्शन पर राष्ट्रीय संगोष्ठी

संगोष्ठी, उत्तरांचल उत्थान परिषद, हल्द्वानी – 24 सितंबर, 2017

विषयः एकात्म मानवदर्शन एवं समग्र विकास हेतु दिशाबोध

भारत गीतमाला, इंदिरा गांधी स्टेडियम, दिल्ली – 25 सितंबर, 2017

विषयः भारत गीतमाला : एकात्म मानवदर्शन के संदर्भ में

राष्ट्रीय संगोष्ठी, नागपुर – 6–7–8 अक्टूबर, 2017

विषयः निरंतर विकास में पारंपरिक कारीगरों की भूमिका : एकात्म मानवदर्शन के संदर्भ में

राष्ट्रीय संगोष्ठी, नागपुर – 6–7–8 अक्टूबर, 2017

विषयः निरंतर विकास में पारंपरिक कारीगरों की भूमिका : एकात्म मानवदर्शन के संदर्भ में

संगोष्ठी, दीनदयाल स्मृति व्याख्यान 2017, अजमेर, राजस्थान – 18 नवंबर 2017

विषयः वर्तमान संदर्भ में भू–सांकृतिक राष्ट्रवाद

संगोष्ठी, दीनदयाल स्मृति व्याख्यान 2017, जयपुर, राजस्थान – 14 दिसम्बर 2017
विषयः एकात्म मानवदर्शन की प्रासंगिकता

संगोष्ठी, कोलकाता, पश्चिम बंगाल –24 जनवरी 2018

विषयः एकात्म मानवदर्शन की प्रासंगिकता

संगोष्ठी, विजयवाड़ा – 26 मार्च 2018

विषयः आज के संदर्भ में एकात्म मानवदर्शन की प्रासंगिकता

संगोष्ठी, विजयवाड़ा – 26 मार्च 2018

विषयः आज के संदर्भ में एकात्म मानवदर्शन की प्रासंगिकता

दीनदयाल शोध संस्थान

महान दार्शनिक व विचारक पंडित दीनदयाल उपाध्याय के एकात्म मानवदर्शन को व्यवहारिक धरातल पर उतारने के लिए उनके सहयोगी व सखा नानाजी देशमुख ने सामाजिक-आर्थिक पुनर्रचना की प्रयोगशाला के तौर पर 1968 में दीनदयाल शोध संस्थान की स्थापना की थी. संस्थान ने इस देशज दर्शन के विभिन्न पहलुओं को ही आम लोगों के बीच प्रस्तुत नहीं किया, बल्कि समग्र ग्रामीण विकास के ऐसे प्रतिमान भी स्थापित किए जो इस दर्शन की सार्थकता को सिद्ध भी करते हैं.

राष्ट्रऋषि नानाजी ने एकात्म मानवदर्शन को आधार बनाकर 1978 में गोंडा में संस्थान के ग्राम विकास कार्यों की नींव रखी. विकास के इस यज्ञ में उन्होंने स्थानीय जनता की पहल और उसकी भागीदारी की आहुति मांगी. स्थानीय संसाधनों को उसकी सामग्री बनाया. जनता की भागीदारी से उत्साहित होकर उन्होंने महाराष्ट्र के बीड का रुख किया, और अंत में भगवान राम की वनस्थली चित्रकूट को अपनी कर्मभूमि बनाया.

संस्थान के कार्यकर्ता चित्रकूट की 50 किलोमीटर की परिधि के 512 आबादियों में पहुंच गए. उन्हीं गांवों को उन्होंने अपना घर बना लिया. और अपने त्याग पूर्ण आचरण से गांव वालों के हृदय में घर कर लिया. गांवों की समस्याओं को जाना. उनकी आवश्यकताओं को समझा. उनसे ही उनके समाधान भी बूझे. उन्हें पहल करने के लिए प्रेरित किया. उनमें भागीदारी का मंत्र फूंका. इस मंत्र ने जादू किया. गांव के गांव दीनदयाल शोध संस्थान के साथ जुड़ने लगे.

डी आर आई ने अपने सामने पांच शून्य हासिल करने का निर्णय लिया –

- शून्य निरक्षरता
- शून्य बेरोजगारी
- शून्य बीमारी
- शून्य गरीबी
- शून्य विवाद

इन पांचों शून्यों को हासिल करने के लिए संस्थान ने ढांचागत सुविधाओं का निर्माण करना शुरू किया. साक्षरता के लिए विभिन्न स्तर पर सभी वर्गोंके लिए विद्यालय, स्वरोजगार प्रशिक्षण के लिए उद्यमिता विद्यापीठ, जीवनविज्ञान विकसित करने के लिए आरोग्य धाम, गरीबी से निपटने के लिए ग्राम संकुलों में स्वावलंबन केंद्र और सामाजिक जागरूकता पैदा करने के लिए रामदर्शन का निर्माण, ये सारी ढांचागत आवश्यकताएं पूरी करने के लिए संस्थान ने देश भर के विशेषज्ञों की सेवाएं ली. गांववालों के पारंपरिक देशजज्ञान का भरपूर उपयोग किया. और प्रशिक्षण देने के लिए अपने कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित किया. स्थानीय संसाधनों के समुचित वन्यायोचित दोहन के लिए स्थानीय निवासियों के कौशल को विकसित करने के लिए ऐसे पाठ्यक्रम तैयार किए गए जिन्हें वे सरलता से पचा पाते हों.

Supported by Ministry of Culture

दीनदयाल शोध संस्थान
7-ई, स्वामी रामतीर्थ नगर, झंडेवाला एक्सटेंशन,
नई दिल्ली - 110055, दूरभाष : 011-23526735
Email : dridelhi@dri.org.in, Website : www.dri.org.in